बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी०
की उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-२२१००५

प्रकाशन-वर्ष : सन् १९८४
वीर निर्वाण संवत् २५१०

संस्करण : प्रथम

प्राप्ति-स्थान :
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी-२२१००५

मूल्य :
पचास रुपये

मुद्रक :
कमल प्रिंटिंग प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

प्रकाशकीय

'जैन दर्शन में आत्म-विचार' नामक प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के कर-कमलों में समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत पुस्तक डॉ० लालचन्द जैन के उपर्युक्त विषय पर लिखे गये शोध-प्रबन्ध का ही परिष्कारित रूप है, जिस पर उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के द्वारा सन् १९७७ में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई थी। डॉ० लालचन्द जैन अपने स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोधकार्य के दौरान पार्श्वनाथ विद्याश्रम से निकट रूप से सम्बन्धित रहे हैं, अतः उनकी ज्ञान-साधना के प्रतिफल को प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। भारतीय चिन्तन मूलतः आत्मा की खोज का प्रयत्न ही है। उसने कोऽहं से लेकर सोऽहं तक जो यात्रा की है, वह दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज विज्ञान के युग में मनुष्य पदार्थ के बारे में तो बहुत कुछ जान पाया है, किन्तु वह अपने स्वरूप से अनभिज्ञ है, अतः जब तक मनुष्य अपने आपको नहीं पहचानेगा, तब तक उसका सारा बाह्य ज्ञान अर्थहीन है। 'अपने को जानो' (Know thyself) यह एक प्रमुख उक्ति है। प्रस्तुत कृति में लेखक ने न केवल जैनदर्शन की आत्मा सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट किया है, अपितु उसने अन्य दर्शनों के साथ उसकी तुलना भी की है तथा आत्मा सम्बन्धी विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों का दृष्टिकोण कितना संगतिपूर्ण और व्यावहारिक है। प्रस्तुत कृति का वास्तविक मूल्यांकन तो पाठक स्वयं इसके अध्ययन के द्वारा ही करेंगे, अतः इस सन्दर्भ में हमारा अधिक कुछ कहना उचित नहीं होगा।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन हेतु भाई श्री नृपराज जी के द्वारा अपने पूज्य पिता श्री शादीलाल जी जैन की पुण्य-स्मृति में लायनपेन्सिल्स से जो अर्थ-सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिये हम उनके एवं उनके परिवार के सभी सदस्यों के आभारी हैं। हम लेखक के भी आभारी हैं, जिसने यह कृति प्रकाशन हेतु बिना किसी प्रतिदान की अपेक्षा किये संस्था को समर्पित की। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन तथा उनके सहयोगी डॉ० रविशंकर मिश्र एवं डॉ० अरुणप्रताप सिंह के भी हम आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तक के

संपादन, प्रूफ-रीडिंग एवं मुद्रण आदि कार्यों के दायित्व का निर्वाह किया। अन्त में हम कमल प्रिंटिंग प्रेस के भी आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तक के मुद्रण-कार्य को सुरुचिपूर्ण ढंग से पूर्ण किया है।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मन्त्री
श्री सोहनलाल जैन विद्या प्रसारक समिति,
फरीदाबाद

पार्श्वनाथ विद्याश्रम के अनन्य हितेच्छु, समाजसेवी,
बम्बई के भू० पू० शेरिफ
स्व० लाला श्री शादीलाल जैन
को
सादर समर्पित

आमुख

दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में भारत अग्रणी रहा है। वेद, उपनिषद् एवं आस्तिक-नास्तिक दर्शनों के विविध निकायों के उद्भव में उसकी इस चिन्तन-शीलता को देखा जा सकता है। कठोपनिषद् में श्रेय और प्रेय मार्ग की विवेचना मिलती है। श्रेय का मार्ग आध्यात्मिक साधना का मार्ग है और प्रेय का मार्ग जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति का मार्ग है। इन्हीं दो चिन्तन-धाराओं के आधार पर प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों का विकास हुआ। निवृत्तिमार्ग की यह धारा भी हमें बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी के सम्वाद में परिलक्षित होती है।

जैन धर्म का विकास भी इसी निवृत्तिमार्गी विचारधारा पर हुआ है। जैन दार्शनिक साहित्य में आत्मा के स्वरूप, उसके बन्धन के कारण और मुक्ति के उपायों के सम्बन्ध में गहन विवेचना उपलब्ध होती है। डा० लालचन्द्र जैन के 'जैन दर्शन में आत्म-विचार' नामक इस ग्रन्थ में भारतीय दार्शनिकों के आत्म-तत्त्व सम्बन्धी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन के आत्म-सम्बन्धी विचार को प्रस्तुत किया गया है। डा० जैन ने क्रमपूर्वक और गहराई से विषय का जो विवेचन किया है, वह प्रशंसनीय है। उन्होंने जैन-दर्शन-सम्मत आत्मा के स्वरूप के विवेचन के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों की मान्यताओं का पूर्वपक्ष के रूप में प्रतिपादन कर फिर जैन दर्शन के आत्मतत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार ग्रन्थ में आत्मतत्त्व के विवेचन को लेकर प्राचीन पारम्परिक शैली का निर्वाह किया गया है, यह उनकी शैलीगत विशेषता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने विभिन्न भारतीय दर्शनों के आत्मा-सम्बन्धी विचारों का प्रस्तुतीकरण प्रामाणिकतापूर्वक किया है। जिससे हमें संक्षेप में सभी भारतीय दर्शनों की आत्मा-सम्बन्धी अवधारणाओं का ज्ञान हो जाता है। दूसरा अध्याय आत्मा के स्वरूप-विमर्श से सम्बन्धित है। इसमें उन्होंने पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा के स्व लक्षणों एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि गुणों का जो विवेचन किया है, वह समग्र भारतीय दर्शनों की मूलभित्ति सिद्ध होता है। मेरी दृष्टि में सभी भारतीय दर्शन चाहे वे आस्तिक दर्शन हों या नास्तिक दर्शन—अपने आत्म-सम्बन्धी विचारों को लेकर उपनिषदों से प्रभावित रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के आत्मा और कर्मविपाक नामक तृतीय अध्याय में कर्म के स्वरूप एवं प्रकारों का वर्णन बहुत ही विस्तार के साथ हुआ है।

इसमें भी तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया है। चाहे कर्मों की अवस्थाएँ और उनके भेदों को लेकर भारतीय दर्शनों में कुछ मतभेद रहा हो किन्तु कर्म सिद्धान्त की स्वीकृति में वे सब एकमत हैं। बन्धन और मोक्ष नामक चतुर्थ अध्याय में बन्धन के कारण और उसके स्वरूप का बहुत ही प्रामाणिकतापूर्वक विवेचन किया गया है और अन्त में मोक्षमार्ग के रूप में सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विवेचन भी महत्वपूर्ण है, जो लेखक की विद्वता को प्रतिबिम्बित करता है। यद्यपि जैन दर्शन से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ हिन्दी भाषा में उपलब्ध हैं, फिर भी आत्मतत्त्व-सम्बन्धी जितना विस्तृत और गंभीर विवेचन हमें इस ग्रन्थ में मिल जाता है, उतना अन्यत्र नहीं उपलब्ध होता है। लेखक ने स्थान-स्थान पर संस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रमाण उद्धृत करके ग्रन्थ की प्रामाणिकता को बढ़ा दिया है। मेरा विश्वास है कि हिन्दी के दार्शनिक साहित्य में इस ग्रन्थ को समुचित स्थान प्राप्त होगा और न केवल जैन दर्शन के अध्येता अपितु भारतीय दर्शन के अध्येता भी आत्म-तत्त्व की विवेचना के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे।

न० शं० सु० रामन
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-५

वाराणसी
२४।३।१९८४

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

पहला अध्याय

भूमिका : भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व

(क) भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व सम्बन्धी चिन्तन की मुख्यता :

आत्म-तत्त्व भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु रहा है। यहाँ हम इस बात का विचार करेंगे कि भारतीय आत्म-सम्बन्धी चिन्तन की प्रधान प्रेरणा और उसकी प्रकृति क्या है? भारत में आत्म-चिन्तन की प्रधानता रही किन्तु ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य संस्कृतियों में आत्मा के स्वरूप पर विचार नहीं हुआ। आत्मा के सम्बन्ध में विचार विश्व की दूसरी संस्कृतियों में भी हुआ और किसी-न-किसी रूप में आज भी हो रहा है। किन्तु इतर दर्शनों में आत्म-चिन्तन की समस्या उतनी प्रधान नहीं रही। उदाहरण के लिए हम पाश्चात्य दर्शन को ले सकते हैं। प्लेटो के दर्शन में प्रत्यय-जगत् की प्रधानता है। वहाँ श्रेयस्-प्रत्यय (Idea of the Good) का स्थान सर्वोपरि है। इसी प्रकार एरिस्टाटल (अरस्तू) के दर्शन में आकार (Form) और द्रव्य तत्त्व (Matter) तथा गतिहीन गतिदाता ईश्वर, जो विश्व-प्रक्रिया का लक्ष्यभूत कारण भी है, प्रधान तत्त्व दिखाई देते हैं। देकार्त और स्पिनोजा के दर्शनों में भी द्रव्य की धारणा प्रधान है। ईसाई-दर्शन आत्मा को अजर-अमर नहीं मानता, वहाँ ईश्वर-तत्त्व प्रधान है। ईश्वर ही आत्माओं का स्रष्टा है। इसी प्रकार हेगेल और ब्रेडले के दर्शनों में निरपेक्ष प्रत्यय-तत्त्व या परब्रह्म प्रमुख धारणाएँ हैं। इस दृष्टि से भारतीय आत्मवाद की कतिपय निजी विशेषताएँ हैं जो, उदाहरण के लिए यूरोपीय दर्शन में, उस रूप में नहीं पाई जातीं। हमारा यह वक्तव्य क्रमशः समझा और समझाया जा सकेगा। संक्षेप में कहें तो भारतीय दर्शन का आत्म-चिन्तन उसके मोक्षवाद से घनिष्ठ रूप में सम्बन्वित है। इसका क्या अभिप्राय है? आत्मा की कल्पना और उसके स्वरूप का विचार कई दृष्टियों से किया जा सकता है। ये समस्त दृष्टियाँ मानव-जीवन की व्याख्या के प्रयत्न में जन्म लेती हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य ज्ञाता है, इसलिए आत्मा में ज्ञान-शक्ति का आरोप किया जाता है। हम कहते हैं कि आत्मा चेतन या चैतन्य रूप है। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त ने आत्मा का प्रधान व्यावर्तक गुण चिन्तन शक्ति या सोचना माना था। इसके विपरीत भौतिक द्रव्य का व्यावर्तक गुण है विस्तार

(Extension) अथवा देशगतता या देशरूपता। इस दृष्टि से आत्मा को देशगत नहीं कहा जा सकता। देकार्त को यह सिद्ध करना पड़ता है कि हमारी समस्त मनोदशाएँ चिन्तन का ही रूप हैं। इसके विपरीत यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने आत्मा में तीन विभाग या शक्तियां मानी थीं—अर्थात् मूल क्षुधाएँ (Appetitions), आवेग (Emotion) तथा बुद्धि (Reason)। सम्भवतः प्लेटो आत्मा के बुद्धि अंश को अमर मानता था। देखने की बात यह है कि प्लेटो और देकार्त दोनों ही आत्मा की धारणा हमारे सांसारिक जीवन के आधार पर बनाते हैं। किन्तु भारतीय दर्शन प्रायः जीव और आत्मा में भेद करते हैं। उन्होंने आत्मा के स्वरूप पर मुख्यतया मोक्ष की दृष्टि से विचार किया है। सांसारिक जीवन से संपृक्त और शरीर से सम्बद्ध चैतन्य को, जिसमें तरह-तरह की क्षुधाएँ हैं, वे मुख्यतः हिन्दू दर्शन में जीव नाम से पुकारते हैं।

मोक्ष की दृष्टि से यहाँ का आत्म-सम्बन्धी चिन्तन कतिपय विशेष निष्कर्षों पर पहुँचता दिखाई पड़ता है। पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए आत्मा की अमरता मानना आवश्यक और पर्याप्त है। किन्तु मोक्ष की कल्पना यह आवश्यक बना देती है कि आत्मा को अपने मूल रूप में विशुद्ध अर्थात् सुख-दुःख आदि मनोदशाओं से विरहित तत्त्व माना जाय। हम देखेंगे कि प्रायः सभी दर्शन किसी-न-किसी रूप में उक्त मान्यताओं को स्थान देते हैं। अनात्मवादी चार्वाक दर्शन तथा पंचस्कन्धवादी बौद्ध दर्शन ही इसके अपवाद हैं।

भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व प्रधान बन गया, इसके दो मुख्य कारण थे, पहला कारण तो यह था कि बहुत प्रारम्भ में कर्म-सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म की धारणाएँ भारतीय मनीषा में प्रतिष्ठित हो गयीं, दूसरे यहाँ उपनिषद् काल में ही मोक्षवाद की मान्यता सर्वस्वीकृत सी बन गयी। पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने आत्मा की अमरता के विश्वास को जन्म दिया, मोक्षवाद ने आत्मा के निज-स्वरूप की अवधारणा को, जैसा कि हम देखेंगे, क्रान्तिकारी रूप दिया।

आत्म-तत्त्व की प्रधानता का तीसरा कारण श्रमण धर्मों का उदय और प्रसार था। जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही सृष्टिकर्ता ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, फलतः उनके दर्शनों में आत्मा या जीव-तत्त्व के विश्लेषण का महत्त्व बढ़ गया। श्रमण धर्म-दर्शन ने मोक्ष की अवस्था को जीवात्मा के निज-स्वभाव से सम्बद्ध किया, यही विचार उपनिषदों में भी प्रकट हुआ। फलतः मोक्षवाद की दृष्टि से, आत्म-तत्त्व का स्वरूपान्वेषण महत्त्व की चीज बन गया।

(ख) ऋग्वेद तथा उपनिषदों में आत्मा विषयक विचारों की आलोचनात्मक दृष्टि :

आत्मा विषयक चिन्तन का प्रारम्भ कब और कहाँ से हुआ, इसके सम्बन्ध

में कोई भी निश्चयात्मक कथन करना कठिन है। भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। उक्त वेद की अभिरुचि का मुख्य केन्द्र इन्द्र, वरुण, मित्र, वायु, रुद्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु, उषा, अग्नि, पूषन्, सोम आदि देवता हैं। जिनकी स्तुति-उपासना से मृत्यलोकवासी मनुष्य अभिलषित वस्तुओं —सम्पत्ति, सन्तति, शत्रुओं पर विजय, लम्बी उम्र आदि प्राप्त कर सकते हैं।[1] जिस आत्मा की विस्तृत चर्चा उपनिषदों में मिलती है उसका उल्लेख ऋग्वेद में प्रायः नहीं है। वहाँ व्यक्ति के भीतर वर्तमान जीवन-तत्त्व को आत्मन्, जीव, प्राण, मनस्, असु, श्वांस आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।[2] उपनिषदों में आत्मा की कल्पना विविध रूपों में देखी जाती है और उसके अस्तित्व की सिद्धि और स्वरूप के निरूपण का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि ऋग्वेद में आत्मा सम्बन्धी चिन्तन विरल है फिर भी यह कल्पना पाई जाती है कि शरीरादि से भिन्न सार तत्त्व है जो उसका नियंत्रक या कर्ता है।

उपनिषदों में आत्मा विषयक जो विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है, उससे दो महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश पड़ता है। एक तो यह कि उपनिषद् काल के पूर्व ही आत्मा विषयक चिन्तन विद्यमान था, जिसके पुरस्कर्ता क्षत्रिय थे। दूसरे उपनिषदों का आत्मा विषयक चिन्तन परम्परा प्राप्त ऋग्वेदिक चिन्तन से भिन्न था। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है "आत्मा, पुनर्जन्म, अरण्य, संन्यास, तप और मुक्ति ये सारे तत्त्व परस्पर में सम्बद्ध हैं। आत्म-विद्या का एक छोर पुनर्जन्म है और दूसरा छोर मुक्ति है। संन्यास लेकर अरण्य में तप करना पुनर्जन्म से मुक्ति का उपाय है, ये सब तत्त्व वैदिकेतर संस्कृति से वैदिक संस्कृति में प्रविष्ट हुए हैं। इसलिए विद्वानों का कहना है कि अवैदिक तत्त्वों का प्रभाव केवल देश में विचारों के विकास के लिए एक नये प्रकार के दृश्य से परिचय में परिलक्षित नहीं होता किन्तु सत्य तक पहुँचने के लिए उपायों के परिवर्तन में परिलक्षित होता है"।[3] इस प्रसंग में उपनिषदों के निम्नलिखित सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं :

(१) कठोपनिषद् के नचिकेतोपाख्यान में उल्लेख किया गया है कि वाजश्रवस्

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य 'वैदिक धर्म एवं दर्शन' (ए० बी० कीथ), प्रथम भाग

२. ऋग्वेद, ३।१४।३, २१।१६४।४।
और भी देखें—मेक्समूलर : इंडियन फिलासफी, खण्ड १, पृ० ७०

३. भारतीय दर्शन : डा० राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ३२

के पुत्र नचिकेता के द्वारा आत्म-तत्त्व जानने की इच्छा प्रकट[1] करने पर यम संसार की अनन्त विभूतियों को देकर उसे आत्मा सम्बन्धी प्रश्न से विरत करना चाहता है[2] और नचिकेता को बताता है कि इस विषय में देवताओं को भी जिज्ञासा हुई थी। वे भी इसे नहीं जान सके हैं।[3] नचिकेता यम द्वारा प्रदत्त समस्त सांसारिक सम्पत्तियों को ठुकरा देता है और आत्मा को जानने की उसकी जिज्ञासा और भी प्रबल हो जाती है।[4] अन्त में यम को आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन करना पड़ता है।[5]

(२) बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य का लम्बा उपाख्यान आया है। उसका संक्षिप्तसार यह है कि मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है कि जिन सांसारिक विभूतियों से मैं अमृत नहीं होती, उन्हें लेकर मैं क्या करूँ? जिससे अमृत बन सकूँ उसी का उपदेश दीजिए[6]। अन्त में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मा सम्बन्धी उपदेश देता है कि आत्मा ही दर्शनीय है, श्रवणीय है, मननीय और ध्यान करने योग्य है[7]।

---

१. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ कठोपनिषद्, १।२०

२. शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥
एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः॥
—वही, १।२३-२५

३. देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।—वही, १।२१

४. देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥
—वही, १।२२। और भी देखें १।२६-२९

५. वही, २।१८

६. बृहदारण्यकोपनिषद्० २।४।१-३

७. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।—वही, २।४।५

(३) छान्दोग्योपनिषद् में भी यह उपदेश उपलब्ध है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि आत्म-तत्त्व ही एक ऐसा तत्त्व है जिसके ज्ञान के बिना समस्त ज्ञान एवं विद्याएँ व्यर्थ हो जाती हैं। नारद सनत्कुमार से कहता है कि मैं (नारद) चारों वेद, इतिहास, पुराण, गणित—और सर्पादि विद्याओं का ज्ञाता हूँ, फिर भी मैं शोकाकुल हूँ, क्योंकि मैं आत्म-तत्त्व को नहीं जानता हूँ। शोक से मुक्त होने के लिए वह सनत्कुमार से प्रार्थना करता है। सनत्कुमार आत्म-स्वरूप का उपदेश देकर उसे शोकरहित कर देता है[2]।

(४) एक अन्य प्रसंग में बताया गया है कि अरुण का पुत्र श्वेतकेतु एक बार पंचाल देश के क्षत्रियों की समिति में आया। प्रवाहण जैबलि ने उससे पूछा क्या तुमने अपने पिता से शिक्षा प्राप्त की है।[3] श्वेतकेतु द्वारा स्वीकारात्मक उत्तर दिये जाने पर प्रवाहण जैबलि ने उससे निम्नांकित पांच प्रश्न पूछे[4]—

(क) मनुष्य यहाँ से मर कर कहाँ जाता है ?

(ख) प्राणी वापिस किस प्रकार जाते हैं ?

(ग) देवयान और पितृयान के मार्ग किस स्थान से अलग-अलग होते हैं ?

(घ) यह लोक प्राणियों से भरता क्यों नहीं ?

(ङ) जल पांचवी आहुति दिये जाने पर किस प्रकार मनुष्य की वाणी में बोलने लगता है ?

श्वेतकेतु ने इन प्रश्नों के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। पिता के पास आकर उसने इन प्रश्नों का उत्तर पूछा। श्वेतकेतु के पिता ने कहा कि इन प्रश्नों का उत्तर मैं भी नहीं जानता हूँ। गौतम गोत्रीय ऋषि श्वेतकेतु के पिता अपने पुत्र के साथ प्रवाहण राजा के पास गये। जब राजा ने अपार धन-सम्पत्ति देने की इच्छा प्रकट की तो गौतम ऋषि ने कहा कि मैं धन-सम्पत्ति लेने नहीं आया हूँ। आपने जो पाँच प्रश्न मेरे पुत्र से पूछे उनका उत्तर जानने आया हूँ, उसी का मुझे उपदेश दीजिए[5]। राजा प्रवाहण ने काफी सोच-विचार कर गम्भीरतापूर्वक कहा कि गौतम ! आप जिस विद्या को जानना चाहते हैं, वह

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ८।१।१-२

२. वही, ८।१।२, ७।१।३-५ एवं १६

३. वही, ५।३।१

४. वही, ५।३।३

५. स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायर्हाञ्चकार। यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति ॥—वही, ५।३।६

विद्या आपके पहले किसी भी ब्राह्मण को ज्ञात नहीं थी। इसलिए सम्पूर्ण लोकों में क्षत्रियों का राज्य रहा[1]।

(५) छान्दोग्योपनिषद् में एक अन्य उपाख्यान आया है कि प्राचीन शाल, प्रयत्यज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और वुडिल महाश्रोत्रिय आपस में सोचने लगे कि आत्मा और ब्रह्म क्या है ?[2] यह जानने के लिए वे उद्दालक के पास गये। उद्दालक ने उन्हें बताया कि मैं वैश्वानर आत्मा को नहीं जानता हूँ, अश्वपति नामक कैकय देश का राजा वैश्वानर आत्मा का अध्ययन करता है, इसलिए चलो उसी के पास हमलोग चलें[3]। वहाँ पहुँचने पर अश्वपति ने उन सबका स्वागत करके धन देने की जिज्ञासा प्रकट की, लेकिन उन महाश्रोत्रियों ने कहा कि हम लोग धन लेने नहीं आये हैं। हम सब वैश्वानर आत्मा को जानना चाहते हैं, इसलिए उसी का उपदेश दीजिए[4]। दूसरे दिन राजा अश्वपति के पास वे श्रोत्रिय ब्राह्मण समिधा लेकर गये। राजा कैकय ने उन्हें उपनयन किये बिना आत्मा का उपदेश दिया[5]।

शतपथ ब्राह्मण में भी यही कथानक उपलब्ध है[6]। इन उपाख्यानों से स्पष्ट है कि क्षत्रिय आत्म-तत्त्व के वेत्ता थे और ब्राह्मण ऋषि-मुनि उनके पास ज्ञान के लिए शिष्यत्व भाव से जाते थे। डा० दास गुप्ता ने लिखा है, "उपनिषदों में बार-बार आने वाले संवादों से स्पष्ट है कि ब्राह्मण दर्शन के उच्च ज्ञान के लिए क्षत्रियों के पास जाते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों के साधारण सिद्धान्तों के साथ उपनिषदों की शिक्षाओं का मेल न होने से और पालि त्रिपिटकों में आये हुए जन-साधारण में दार्शनिक सिद्धान्तों के अस्तित्व की सूचना से यह अनुमान किया जा सकता है कि साधारण क्षत्रियों में गम्भीर दार्शनिक अन्वेषण की प्रवृत्ति थी, जिसने उपनिषदों के सिद्धान्तों के निर्माण में प्रमुख प्रभाव डाला। अतः यह सम्भव है कि यद्यपि उपनिषद् ब्राह्मणों के साथ सम्बद्ध हैं किन्तु उनकी उपज

---

१. तं होवाच। यथा मा त्वं गौतमावदः। यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति। तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति। तस्मै होवाच॥—छान्दोग्योपनिषद्, ५।३।७

२. वही, ५।११।१

३. तान्होवाच। अश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति। तं हन्ताभ्यागच्छामेति। तं हाभ्याजग्मुः॥—वही, ५।११।४

४. मेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि। तमेव नो ब्रूहीति॥—वही, ५।११।६

५. वही, ५।१२।१८

६. वही, १०।६।१

अकेले ब्राह्मण सिद्धान्तों की उन्नति का परिणाम नहीं है, अब्राह्मण विचारों ने अवश्य ही उपनिषद्-सिद्धान्तों का प्रारम्भ किया है अथवा उनकी उपज और निर्माण में फलित सहायता प्रदान की है[१] ।"

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने जैन साहित्य इतिहास की पूर्वपीठिका में लिखा है कि जैसे ब्राह्मण काल में यज्ञों की तूती बोलती थी वैसे ही उपनिषद् काल में यह स्थान आत्मविद्या ने ले लिया था और ऋषि लोग उसके जानने के लिए क्षत्रियों का शिष्यत्व तक स्वीकार करते थे[२] ।

(ग) उपनिषदों में आत्मा-सम्बन्धी विचारों के विविध रूप

उपनिषदों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उपनिषदों में आत्मा सम्बन्धी विचार एक प्रकार के नहीं हैं । उनमें विभिन्नता है । वेदों में जिस तत्त्व को प्राण, श्वास अथवा किसी वस्तु का सार रूप समझा जाता था, उपनिषदों में वही तत्त्व मानवीय स्वरूप के अर्थों में प्रयुक्त हुआ परिलक्षित होता है ।

डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है "ऋग्वेद में (१०. १६. ३) इसका अर्थ प्राण अथवा जीवनाधार (आध्यात्मिक सत्व) बताया गया है । शनैः-शनैः आगे चल कर इसका अर्थ आत्मा अथवा अहं हो गया ।[3]"

आत्मा का स्वरूप छान्दोग्योपनिषद्[४] में प्रजापति के शब्दों में "आत्मा वह है जो पाप से निर्लिप्त जरा, मरण और शोक से रहित, भूख और प्यास से

---

1. ...from the frequent episodes in the Upanisads in which the Brahmins are described as having gone to the Ksattriyas for the highest knowledge of Philosophy as well as from the disparateness of the Upanisad teachings from that of the general doctrines of the brahamans and from the allusions to the existence of the philosophical speculations amongst the people in Pali works, it may be inferred that among the Ksattriyas in general there existed earnest philosophic enquiries which must be regarded as having exerted an important influence in the formation of the Upanisad doctrines.—History of Indian Philosophy : S.N.Das Gupta, vol. 1, p. 31.
२. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका, पृ० ८
३. भारतीयदर्शन, भाग १ : डा० राधाकृष्णन्, पृ० १३८
४. छान्दोग्योपनिषद्, ८।७।१

रहित है। सत्य काम और सत्य संकल्प आत्मा को जानना और खोजना चाहिए।" प्रजापति ने इन्द्र को लम्बे वार्तालाप[१] में जो आत्म-स्वरूप का उपदेश दिया उससे एक ओर तो आत्म-स्वरूप के क्रमिक विकास पर प्रकाश पड़ता है और दूसरी ओर यह भी सिद्ध हो जाता है कि आत्मा ऐसा तत्त्व है जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में रहता है।

बृहदारण्यकोपनिषद्[२] में भी आत्मा को कर्ता तथा जाग्रतादि अवस्थाओं, मृत्यु और पुनर्जन्म में एक समान रहने वाला तत्त्व कहा है।

प्रजापति उपदेश देते हैं कि "शरीर विनाशशील है, शरीर आत्मा नहीं है, शरीर आत्मा का अधिष्ठान है। आत्मा अशरीरी, अमर एवं शरीर से भिन्न है। नेत्रों की पुतलियों में जो पुरुष दृष्टिगत होता है वह वही है किन्तु आँख स्वयं देखने का साधनमात्र है। जो सोचता है कि मैं इसे सूँघूँ वह विचार करने वाला आत्मा है, लेकिन घ्राण तो गन्धादि का अनुभव करने का साधन मात्र है[३]।" इसी प्रकार आत्मा को मन और कल्पनाओं से भिन्न प्रतिपादित किया गया है[४]।

मुण्डकोपनिषद्[५] में कहा गया है कि 'चन्द्रमा और सूर्य इसके चक्षु, अन्तरिक्ष और दिशाएँ इसके श्रोत्र और वायु इसका उच्छ्वास है।' छान्दोग्योपनिषद्[६] में भी इसी प्रकार का विवेचन उपलब्ध होता है।

बृहदारण्यक में कहा गया है कि "श्वास लेते समय इसे श्वास, बोलते समय बोली, देखते समय आँख, सुनते समय-कान और विचारते समय इसे मानस नाम दिया जाता है। ये सब संज्ञाएँ इसी के भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए दी जाती हैं[७]। इसी उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि "यह आत्मा जो यह भी नहीं, वह भी नहीं, और न ही कुछ है, अमूर्त एवं अनुभवातीत है, क्योंकि यह पकड़ में नहीं आ सकती है[८]।"

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, ८।७ ४, ८।११।२
२. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।३
३. छान्दोग्योपनिषद्, ८।१२।१-२
४. वही, ८।१२।३-५
५. मुण्डकोपनिषद्, १।१
६. छान्दोग्योपनिषद्, ३।१३।७
७. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३।७।३, ४।४।२२
८. मैत्राण्युनिषद्, २।३।४

इस प्रकार उपनिषदों में आत्मा को शरीर, प्राण[1], इन्द्रिय और मन[2] से भिन्न एक चित्स्वरूप कहा गया है।

कठोपनिषद् में बतलाया गया है कि आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न किसी से उत्पन्न होता है, यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु यह नहीं मरता है।[3] यह अशरीरी, महान् एवं विभु है।[4] यह आत्मा प्रवचनों, तर्क-वितर्क और वेदों को पढ़ने से नहीं मिलता है।[5] यह प्रज्ञा द्वारा प्राप्त होता है। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ, मन को लगाम, इन्द्रियों को घोड़ा तथा इन्द्रिय-विषयों को मार्ग कहा है। इसी उपनिषद् में आत्मा को इन्द्रियादि से महान् बतलाया है।[6]

बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा को सर्वप्रिय तत्त्व कहा है।[7] छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि ब्रह्म ज्योति मेरी आत्मा है, वह मेरे हृदय के मध्य में अन्न के दाने से, जौ से, सरसों से, श्यामक से, श्यामक के चावल से भी अणु है। मेरी आत्मा पृथिवी से बड़ी है, इन समस्त लोकों से बड़ी है।....[8] कठोपनिषद् में भी कहा है "यह आत्मा अणु से भी अणु, महान् से भी महान् है और हृदय रूपी गुहा में स्थित है।"[9] कहीं-कहीं आत्मा को सम्पूर्ण वस्तु में व्यापक बताया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है कि आत्मा सम्पूर्ण वस्तु में व्यापक है। नखों के अग्रभाग तक उसी प्रकार प्रविष्ट है जिस प्रकार छूरा नाई की पेटी में और लकड़ी में आग रहती है।[10]

कहीं-कहीं आत्मा को सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर, सबका एकायन कहा गया है। अन्यत्र कहा है "आत्मा न चल है, न अचल है, न स्थायी है, न क्षणिक है, न सूक्ष्म है न क्षणिक है। वह सभी द्वन्द्वों से रहित है[11]।"

---

१. प्रश्नोपनिषद्, ३।३
२. केनोपनिषद्, १।४।६
३. कठोपनिषद्, १।२।१८
४. वही, १।२।२२
५. वही, १।२।२३
६. कठोपनिषद्, ३।१०।६, ६-८। मु० उ०, ३।२।३
७. बृहदारण्यकोपनिषद्, २।१।५
८. छान्दोग्योपनिषद्, ३।१४।३
९. कठोपनिषद्, १।२।२०
१०. तैत्तिरीयोपनिषद्, १।४।७
११. द्रष्टव्य : भारतीय दर्शन : संपादक डा० न० कि० देवराज, (उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ), पृ० ५६

श्वेता० उ० (५. ९) में आत्मा को अंगुष्ठमात्र, सुई की नोक के बराबर सूक्ष्म, तथा बाल के अगले हिस्से के हजारवें भाग के बराबर बताया गया है। जीवात्मा को लिंगहीन बतलाते हुए कहा है कि जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। कर्मानुसार भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त करता है[1]। जीवात्मा कर्मों का कर्ता, भोक्ता, सुखादि गुण वाला, प्राणों का स्वामी है[2]।

आत्मा की चार अवस्थाएँ : माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा का विश्लेषण करके जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय इन चार अवस्थाओं का विवेचन किया गया है।[3] बृहदारण्यक और प्रश्नोपनिषद् में भी इनका उल्लेख उपलब्ध है[4]।

आत्मा के पांच कोश : तैत्तिरीयोपनिषद् में आत्मा के पांच कोश—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश का वर्णन किया गया है।[5] इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित आत्म-स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि ऋषियों का चिंतन स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख था।

(घ) उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म की अवधारणाओं का बराबर महत्त्व

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म परम तत्त्व माने गये हैं। ब्रह्मतत्त्व संसार का मूल कारण माना गया है। "ब्रह्म" शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही सिद्ध होता है, क्योंकि 'ब्रह्म' 'बृह' धातु से निकला है, जिसका अर्थ बढ़ना या विकसित होना है। ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व में स्वतः विकसित हो जाता है[6]। ब्रह्म से विश्व की केवल उत्पत्ति ही नहीं होती है। अन्त में यह विश्व उसी ब्रह्म में विलीन हो जाता है। अतः ब्रह्म विश्व का आधार है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की तीसरी वल्ली में भृगु अपने पुत्र वरुण से प्रश्न के उत्तर में कहता है कि "वह जिससे इन सब भूतों की उत्पत्ति हुई और उत्पन्न होने के पश्चात् जिसमें ये जीवन धारण करते हैं और वह जिसके अन्दर ये सब मृत्यु के समय समा जाते हैं, वही ब्रह्म है।[7] इसप्रकार सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।८-५
२. वही, ५।७
३. माण्डूक्योपनिषद्, २
४. (क) बृहदारण्यक, ४।२।४। (ख) प्रश्नोपनिषद्, ४।५।६
५. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१-५
६. भारतीयदर्शन : डा० राधाकृष्णन्, प्रथम भाग, पाद टिप्पणी, पृ० १४९-५०
७. तैत्तिरीयोपनिषद्, ३।१

स्थावर एवं जंगम रूप संसार का मूल तत्त्व या सार है। आत्मा मनुष्य के अन्दर रहने वाला चेतन तत्त्व है।

इस प्रकार दोनों तत्त्व ब्रह्म और आत्मा का अर्थ भिन्न है। एक संसार का मूल स्रोत है और दूसरा मनुष्य के स्वरूप का सार है। यद्यपि ये दोनों सत्तायें मूल अर्थ में भिन्न हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आत्मा और ब्रह्म की अवधारणाओं का न्यूनाधिक महत्व है। उपनिषदों में ही ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इन दोनों तत्त्वों का बराबर महत्व है। इसका कारण यह है कि परम सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद् में दोनों तत्त्वों को एक मानते हुए कहा गया है कि ब्रह्म ही आत्मा है।[2] तैत्तिरीयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् आदि में कहा गया है कि "वह ब्रह्म जो पुरुष के अन्दर है और जो सूर्य में है दोनों एक हैं[3]। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि यह समस्त विश्व ब्रह्म ही है,[4] अपने-अपने हृदय में स्थित आत्मा ब्रह्म है[5]। इसी प्रकार श्वेतकेतु को उपदेश देते हुए कहा गया है कि नाम-रूप जिसके अन्दर है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है, वही आत्मा है[6]। इस कथन से ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य सिद्ध होता है "अहं ब्रह्मास्मि"[7] 'तत् त्वमसि'[8] 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म[9]' 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'[10], 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि[11] महावाक्यों के द्वारा आत्मा और ब्रह्म में अभिन्नता प्रकट करके आत्मा और ब्रह्म की अवधारणाओं का बराबर महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

जीव और ब्रह्म : उपनिषदों में आत्मा के लिए ब्रह्म के अलावा जीव शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। संसारी आत्मा जो कर्मों का कर्ता, भोक्ता,

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१
२. वही, १।५
३. (क) वही, २.८।३.१०। (ख) छान्दोग्य, ३।७।१४। २-४। (ग) बृहदारण्यक, ५।५२। (घ) मुण्डकोपनिषद्, २।१।१०।
४. बृहदारण्यक, २।५।१९
५. वही, २५।१
६. छान्दोग्य, ७।२५।२।३।।१४।१, ८।१४।१
७. बृहदारण्यक, १।४।१०
८. छान्दोग्य, ६।८।७
९. माण्डूक्य, २
१०. छान्दोग्य, ३।१४।१
११. वही, ६।२।१

सुख-दुःख का अनुभवकर्ता है जीवात्मा कहलाता है। मुण्डकोपनिषद् में एक वृक्ष पर बैठे हुए दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा जीव और ब्रह्म में अन्तर प्रदर्शित किया गया है। जीव ऐसा पक्षी है जो फलों का स्वाद लेता है और आत्मा या ब्रह्म केवल द्रष्टा या साक्षी रूपी पक्षी के समान है[१]। जीव और ब्रह्म दोनों एक शरीर में अन्धकार और प्रकाश की तरह रहते हैं। जीव और ब्रह्म में व्यावहारिक दृष्टि से उपनिषदों में अन्तर किया गया है। पारमार्थिक दृष्टि से दोनों में अद्वैत है। दोनों के एकाकार के विषय में मुण्डक में कहा है—प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्तता पूर्वक बाण चलाना चाहिए। जो वेधन करने वाला है, वह बाण के समान हो जाता है, एवं लक्ष्य रूपी ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है[२]। इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि वह सर्वोपरि अक्षर आत्मा में विलीन हो जाता है[३]। वह सर्वज्ञ और सर्वात्मा हो जाता है[४]। इन उद्धरणों में जीवात्मा और ब्रह्म में तादात्म्य होना बतलाया गया है। डा० राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन[५] में इसका विस्तृत उल्लेख किया है।

मुक्तावस्था में अविद्या के क्षय हो जाने से जीवात्मा यथार्थ स्वरूप-लाभ कर लेता है। उपनिषदों में कहा गया है कि जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर समुद्राकार हो जाती है अर्थात् विलुप्त हो जाती है उसी प्रकार जीवात्मा ब्रह्म से मिलकर मोक्षावस्था में एकाकार हो जाता है[६]। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, इसलिए मोक्षावस्था भी उपनिषदों में आनन्दस्वरूप बतलाई गयी है। यही जीवात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति है। ब्रह्म के साथ एकाकार होकर मुक्तात्मा अपने को संसार का सृष्टा मानने लगता है। तैत्तिरीयोपनिषद्[७] में इसका अच्छा विवेचन किया गया है। याज्ञवल्क्य ऋषि ने मैत्रेयी को जीवात्मा और ब्रह्म के तादात्म्य को जल में घुले हुए नमक के सदृश बतलाया है[८]। इस प्रकार जिस आत्मस्वरूप का क्षत्रियों ने ब्राह्मण ऋषि मुनियों को उपदेश दिया, उपनिषदों में उस आत्मतत्त्व के विषय में विविध विचार प्रकट किये गये हैं, जो आत्मस्वरूप चिन्तन के विकास का परिणाम है।

---

१. मुण्डकोपनिषद्, ७।२५।२, ३।१४।१, ८।१४।१
२. वही, २।२।२। सर्व एकीभवन्ति।—वही, ३।२।७
३. प्रश्नोपनिषद्, ४।९
४. स सर्वज्ञः सर्वो भवति।—वही, ४।१०
५. भारतीय दर्शनः डा० राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० २१७-२२२
६. (क) मुण्डकोपनिषद्, ३।२।८। (ख) प्रश्नोपनिषद्, ६।५
७. तैत्तिरीयोपनिषद्, ३
८. भारतीय दर्शन : डा० राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० २२०

(ङ) दार्शनिक निकायों में आत्मचिन्तन:

वैचारिक समानताओं और विषमताओं के आधार पर हम भारत के आत्म सम्बन्धी चिन्तन को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

१. **अद्वैत-वेदान्त तथा सांख्य :** इस दार्शनिक निकाय के दार्शनिकों के अनुसार आत्म-तत्त्व (ब्रह्म, आत्मा, पुरुष) मूलतः निर्गुण और निष्क्रिय हैं[१]। उसमें सुख-दुःख आदि मनोदशाएँ अध्यस्त या कल्पित हैं। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार तथाकथित मानसिक अवस्थाएँ अन्तःकरण का धर्म हैं, जब कि सांख्य के अनुसार वे बुद्धि की स्थितियां या अवस्थाएं हैं। इन दार्शनिकों के अनुसार बन्धन और मोक्ष भी वास्तविक नहीं अपितु आभासमात्र हैं।

२. **न्याय-वैशेषिक और प्रभाकर-मीमांसक :** इन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा में इच्छा, राग द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के गुण माने जाते हैं। किन्तु मुक्तावस्था में वे आत्मा में नहीं माने जाते हैं। इस वर्ग के दार्शनिकों ने चैतन्य को आत्मा का गुण माना है। लेकिन इसे आत्मा का स्वाभाविक गुण न मान कर आगन्तुक गुण कथित किया है। आत्मा को उन्होंने एक ऐसा द्रव्य स्वीकार किया है जो स्वरूपतः अचेतन या जड़ होने के बावजूद चैतन्य को धारण करने की क्षमता रखता है। उनकी कल्पना है कि आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का विषयों से संयोग होने पर ज्ञान या अनुभव उसमें उत्पन्न होता है। इस प्रकार के सम्बन्ध के बिना ज्ञान या अनुभव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। चूँकि मुक्तावस्था में आत्मा के मन और इन्द्रियां नहीं होती हैं। इसलिए उस अवस्था में उसको पदार्थों का ज्ञान भी नहीं होता। वास्तव में तब उसमें चैतन्य भी नहीं होता।

३. **जैनदर्शनका मत :** जैन दर्शन का मत उक्त दोनों मन्तव्यों का समन्वय करता प्रतीत होता है। संसारावस्था में आत्मा में सुख-दुःख आदि वास्तविक रूप से बंधे रहते हैं। किन्तु मुक्तावस्था में स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य जिसे अनन्त चतुष्टय कहते हैं, उसमें रहते हैं और कर्मजन्य सुखादि का अभाव हो जाता है। जैन दर्शन प्रकारान्तर से आत्मा में अद्वैत वेदान्त की भांति चेतना और अनन्द को आत्मा का स्वरूप मानता है। किन्तु अद्वैत वेदान्त में चेतना और आनन्द आत्मा के गुण नहीं माने जाते, वेदान्ती आत्मा को चैतन्य रूप एवं आनन्दरूप मानते हैं।

---

१. (क) द्रष्टव्य—सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण), का० ११, १७ एवं १९
(ख) भारतीय दर्शन (भाग २), डा० राधाकृष्णन् : पृ० ४६९ से आगे।

जैसा कि हमने कहा कि भारतीय दर्शन में आत्म-सम्बन्धी चिन्तन का सूत्र-पात उपनिषदों में हुआ किन्तु उपनिषदों का चिन्तन वक्तव्यों के रूप में है, वहां आत्म-सम्बन्धी कथनों को तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा नहीं कि उपनिषद्कारों के मन में आत्म-तत्त्व को लेकर विमर्शमूलक प्रश्न नहीं उठते, किन्तु वे प्रश्न भी प्रायः सांकेतिक हैं, उन पर विशद् रूप में तर्कानु-प्राणित विचारणा प्रायः उपलब्ध नहीं होती। उदाहरण के लिए बृहदारण्य-कोपनिषद् में कौतूहल के साथ कहा गया है--विज्ञातारमरे केन विजानीयात्-अर्थात् जो ज्ञाता है उसे किसके द्वारा जाना जाय ? इस प्रश्न का समाधान संकेत रूप में भले ही हुआ हो, तर्क द्वारा पुष्ट रूप में निरूपित नहीं हुआ है। इसके विपरीत बाद के दर्शन अपने आत्म-सम्बन्धी चिन्तन को प्रमाणों अथवा तर्कों द्वारा पुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

इतनी भूमिका के बाद हम आत्म-सम्बन्धी विभिन्न मंतव्यों का अलग-अलग दर्शनों के अनुसार वर्णन करेंगे। अन्त में हम जैन दर्शन के एतद् सम्बन्धी सम-न्वयकारी विचारों का विवरण देंगे।

(च) वैदिक अथवा हिन्दू के दर्शन में आत्म-चिन्तन:

आत्म-तत्त्व के चिन्तन की जो धारा उपनिषदों में प्रवाहित हुई, उसका विकास वहीं समाप्त नहीं हुआ। कालक्रम से विकसित होने वाले विविध वैदिक दर्शनों में आत्म-तत्त्व चिन्तन का प्रधान (मूलभूत) विषय बन गया। उपनिषदुत्तरकालवर्ती दर्शनों ने आत्म-स्वरूप का स्वतन्त्र दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया और उस विषय में अपनी-अपनी धारणाएँ प्रस्तुत कीं। उपनिषदों में उपलब्ध आत्मा के विविध रूपों के परिणामस्वरूप हिन्दू-दर्शनों में आत्मा-सम्बन्धी विविध विचार-धाराओं का प्रतिपादन हो सका है। सर्वदर्शनसंग्रह, षड्दर्शनसमुच्चय आदि में प्राचीन आचार्यों ने न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) को वैदिक दर्शन कहा है। क्योंकि इन दर्शनों में उपलब्ध दार्शनिक चिन्तन का प्रमुख आधार वेद-वाङ्मय है। जैसा कि हम देखेंगे कि हिन्दू दर्शनों में आत्मस्वरूप के विषय में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा इसलिए उनमें एकरूपता नहीं है। इस दृष्टि से यह परम्परा बौद्ध परम्परा से समता रखती प्रतीत होती है। जैन धर्म-दर्शन में ऐसी बात नहीं है। वहां आगमकालीन साहित्य से लेकर आज तक उपलब्ध दार्शनिक साहित्य का आलोड़न करने से प्रतीत होता है कि आत्मवाद की जो मान्यता ऋषभदेव के समय में थी वैसी ही आज भी है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। वैदिक दर्शनों में आत्मा सम्बन्धी विविध विचारणाएं उपलब्ध होने के कारण प्रत्येक वैदिक पर-म्परा का अलग-अलग उल्लेख करना आवश्यक है।

(क) न्याय-वैशेषिक : न्याय-वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। इस परम्परा में आत्मा को शरीरादि से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है।[1] इस दर्शन के चिन्तकों ने आत्मा को स्वभाव से जडवत् बतलाया है। अन्य जड़ द्रव्यों से इस द्रव्य में यह भेद किया गया है कि चैतन्य, जो आत्मा का स्वाभाविक नहीं आगन्तुक गुण है, की उत्पत्ति आत्मा में ही हो सकती है[2]। इस तरह आत्मा को चैतन्य या ज्ञान का आधार माना गया है।[3] इस विषय में उनका तर्क है कि ज्ञान या चैतन्य की उत्पत्ति आत्मा का मन के साथ और मन का इन्द्रियों के साथ, और इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष या संयोग होने पर होती है अपने इस सिद्धान्त के कारण न्याय-वैशेषिक आत्मा को चैतन्य स्वरूप न कह कर चैतन्यवान् कहना अभीष्ट समझते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है मुक्तावस्था में शरीरादि का अभाव होने से उसे चैतन्य विहीन माना है। न्याय-वैशैषिक का यह सिद्धान्त अन्य भारतीय दार्शनिकों को सन्तुष्ट न कर सका, फलतः उसे कड़ी आलोचना का विषय बनना पड़ा, जैसा कि हम आगे देखेंगे। उन्होंने आत्मा को क्षेत्रज्ञ, निरन्वयी, शाश्वत, अविनाशी, व्यापक, ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, पाप-पुण्य कर्मो का भोक्ता, प्रति शरीर भिन्न, अनेक और अपरिणामी बताया है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्मा के विशेष गुण[4] तथा संख्यादि बताये गये हैं।

(छ) बौद्ध दर्शन में आत्म-चिन्तन :

बौद्ध दर्शन में आत्म-तत्व का सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। बौद्ध दर्शन का मंतव्य है कि परिवर्तन या क्षणिकता

---

१. न शरीरस्य चैतन्यं............। परिशेषादात्मकर्यत्वात् तेनात्मा समधिगम्यते। प्रशस्तदेवः—प्रशस्तपादभाष्यम्, पृ० ४९-५०

२. द्रष्टव्य : डा० राधाकृष्णन् : भारतीय दर्शन (भाग २), पृ० १४८-४९।

३. (क)........बुद्धयादीनां गुणानामाश्रयो वक्तव्यः। स एवात्मा। .... केशव मिश्र, तर्क भाष्य, पृ० १४८।

(ख) ज्ञानाधिकरणमत्मा। तर्कसंग्रह, पृ० १२

४. (क) इच्छाद्वेष.....लिंगम्। न्यायसूत्र १।१।१०

(ख) सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। ....तस्य सामान्यगुणाः सुखादयः पंच, बुद्धयादयो नव विशेषगुणाः। केशवमिश्र : तर्कभाष्य, पृ० १९०

(ग) विभवान्महानाकाशस्तथा आत्मा। महर्षि कणाद : वै० सू०,७।१।२२

(घ) स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः। परममहत्परिमाणवानित्यर्थः। विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्। केशव मिश्र : तर्क भाष्य, पृ० १४९

ही यथार्थसत् है। क्षणिकवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी उन्होंने अपने प्रसिद्ध कारण-कार्य सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा सिद्ध किया है। क्षणिकवाद सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व क्षणिक है, कोई भी वस्तु दो क्षणों तक विद्यमान नहीं रहती है। अतः कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। क्षणिकवाद सिद्धान्त के आधार पर बौद्ध दर्शन में आत्मा अनित्य ही नहीं बल्कि क्षणिक माना गया है। इसलिए बौद्धों का आत्मवाद सिद्धान्त 'अनात्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध इस प्रकार की आत्मा में विश्वास नहीं करते थे जो स्थायी हो। उन्होंने स्थायी तत्त्व को भ्रामक कहा था। शाश्वत आत्मा में विश्वास करने वालों का मज़ाक करते हुए उन्होंने कहा कि यह मान्यता कल्पित सुन्दर नारी के प्रति अनुराग रखने की तरह हास्यास्पद है। मस्तिष्क के विचारों और संवेदना के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। उपनिषद्, वैदिक दर्शन और जैन दर्शन में मान्य आत्मा के विषय में भगवान् बुद्ध चुप दिखलाई पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में आत्म-तत्त्व सिद्धान्त की बौद्धों की व्याख्या यह प्रकट नहीं करती कि चैतन्य का आधारभूत कोई स्थायी आत्मा है।

बौद्ध दर्शन में आत्मा-सम्बन्धी व्याख्या दो प्रकार से की गयी है। (१) पंचस्कन्धों के आधार पर और (२) नाम-रूप के आधार पर। इनका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में करेंगे। बौद्ध दर्शन के 'अनत्त' को समझ लेने पर उनकी आत्मा-सम्बन्धी विचारणा या व्याख्या को सरलता से समझा समझाया जा सकता है। अनत्त की व्याख्या विनयपिटक के महावग्ग में आये हुए अनत्त-लक्खण सुत्त में उपलब्ध है।[1] वहाँ पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कन्धों को अनत्त सिद्ध किया गया है[2]। उन्हें ऐसा मानने में तर्क दिया गया है कि वे अनित्य एवं दुःख रूप हैं। पंचस्कन्धों को अनत्त कह कर बतलाया गया है कि इन स्कन्धों से भिन्न कोई अन्य सूक्ष्म तत्त्व नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके। जिसे ज्ञान हो या जो निर्वाण प्राप्त करता हो ऐसे शाश्वत तत्त्व के विषय में पालि त्रिपिटक में कोई संकेत नहीं है। महावग्ग के अनत्तलक्खण सुत्त के अतिरिक्त अभिधम्मपिटक के कथावत्थु[3] में भी इसी प्रकार अनन्ता की व्याख्या की गयी है। आत्मा के शाश्वत स्वरूप के विषय में भगवान् बुद्ध सर्वत्र मौन ही परिलक्षित होते हैं।[4] इस मौन से ऐसा प्रतीत

१. विनयपिटक, १।८।२०-२३
२. अभिधम्म पिटक, ११।११२
३. दीघनिकाय, महावग्ग, २।१
४. मज्झिम निकाय मूलपण्णासक, ३५।३।५-२४

नहीं होता है कि उनका अभिप्राय शाश्वत आत्मा को स्वीकार करना है। उनके इस कथन का आधार इससे आगे आत्मा को वेदना धर्म वाला बतलाना है[1]। स्पष्ट है कि शाश्वतवाद में मान्य आत्मा की दृष्टि से बौद्ध दर्शन का चिन्तन अनात्मवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसमें क्षणिक संवेदनाओं से पृथक् किसी नित्य आत्मा को मान्य नहीं किया गया है[2]। दीर्घनिकाय में सीलक्खन्धवग्ग के ब्रजालसुत्त और मज्झिमनिकाय के मूलपण्णासकसुत्त का अभिप्राय यही है कि आत्मा स्कन्ध संघात से भिन्न नहीं है।

जैसा कि हम देखेंगे कि बौद्ध दर्शन (पालि-त्रिपिटक) जैन दर्शन की भाँति इन्द्रिय, विषय, मन, विज्ञान, वेदना और तृष्णा, जो पुद्गल रूप हैं[3], उन्हें आत्मा नहीं मानता है। लेकिन जैन दर्शन से बौद्ध दर्शन इस अर्थ में भिन्न है कि वह इनसे भिन्न आत्मा की कल्पना ही नहीं करता है, जब कि (चैतन्य) दर्शन एक ऐसे आत्मतत्त्व की कल्पना करता है, जो उपयोग स्वरूप तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप द्रव्य है।

हीनयान बौद्ध दर्शन में वसुबन्धु ने स्पष्ट कहा है कि पंचस्कन्धों को छोड़ कर आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है[4]।

महायान दर्शन में भी स्वप्रवाह को आत्मा कहा है और नित्य आत्मा के होने का निषेध किया गया है। दिङ्नाग जैसे आचार्यों[5] ने आत्मा और अनात्मा को संज्ञा मात्र कह कर उनकी पारमार्थिक सत्ता न होने का उल्लेख किया है। महायानदर्शन में अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद का अभिप्राय, आत्मा का उच्छेद नहीं है। इस कथन की पुष्टि महायानसूत्र[6] और लंकावतार[7] में आये हुए प्रसंगों से हो जाती है। फिर भी वे आत्मा को शाश्वत न मान कर शरीर घटक धातुओं का समुच्चय कहते हैं। नागार्जुन ने तत्त्वमात्र को सत्, असत्, उभय और

---

१. मज्झिमनिकाय १।२८।३४
२. मज्झिमनिकाय ,उपरिपण्णासक, २।२।१-६
३. कुन्दकुन्द : समयसार, ३९-५५
४. नात्मास्त्रि स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसंस्कृतम्। अभिधर्मकोश, ३।१८
५. (क) प्रज्ञापारमिता, पिण्डार्थ ५०
(ख) लंकावतार सूत्र, १०।४२९
६. महायानसूत्र, पृ० १०३
७. लंकावतार, २।९९, २।६

अनुभयात्मक कोटियों से विनिर्मुक्त कह कर[1] स्पष्ट कहा कि बौद्ध मत न आत्मवादी है और न अनात्मवादी है[2]। स्पष्ट है कि धातु और स्कन्ध का समष्टि रूप ही आत्मा है। धातुओं के संघात से भिन्न आत्मा की परमार्थ सत्ता नहीं है। आत्मदृष्टि का उच्छेद करना चाहिए। यह कथन करने के कारण महायानवादी पुद्गलनैरात्म्यवादी कहलाने लगे। इसी प्रकार से समस्त धर्मों को अनुत्पन्न बतलाने से वे धर्म नैरात्मवादी के रूप में प्रसिद्ध हुए। बौद्ध दर्शन में आत्मविज्ञान की कल्पना आत्मवादियों के आत्मा के समान ही है जिसका विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में करेंगे।

प्रज्ञापारमिता[3] की व्याख्या करते हुए स्व के प्रवाह को आत्मा कहा है। उसी में रूपादि को आत्मरूप कह कर आत्मा के स्थिर तत्त्व होने का निषेध किया गया है[4]।

(ज) जैनदर्शन में आत्म-तत्त्व विचार

जैन दर्शन में आत्मा का विवेचन तत्त्व[5] विचार के रूप में आरम्भ होता है। जैन दर्शन में सात तत्त्व माने गये हैं, जिसमें प्रथम जीव या आत्मा है तथा अन्य छः अजीव या जड़ है। उन सभी का महत्त्व जीव के कारण है। ये सात तत्त्व इस प्रकार हैं[6]—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) संवर, (६) निर्जरा, और (७) मोक्ष। संक्षेप में तत्त्व दो प्रकार के हैं, जीव और अजीव[7]; क्योंकि सात तत्त्वों में जीव और अजीव दो ही प्रधान[8] हैं, शेष तत्त्व जीव और अजीव के ही पर्याय हैं[9]। जीव और अजीव को सम्बद्ध करने

---

१. माध्यमिक कारिका, १७।२०
२. वही, १८।६
३. अहिताहंमानत्वेन स्व सन्तान एवात्मा। प्रज्ञापारमिता टीका, पृ० १४
४. आत्मेति न स्यान्तव्यम्। वही, पृ० १८
५. (क) तस्य भावस्तत्वम्।····सर्वार्थसिद्धि, १।२, पृ० ८
   (ख) तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
   तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पकम्॥·······पंचाध्यायी, पूर्वार्ध, का० ८
६. तत्त्वार्थसूत्र, १।४
७. प्रवचनसार, २।३५
८. समयसार, आत्मख्याति टीका, गा० १३, कलश ३१
९. जीवाजीवौ हि धर्मिणो-तद्धर्मास्त्वास्रवादय इति।····तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक : १।४।४८, पृ० १५६

वाले आस्रव और बन्ध हैं तथा उन्हें पृथक् करने वाले संवर और निर्जरा हैं। मोक्ष जीव की स्वतन्त्र अवस्था का नाम है। इस प्रकार जीव या आत्म-तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। पूज्यपादाचार्य ने इष्टोपदेश में कहा है कि जीव पुद्गल से भिन्न है और पुद्गल जीव से भिन्न है। यही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इसी का ही विस्तार है[1]।

अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार की आत्मख्याति टीका में कहा है, "शुद्ध नय की अपेक्षा (दो तत्त्व भी नहीं है) एक मात्र आत्मज्योति ही चमकती है, जो इन भव तत्त्वों में धर्मीरूपेण अनुगत होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती है"।[2]

अजीव तत्त्व : जड़ या चैतन्य गुण से रहित तथा सुख-दुःख की अनुभूति से विहीन तत्त्व अजीव कहलाता है[3]। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अजीव के पांच भेद हैं[4]।

जीवतत्त्व : जो तत्त्व चेतन स्वरूप है, ज्ञानवान् है, सभी को जानता, देखता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है, उसे जीव कहते हैं।[5]

स्वामी कार्त्तिकेय ने जीव-तत्त्व का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि जीव ही उत्तम गुणों का धाम है, सब द्रव्यों में उत्तम द्रव्य है और सब तत्त्वों में परम तत्त्व है[6]।

परमात्मप्रकाश टीका में कहा है "नव पदार्थों में शुद्ध जीवास्तिकाय, निज शुद्ध द्रव्य, निज शुद्ध जीव-तत्त्व, निज शुद्ध जीव-पदार्थ जो आप शुद्धात्मा है, वही उपादेय है, अन्य सब त्यागने योग्य है।[7]

जैनदर्शन में अविनाशी, अनन्त सुख ही उपादेय है जो मोक्ष में प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति संवर और निर्जरा से होती है। संवर और निर्जरा का कारण रत्नत्रयस्वरूप आत्मा है।[8]

---

१. इष्टोपदेश, श्लोक ५०
२. समयसार : आत्मख्याति टीका, कलश ७
३. पंचास्तिकायसार, १२४-२५
४. द्रव्यसंग्रह, १५
५. पंचास्तिकायसार, १२२
६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २०४
७. परमात्मप्रकाश, १।७, पृ० १४
८. द्रव्यसंग्रह, टीका चूलिका, गा० २८, पृ० ८२

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में आत्म-तत्त्व प्रमुख तथा उपादेय है।

(झ) जैन दर्शन में आत्मा की अवधारणा और अन्य दर्शनों से भेद

आत्मा की अवधारणा जैनदर्शन में प्रमुख एवं मौलिक है। इस दर्शन में वर्णित सात तत्त्वों, नव पदार्थो और छः द्रव्यों में आत्म तत्त्व ही चैतन्यस्वरूप है[१]। उमास्वामी ने आत्मा को उपयोगस्वरूप कहा है[२]। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि[३] में पूज्यपादाचार्य, द्रव्यसंग्रह[४] में नेमिचन्द्राचार्य ने आत्मा को चैतन्यस्वरूप कहा है। उपयोग चैतन्य का ही अन्वयी परिणाम है। चैतन्य आत्मा का ऐसा लक्षण है जो उसे अन्य पुद्गलादि अजीव द्रव्यों से व्यावृत करता है[५]।

आत्मा के लिए जैन दर्शन में अनेक नाम प्रयुक्त होते हैं, उनमें से जीव भी एक है। यद्यपि जो जन्म-मरण करे वह जीव कहलाता है और आत्मा शब्द से मुक्त आत्मा का बोध होता है। लेकिन जैन दर्शन में जीव और आत्मा एक ही तत्त्व के दो नाम हैं। इनमें कोई भेद नहीं है।

दस प्राणों से जीने वाला जीव कहलाता है, जैन दर्शन में स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु दस द्रव्य-प्राण हैं, जो पुद्गलात्मक माने गये हैं[७]। एक जीव के कम से कम चार प्राण—स्पर्शेन्द्रिय, काय-बल, उच्छ्वास और आयु होते हैं। इन प्राणों से जो जीता है, जियेगा और पहले जीता था, वह जीव कहलाता है[८]। कुन्दकुन्दाचार्य के इस जीव के सामान्य लक्षण का सभी आचार्यों ने अनुकरण किया है[९]।

---

१. (क) पंचास्तिकायसार, १०९। (ख) प्रवचनसार, २।३५
२. उपयोगोलक्षणम्—तत्त्वार्थ, सूत्र २।८
३. तत्र चेतना लक्षणो जीवः।—सर्वार्थसिद्ध, १।४। पृ० १४
४. णिच्छयणयदो तु दु चेदणा जस्स।—द्रव्यसंग्रह, ३
५. जीव स्वभावश्चेतना, यत् इतरेभ्यो द्रव्येभ्यो भिद्यते।—तत्त्वार्थवार्तिक। १।४।१४, पृ० २६
६. गोम्मटसार, गा० १३०
७. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका गा० ३०
८. पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदिजो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गल दव्वेहिं णिव्वत्ता॥—प्रवचनसार, २।५५।
(ख) पंचास्तिकाय, गा० ३०
९. द्रष्टव्य—द्रव्यसंग्रह, गा० ३। तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।७, पृ० २५

अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में लिखा कि सिद्धों के स्पर्शनादि दस द्रव्य प्राण नहीं होते किन्तु सिद्ध होने के पहले इन प्राणों से वे जीवित रहते थे, इसलिए औपचारिक रूप से सिद्ध भी जीव ही हैं। दूसरी बात यह है कि द्रव्य प्राण के अतिरिक्त भाव प्राण भी होते हैं। ये भाव प्राण जीव से अभिन्न होते हैं तथा आभ्यन्तर और अविनाशी होते हैं।[1] भाव प्राणों को शुद्ध प्राण भी कहते हैं। द्रव्य प्राणों से जो त्रिकाल में जीवित रहे, केवल यही जीव का लक्षण नहीं है। द्रव्य प्राण तो विनाशशील हैं। अतः जो द्रव्य और भाव प्राणों से त्रिकाल में जीवित रहे, उसे जीव कहते हैं।[2] सिद्धों के चैतन्यरूप भाव प्राण होते हैं। इसी कारण से सिद्ध जीव कहलाते हैं।[3] इस प्रकार सिद्ध है कि जीव और आत्मा एक ही तत्त्व के सूचक हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में आत्मा का विचार करते हुए कहा है, "आत्मा जीव है, चैतन्य है, उपयोग वाला है, अपने किये गये कर्मों का स्वामी है, पुण्य-पाप कर्मों का कर्ता एवं उन कर्म फलों का भोक्ता, शरीर परिमाण, अमूर्तिक और कर्म-संयुक्त है।[4]" भावपाहुड़ में उपर्युक्त विशेषणों के अतिरिक्त आत्मा को अनादि निधन भी बतलाया है।[5] इन विशेषणों का विवेचन विस्तृत रूप से आत्म-स्वरूप विमर्श में करेंगे। कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने आत्मा के इस स्वरूप का अनुकरण किया है।

आत्मा द्रव्य है : जैन दर्शन में आत्मा स्वतः सिद्ध अनादि, अनन्त, अमूर्तिक, अविनाशी और असंख्यात (अखण्ड) प्रदेशी द्रव्य माना गया है।[6] तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य के दो लक्षण उपलब्ध होते हैं। इसमें द्रव्य को सत्-स्वरूप कह कर सत् को उत्पादव्यय ध्रौव्य-स्वरूप कहा है।[7] द्रव्य का यह लक्षण आत्मा में पाया जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि आत्मा की पूर्वपर्याय का विनाश होता है और उत्तरपर्याय की उत्पत्ति होती है, किन्तु द्रव्य-दृष्टि से जो पूर्वपर्याय में

---

१. पंचसंग्रह (प्राकृत), १।४५।
२. वही, १।४५
३. तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।७, पृ० २५-२६
४. पंचास्तिकाय, गा० २७
५. कत्ता मोह अमुत्तो शरीरमित्तो अणाइणिहणो य।
 दंसणणाणुवयोगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहिं ।।—भावपाहुड़, १४८
६. (क) पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, ३०-३२।
७. तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२९-३०

था, वही उत्तर पर्याय में रहता है।[1] इस प्रकार पूर्व और उत्तर पर्याय में रहने वाला परिणामी नित्य[2] द्रव्य है। यद्यपि अन्य भारतीय दार्शनिक भी आत्मा को नित्य द्रव्य मानते हैं लेकिन वे उसे अपरिणामी मानते हैं। द्रव्य के दूसरे लक्षण के अनुसार द्रव्य में गुण और पर्यायें होती हैं। आत्म-तत्त्व में भी द्रव्य का यह लक्षण मौजूद रहता है। गुण द्रव्य के आश्रित होते हैं। आत्मा में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण मौजूद रहते हैं।[3] विशेष गुण को असाधारण या अनुजीवी गुण भी कहते हैं[4]। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्त्व ये छः गुण जैन दार्शनिकों ने आत्मा के विशेष गुण माने हैं[5]। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, चेतनत्व, प्रदेशत्व और अमूर्तत्व ये आठ आत्मा के सामान्य गुण माने जाते हैं।[6] जैन-सिद्धान्त में द्रव्य में अनन्त गुण विद्यमान रहते हैं। अमृतचन्द्र आचार्य ने समयसार की आत्मख्याति टीका में आत्मा में रहने वाले अनन्त गुणों में से सैंतालिस शक्तियों का उल्लेख किया है।[7] यहाँ पर उनका देना सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार पद्मनन्दि ने पंचविंशतिका में[8] आत्मा में रहने वाले सूक्ष्म-महान् आदि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों के होने का उल्लेख किया है। अन्य द्रव्यों की भाँति आत्म द्रव्य में भी स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार की पर्यायें पाई जाती हैं।[9] आत्मा कभी स्वभावरूप से परिणमन करता और कभी विभावरूप से। आत्मा के स्वभावरूप परिणमन करने से होने वाली पर्यायें स्वभावपर्यायें कहलाती हैं। ये पर्यायें अत्यन्त सूक्ष्म और अगोचर होती हैं। सिद्धावस्था में चरम शरीर से किंचित् न्यून शरीराकार प्रदेश वाला होना—यह आत्म-द्रव्य की स्वाभाविक द्रव्यपर्याय कहलाती है।[10] अनन्तज्ञान, अनन्त-

---

१. पंचास्तिकाय, १७
२. तद्भावाव्ययं नित्यम्।—तत्त्वार्थ, ५।३१
३. नयचक्र, गा० ११-१२
४. अ० क० भा० : पं० राजमल्ल, २।८
५. जीवस्यज्ञानदर्शन....षट्।....आलापपद्धति, २
६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, गा० २४१
७. समयसार, आत्मख्याति टीका : परिशिष्ट, पृ० ५५६
८. पंचविंशतिका, ८।१३
९. नयचक्र, गा० १८
१०. नयचक्र, (संपादक पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री) परिशिष्ट, आलापपद्धति पृ० २१२

दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को आत्मा की स्वभावगुण पर्याय कहा है।[१] पुद्गलद्रव्य संयोग के कारण आत्मा की होने वाली पर्यायें विभावपर्यायें कहलाती हैं।[२] पुद्गलकर्म के संयोग से मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव गतियों में आत्म प्रदेशों का शरीराकार परिणमन होना आत्मा की विभाव पर्याय कहलाती है।[३] आत्म द्रव्य के स्वाभाविक गुणों में कर्म के संयोग से होने वाली विकृति को माइल्लघवल आदि आचार्यों ने आत्म-द्रव्य की विभावगुण पर्याय कहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान आत्म-द्रव्य के ज्ञानगुण की पर्यायें हैं[४]। अतः आत्मा एक द्रव्य है, जिसमें गुण-पर्यायें उपलब्ध होती हैं।

जैन दर्शन में आत्मा अस्तिकायद्रव्य माना गया है[५]। जैन दार्शनिक अन्य दार्शनिकों की तरह आत्मा को निरवयव न मान कर सावयव भी मानते हैं। इन्हीं अवयवों को प्रदेश[६] कहते हैं। उमास्वामी ने आत्मा को असंख्यात प्रदेशी कहा है[७]। अतः आत्मा असंख्यात चेतन प्रदेशों की पिण्ड है।

आत्मा अनेक हैं—जैन दर्शन में अनन्त आत्माओं की परिकल्पना कीगयी है। उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है : "जीवाश्च"[८]। इस सूत्र के बहुवचनान्त होने से भी यही सिद्ध होता है कि आत्माएं अनेक हैं। संक्षेप में आत्माओं का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है : संसारी और मुक्त[९]। कर्म-संयुक्तआत्मा को संसारी और कर्मविहीन आत्मा को मुक्त कहते हैं। संसारी आत्मा के त्रस और स्थावर के भेद से उमास्वामी ने दो भेद किये हैं[१०]। तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं

---

१. (क) स्वभावगुणव्यंजनपर्याया अनन्तचतुष्टयरूपा जीवस्य।—नयचक्र-आलापपद्धति (ख) नयचक्र, गाथा २५
२. वही, गाथा १९
३. आलापपद्धति
४. नयचक्र, २३
५. द्रव्यसंग्रह २३
६. वक्ष्यमाण लक्षणः परमाणुः स यावतिक्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवहियते। सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद, ५।८
७. तत्त्वार्थ, ५।८, और भी द्रष्टव्य-द्रव्यसंग्रह०, गा० २५
८. तत्त्वार्थ, ५।३। और भी देखें इसकी टीकाएं
९. वही, २।१०
१०. वही : २।१२

से ज्ञात होता है कि संसारीआत्मा के ये भेद 'नाम कर्म' के आधार पर किये गये हैं। अर्थात् जिन आत्माओं को त्रस नाम कर्म का उदय होता है उन्हें त्रस और जिनको स्थावर नाम कर्म का उदय होता है, उन्हें स्थावर आत्मा कहते हैं[१]। स्थावर आत्मा के पांच भेद हैं : पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पति। त्रस आत्माओं का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। संक्षेप में तत्त्वार्थसूत्रकार[२] ने संज्ञी और असंज्ञी ये दो भेद किये हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों की अपेक्षा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरेंद्रिय और पंचेन्द्रिय ये पांच भेद उमास्वामी ने इसी ग्रन्थ में किये हैं[३]। मुक्तात्माओं के सामान्य की अपेक्षा कोई भेद नहीं हैं।

(ञ) जैन और अन्य भारतीय दर्शनों में आत्मा-विषयक भेद :

जैन धर्म-दर्शन के आत्मवाद की अन्य भारतीय दर्शनों में मान्य आत्मवाद से तुलना करने पर अनेक समानताएँ-असमानताएँ परिलक्षित होती हैं :

(१) पहली बात यह है कि जैन धर्म-दर्शन में आत्मवाद की मान्यता जैसी प्रारम्भ से थी, वैसी आज भी है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ हैं, किन्तु हिन्दू और बौद्ध परम्परा में आत्म-स्वरूप के विषय में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है[४]।

(२) दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि हिन्दू और बौद्ध दर्शन में एकान्त-दृष्टि से आत्मा का विवेचन हुआ, किन्तु जैन दर्शन में आत्मा का विचार अनेकान्त-दृष्टि से किया गया है।

जैन और बौद्ध दर्शन-सम्मत आत्मा में भेद : (१) जैन और बौद्ध दोनों दर्शनों में चार्वाक समस्त शरीरात्मवाद का निराकरण किया गया है।

(२) जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन और बौद्ध दर्शन अनात्मवादी दर्शन कहलाता है।

(३) जैनदर्शन में आत्मा का भावात्मकप्रत्यय उपलब्ध होता है, किंतु बौद्ध दर्शन में आत्मा वस्तु सत्य न होकर काल्पनिक है।

(४) बौद्ध दर्शन में रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच क्षणिक स्कन्धों के अतिरिक्त नित्यआत्मा नाम की कोई चीज नहीं है, किन्तु

---

१. सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद, २।१२, पृ० १७१
२. तत्त्वार्थ, २।११
३. वही, २।१३-१४
४. भारतीय तत्त्वविद्या, पृ० ८०

जैन दर्शन में रूपादि को पुद्गल कह कर इनसे भिन्न चैतन्यस्वरूप त्रिकालवर्ती आत्मा की कल्पना की गयी है।

(५) संक्षेप में बौद्ध दर्शन में आत्मा क्षणिक और रूपादि पंचस्कन्धरूप या चेतना का प्रवाहमात्र है। जैन दर्शन में आत्मा को द्रव्य की अपेक्षा अपरिवर्तनशील और पर्याय की अपेक्षा परिवर्तनशील है।

(६) क्षणिक आत्मा का प्रतिपादन करके भी बौद्धदर्शन में जैन दर्शन की भांति कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद और निर्वाण का विवेचन किया गया है।

जैन और वैदिक दर्शन में आत्म-विषयक भेद : वैदिक दर्शनों में अलग-अलग दर्शन-परम्परा में आत्मा की अवधारणा अलग-अलग है। अतः जैन दर्शन सम्मत आत्मा के साथ अलग-अलग तुलना करना अनिवार्य है।

जैन सम्मत आत्मा की न्याय-वैशेषिक आत्मा के साथ तुलना : जैन दर्शन और न्याय-वैशेषिक दर्शन दोनों आध्यात्मिक दर्शन हैं। दोनों मत के दार्शनिक आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन आदि भौतिक द्रव्यों से भिन्न एक अभौतिक द्रव्य मानते हैं। दोनों परम्पराओं के चिन्तकों ने चार्वाक और बौद्ध अनात्मवाद की समीक्षा करके आत्मवाद की प्रतिष्ठा की है। उपर्युक्त दोनों परम्पराओं में मौलिक अन्तर निम्नांकित है :

१. न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा चैतन्यवान् माना गया है, किन्तु जैन दर्शन में वह चैतन्यस्वरूप माना गया है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिक चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण मानते हैं, और जैन दार्शनिक चैतन्य को आत्मा का यथार्थ गुण स्वभाव मानते हैं।

२. सुषुप्ति और मोक्ष अवस्था में न्याय-वैशेषिक आत्मा को जड़ रूप मानते हैं, किंतु जैन दार्शनिक अजड़रूप मानते हैं।

३. न्याय-वैशेषिकचिंतक आत्मा को अपरिणामी मानते हैं किंतु जैन दार्शनिक आत्मा को कथंचित् परिणामी मानते हैं।

४. न्याय-वैशेषिक और जैन दार्शनिक इस बात में सहमत हैं कि आत्मा नित्य है, किन्तु न्याय-वैशेषिक इसे कूटस्थ नित्य मानते हैं और जैन द्रव्य की दृष्टि से नित्य एवं पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानते हैं।

---

१. अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैक रूपं नित्यम्। —स्याद्वाद मंजरी, का० ५, पृ० १९

२. तद्भावाव्ययं नित्यम्। तत्त्वार्थ, ५।३०

३. बुद्धयादयोऽष्टावात्म मात्र.... नित्या अनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य....।
—तर्कसंग्रह : अन्नमभट्ट, अवशिष्ट गुण निरूपण

५. दोनों सम्प्रदाय के दार्शनिक यह मानते हैं कि आत्मा अनेक गुणों और धर्मों का आश्रयरूप है। लेकिन दोनों में मौलिक अन्तर भी है। जैनाभिमत आत्मा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख-रूप है, जब कि न्याय वैशेषिक ज्ञान, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार को आत्मा के विशेष गुण मानता है। न्याय-वैशेषिक मत में इन गुणों का मोक्ष में विनाश हो जाता है क्योंकि उन्होंने जीवात्मा को अनित्य माना है। जैन मतानुसार आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विनाश मोक्ष में नहीं होता है। न्याय-वैशेषिक ने जैन मुक्तात्मा की तरह ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न को नित्य मानते हैं।

६. दोनों दार्शनिक आत्मा को अनेक और प्रतिशरीर भिन्न, कर्ता एवं भोक्ता मानते हैं।

७. जैन दर्शन में आत्मा शरीर प्रमाण है और न्याय-वैशेषिक दर्शन में व्यापक है।

८. न्याय-वैशेषिक आत्मा के गुणों को आत्मा से भिन्न मानते हैं, किंतु जैन दार्शनिक अभिन्न मानते हैं[1]।

९. न्याय-वैशेषिक दार्शनिक आत्मा को अमूर्तिक मानते हैं, किंतु जैन दार्शनिक कर्मसम्बद्ध आत्मा को मूर्तिक मानते हैं।

१०. जैन और न्याय वैशेषिक दोनों आत्मा के पुनर्जन्म को मानते हैं। जैन दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा मृत्यु के बाद तीन समय के अन्दर एक या दो समय तक अनाहारक रह कर जन्म ले लेता है। न्याय-वैशेषिक आत्मा विभु होने के कारण आत्मा का स्थानान्तर नहीं मानते हैं। उन्होंने पुनर्जन्म की समस्या नित्य, अणु रूप प्रत्येक शरीर में भिन्न मन की कल्पना करके की है। यही मन एक शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता है, यही आत्मा का पुनर्जन्म कहलाता है।

सांख्ययोग की आत्मा के साथ तुलना : जैन दर्शनाभिमत आत्मस्वरूप विमर्श की सांख्य-योग दर्शन में विवेचित आत्मा के स्वरूप की तुलना करने पर अनेक समताएँ एवं विषमताएँ परिलक्षित होती हैं, जो निम्नांकित हैं—

१. सांख्य-दर्शन में आत्मा के लिए 'पुरुष' शब्द प्रसिद्ध है जब कि जैन दर्शन में जीव और आत्मा दोनों शब्दों का प्रयोग परिलक्षित होता है।

२. दोनों दर्शनों में आत्मा की 'अजीव' या प्रकृति से भिन्न सत्ता स्वीकार की गयी है।

---

१. समयसार : कुन्दकुन्दाचार्य, गा० ३०८

३. जैन एवं सांख्य-योग दार्शनिकों ने आत्मा को चैतन्यस्वरूप माना है। दोनों दार्शनिक परम्पराएँ इस बात से सहमत हैं कि चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं है जैसा कि न्याय वैशेषिक मानते हैं। चैतन्य आत्मा का वास्तविक गुण है और यह आत्मा की समस्त अवस्थाओं में मौजूद रहता है।

४. सांख्यीय आत्मा जैन दर्शन की आत्मा के साथ इस बात में भी समानता रखती है कि यह अनादि है।

५. दोनों दर्शन में न्याय-वैशेषिक की तरह अनन्त आत्माएँ मानी गयी हैं। अतः दोनों दर्शन बहुजीववादी हैं।

६. सांख्य-दर्शन का पुरुष अपरिणामी तथा अपरिवर्तनशील है, लेकिन जैन दर्शन आत्मा द्रव्य दृष्टि से अपरिणामी और पर्याय दृष्टि से परिणामी है।

७. सांख्यों का पुरुष नित्य कूटस्थ है, लेकिन जैनों की आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है।

८. सांख्य दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिक भी मानते हैं कि आत्मा कार्य-कारण की शृंखला से परे है। आत्मा न किसी का कार्य है और न किसी का कारण है[1]।

९. सांख्य और जैन दर्शन में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि सांख्य मत में ज्ञान पुरुष का गुण या स्वभाव नहीं माना गया है। ईश्वरकृष्ण ने ज्ञान को बुद्धि का, जो प्रकृति का परिणाम है, गुण कहा है। इसके विपरीत जैन दार्शनिक आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं।

१०. सांख्य पुरुष को निस्त्रैगुण्य तथा असंग मानते हैं, लेकिन जैन दर्शन में संसारी आत्मा को कर्म सहित और मोक्ष में सांख्य की तरह सत्व, रजस् और तमस् गुण रूप समस्त कर्मो से रहित बतलाई गयी है।

११. सांख्य पुरुष को अपरिणामी और निष्क्रिय मानता है, लेकिन जैन आत्मा को परिणामी और सक्रिय मानते हैं।

१२. सांख्य-दर्शन में आत्मा राग-द्वेष और सुख-दुःख से रहित माना गया है, लेकिन जैन दर्शन में संसारी आत्मा का रागी-द्वेषी और सुखी-दुःखी होने की परिकल्पना की गयी है[2] और निश्चयनय की अपेक्षा सांख्य दर्शन की तरह राग-द्वेषादि से रहित माना गया है।[3]

---

१. समयसार, गा० ३१०

२. दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहं कम्मु जणेइ।—परमात्मप्रकाश, १।६४

३. समयसार, गाथा ५१; मोक्षपाहुड़, गा० ५१

१३. जैन दर्शन में आत्मा को निश्चय नय की अपेक्षा सांख्यीय पुरुष की तरह पाप-पुण्य से रहित माना गया है।

१४. सांख्य ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य जैसे गुण पुरुष के न मानकर प्रकृति के मानता है लेकिन जैन दार्शनिक आत्मा को ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य-स्वरूप मानता है।

१५. सांख्य पुरुष को न्याय-वैशेषिकों की तरह व्यापक मानता है लेकिन जैन देह परिमाण मानते हैं।

१६. सांख्य-दर्शन में पुरुष को निर्लिप्त कह कर उल्लेख किया गया है कि प्रकृति ही बन्धन में पड़ती है और उसी को मोक्ष होता है। लेकिन जैन दर्शन में आत्मा को ही बंध, मोक्ष होने का उल्लेख किया गया है।

१७. सांख्य आत्मा निर्गुणी मानता है, लेकिन जैन आत्मा को सगुणी मानता है।

१८. जैन दर्शन में आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति निहित होने का कथन किया गया, लेकिन सांख्य पुरुष में इस प्रकार की शक्ति का उल्लेख नहीं है।

१९. जैन दर्शन की तरह सांख्य भी पुनर्जन्म मानता है लेकिन जैन दर्शन की तरह सांख्य यह नहीं मानता है कि पुरुष का पुनर्जन्म होता है[१], क्योंकि व्यापक होने के कारण उसका स्थान परिवर्तन होना असम्भव है। अतः लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर का ही पुनर्जन्म होना सांख्य मानते हैं, लेकिन जैन दार्शनिक आत्मा का ही पुनर्जन्म मानते हैं।

२०. जैन दर्शन[२] की तरह सांख्य दार्शनिक भी मानता है कि भेद विज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है।

२१. सांख्य दर्शन में बतलाया गया है कि मुक्तावस्था में आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप और समस्त दुःखों से रहित हो जाती है, लेकिन जैन दर्शन में मुक्तावस्था में आत्मा केवल दुःखों से रहित नहीं होती बल्कि आनन्दादि से युक्त भी होती है। सांख्य दार्शनिक आत्मा को अकर्ता मानते हैं लेकिन जैन दार्शनिक

---

१. सांख्यकारिका, श्लोक ६२

२. प्रवचनसार, ज्ञानतत्त्व अधिकार, गा० ८९-९०

आत्मा को व्यवहार और निश्चयनय दोनों दृष्टियों से न्याय वैशेषिकादि भारतीय दार्शनिकों की तरह कर्ता मानते हैं। समयसार पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने सांख्यों की तरह शुद्धात्मा को अकर्ता माना है[1]।

२२. जैन दार्शनिकों की तरह सांख्य दार्शनिक पुरुष को भोक्ता मानते हैं, लेकिन दोनों में अन्तर भी है। सांख्य दर्शन में आत्मा उपचार से भोक्ता है वास्तविक रूप से नहीं, किन्तु जैन दार्शनिक आत्मा को वास्तविक भोक्ता मानते हैं, काल्पनिक नहीं। समयसार के सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार में बताया गया है कि जो जीव अपने स्वभाव को जानता है वह कर्मफलों को जानता है भोगता नहीं है और अज्ञानी जीव कर्मफलों को भोगता है। अतः वैरागी ज्ञानी कर्मों के बन्ध, उदय आदि अनेक अवस्थाओं को जानता है, भोग नहीं करता इसलिए वह अभोक्ता है[2]। यहाँ जो आत्मा को अभोक्ता कहा है वह सांख्य दर्शन से भिन्न है। क्योंकि सांख्य तो यह कहता है कि अज्ञानी पुरुष बुद्धि में अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने आप को कर्मों का भोक्ता मानने लगता है, वास्तव में वह अभोक्ता है। लेकिन जैन दार्शनिक कुन्दकुन्दाचार्य ने सांख्य की तरह बुद्धि की कल्पना नहीं की है। दूसरी बात यह है कि सांख्य दर्शन में पुरुष को चैतन्य स्वरूप तो माना है लेकिन ज्ञान स्वरूप नहीं माना है, इसलिए सांख्य पुरुष को जैन दर्शन की तरह विशुद्ध ज्ञानी नहीं मान सकता है। सांख्य और जैन दोनों दर्शन आत्म-स्वरूप की उपलब्धि को आत्मा का मोक्ष मानते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सांख्यों का पुरुष-विचार जैन दर्शन के निश्चय-नय की अपेक्षा से वर्णित आत्मविचार से बहुत मिलता होता यदि उन्होंने पुरुष को ज्ञान स्वरूप और सुख स्वरूप मान लिया होता[3]। पं० संघवी जी ने माना है "सहज चेतना शक्ति के सिवाय जितने धर्म गुण या परिणाम जैन सम्मत जीव तत्त्व में माने जाते हैं वे सभी सांख्य योग सम्मत बुद्धि तत्त्व या लिंग शरीर में माने जाते हैं[4]।"

मीमांसा-सम्मत आत्मविचार से तुलना : (१) मीमांसा दर्शन का आत्मा सम्बन्धी विचार न्याय-वैशेषिक के आत्मा सम्बन्धी विचार से मिलता-जुलता

१. समयसार; सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार, गाथा ३२१-२७

२. वही, गाथा ३१६-२०

३. अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणतयहं वि मज्झि जिय विहिआणइ विहिणेइ ॥—परमात्मप्रकाश, १।६६

४. भारतीय तत्त्वविद्या, पृ० ८३

है। प्रभाकर और कुमारिल भट्ट दोनों सम्प्रदाय जैन और सांख्य दार्शनिकों की तरह आत्मा को चैतन्य स्वरूप नहीं मानते हैं। प्रभाकर और उसके मतानुयायी न्याय वैशेषिक की तरह आत्मा को जड़वत् मान कर चैतन्य को उसका आगन्तुक गुण मानते हैं, जो मन और इन्द्रियों के साथ आत्मा का सम्पर्क होने पर उत्पन्न होता है। कुमारिल भट्ट न न्याय वैशेषिक और प्रभाकर की तरह आत्मा को जड़वत् मानता है और न जैन और सांख्यों की तरह चैतन्य स्वरूप मानता है बल्कि बोधाबोधात्मक स्वरूप मानता है।

(२) कुमारिल भट्ट जैन दार्शनिकों की तरह आत्मा को परिणामी और नित्य मानता है, जब कि प्रभाकर तथा उसके मतानुयायी आत्मा को अपरिणामी और नित्य मानते हैं। इसी प्रकार जैनों की तरह ज्ञान को आत्मा का परिणाम मानते हैं।

(३) कुमारिल भट्ट का आत्मा सम्बन्धी विचार जैन दर्शन सम्बन्धी आत्मा के विचार से इस बात में भी समानता रखता है कि आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय है। लेकिन प्रभाकर न्याय वैशेषिक की तरह आत्मा को ज्ञाता मानकर जैन के आत्म-स्वरूप विमर्श से असमानता रखता है।

(४) मीमांसा दर्शन में जैन दर्शन की तरह आत्मा को कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता कह कर अनेक आत्माओं की कल्पना की गयी है। इसी प्रकार दर्शनों में आत्मा अमर, स्वयं प्रकाशमान्, आत्म-ज्योति रूप तथा उत्पत्ति विनाश रहित द्रव्य माना है।

(५) मीमांसा का आत्मा सम्बन्धी विचार जैन दर्शन के आत्मा सम्बन्धी विचार से इस बात में समानता रखता है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा अपने पुराने शरीर को छोड़ कर अपने कर्मों को भोगने के लिए परलोक गमन करती है।

(६) मीमांसा दर्शन में न्याय वैशेषिक की तरह सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और ज्ञान नौ विशेषक गुण आत्मा के कहे गये हैं, जिनका मोक्ष में अभाव हो जाता है लेकिन जैन दार्शनिक ऐसा नहीं मानते हैं।

(७) न्यायवैशेषिक की तरह मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य रहित मानने के कारण भी मीमांसा दर्शन का आत्मा सम्बन्धी विचार जैन दर्शन से भिन्न परिलक्षित होता है।

(८) मीमांसक दार्शनिक न्याय वैशेषिक और सांख्य दार्शनिकों से इस बात में समानता रखते हैं कि आत्मा के मोक्ष होने का अर्थ समस्त दुःखों का आत्यन्तिक विनाश है। अतः जैन दार्शनिकों से मीमांसकों का यह सिद्धान्त भेद

रखता है क्योंकि जैन दार्शनिक मोक्षावस्था में आत्मा को आनन्दादि स्वरूप भी मानते हैं।

(९) कुमारिल भट्ट मानते हैं कि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की सत्ता रहती है, जैन दार्शनिकों की तरह वे यह भी मानते हैं कि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा ज्ञान शक्ति से युक्त रहता है। न्याय-वैशेषिक एवं प्रभाकर की तरह वे यह नहीं मानते हैं कि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा ज्ञान रहित जड़ हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुमारिल भट्ट जैन दार्शनिकों एवं उपनिषदों की तरह यह नहीं मानते हैं कि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा को आनन्द की अनुभूति होती है।

(१०) मीमांसक दर्शन में न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग की तरह आत्मा को व्यापक कह कर जैन दर्शन के आत्म स्वरूप विमर्श से मतभेद प्रकट किया है, क्योंकि जैन दार्शनिक आत्मा को व्यापक न मान कर देहपरिमाण मानते हैं।

(११) जैन दार्शनिकों की तरह मीमांसक दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि आत्मा को कर्मफल की प्राप्ति ईश्वर के द्वारा नहीं होती है। इसके लिए उन्होंने "अपूर्व" की कल्पना की है जब कि जैनों ने फल प्रदान करने की शक्ति कर्मों में ही मानी है। संक्षेप में कुमारिल भट्ट का आत्मा सम्वन्धी विचार जैनों के नजदीक है।

अद्वैत वेदान्त-सम्मत आत्म-विचार के साथ तुलना : (१) जैन दर्शन में आत्मा का जो स्वरूप बतलाया गया है उसके साथ वेदान्तीय आत्मा के स्वरूप की तुलना करने पर विभिन्न समानताएँ और असमानताएँ परिलक्षित होती हैं। जैन दर्शन में जीव और आत्मा में कोई भेद नहीं माना जाता है, दोनों शब्द एक ही सत्ता के सूचक हैं, लेकिन वेदान्त दर्शन में आत्मा जो ब्रह्म कहलाता है, जीव से भिन्न माना गया है। जैन दर्शन में संसारी आत्मा का जो स्वरूप विवेचित किया गया है वेदान्त दर्शन में जीव का वही स्वरूप बतलाया गया है और वेदान्तियों की आत्मा का स्वरूप लगभग वही है जो जैन दर्शन में निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा का स्वरूप है।

(२) जैन एवं सांख्य दार्शनिकों की तरह वेदान्ती भी मानते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है। आत्मा का चैतन्य जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में मौजूद रहता है। क्योंकि उपर्युक्त दार्शनिक न्याय वैशेषिकादि की तरह चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण नहीं मान कर उसका स्वभाव मानते हैं।

(३) वेदान्त दर्शन के चिन्तकों ने सत्, चित्, आनन्द और ज्ञानात्मक रूप आत्मा का कथन किया है। जैन चिन्तक भी आत्मा को सत्, चित् और आनन्द स्वरूप तो मानते हैं और इसके साथ ही अनन्त-दर्शन और अनन्त वीर्य स्वरूप भी मानते हैं।

(४) शंकरा चार्य सांख्यों की तरह आत्मा को वास्तविक कर्ता और भोक्ता न मान कर उपाधियों के कारण कर्ता भोक्ता मानता है, लेकिन जैन दार्शनिक आत्मा को यथार्थ रूप से न्याय-वैशेषिक और मीमांसकों की तरह कर्ता-भोक्ता मानते हैं।

(५) शंकराचार्य जैन आदि भारतीय दार्शनिकों की भांति आत्मा को अनेक न मान कर एक मानते हैं। जैन दार्शनिक शंकराचार्य के इस मत से सहमत नहीं हैं कि जैसे एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की विभिन्न सतहों में पड़ने से अनेक की प्रतीति होती है, उसी भांति अविद्या (शरीर और मनस् की उपाधियों) के कारण एक आत्मा अनेक दिखलाई पड़ते हैं। संक्षेप में शंकराचार्य ने आत्मा को एक और जीव को अनेक माना है, लेकिन जैन आत्मा को अनेक मानते हैं।

(६) अद्वैत वेदान्त मत में आत्मा न्याय-वैशेशिक, सांख्य योग और मीमांसकों की भांति निष्क्रिय है। इसके विपरीत जैन दर्शन में आत्मा को सक्रिय माना गया है।

(७) जैन दार्शनिक आत्मा को सावयवी (प्रदेशी) और अव्यापक मानता है और अद्वैत वेदान्त आत्मा को अन्य भारतीय दार्शनिकों की भांति निरवयवी तथा व्यापक मानता है।

(८) वेदान्तियों के जीव को ईश्वर कर्मों का फल प्रदान करता है लेकिन जैन दार्शनिक मत में आत्मा के कर्मों के फल प्राप्ति में ईश्वर जैसी सत्ता की कल्पना नहीं की गयी है। जैन दार्शनिक वेदान्तियोंकी तरह यह भी नहीं मानते हैं कि जीव का कोई (ईश्वर) शासक है।

(९) शंकराचार्य का मत है कि विशुद्ध ज्ञान द्वारा आत्मा मोक्ष अवस्था को प्राप्त कर सकता है किन्तु इसके विपरीत जैन दार्शनिकों के अनुसार सम्यग् दर्शन ज्ञान और चारित्र के द्वारा आत्मा मोक्षावस्था को प्राप्त कर सकता है। अद्वैत वेदान्ती चिन्तक और जैन चिन्तक दोनों मोक्ष अभावात्मक न मान कर भावात्मक मानते हैं।

(१०) जैन दार्शनिक मत से वेदान्ती दार्शनिक इस बात में भी सहमत हैं कि आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप की प्राप्ति होना मोक्ष है लेकिन जैन दार्शनिक वेदान्तियों की तरह यह नहीं मानते हैं कि मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

(११) शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष अवस्था में आत्मा शुद्ध, चैतन्य और आनन्द स्वरूप होता है किन्तु जैन दर्शन में मोक्षावस्था में आत्मा को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप बतलाया गया है। दोनों दर्शनों में यह भी समानता है कि दोनों आत्मा की जीवन-मुक्ति और विदेह मुक्ति में विश्वास करते हैं।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त दर्शन के साथ तुलना : जैन और विशिष्टाद्वैत चिन्तक दोनों आत्मा को शरीर, मन और इन्द्रियों से भिन्न मानते हैं। जैन दार्शनिक जिसे जीव या आत्मा कहता है, रामानुज उसे 'जीवात्मा' नाम से सम्बोधित करता है।

जैन दार्शनिकों की तरह रामानुज भी आत्मा को कर्मों का कर्ता और भोक्ता, ज्ञाता, स्वयं-प्रकाश, नित्य, अनेक, प्रतिशरीर भिन्न और ज्ञान-आनन्द स्वरूप मानता है।

रामानुज का जीवात्मा-विचार जैन दार्शनिकों के आत्म-विचार से भिन्न भी है। रामानुज जीवात्मा को ब्रह्म का अंग या गुण मान कर ईश्वर परतन्त्र मानता है। जैन दार्शनिकों की तरह रामानुज आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता है, किन्तु ब्रह्म या ईश्वर को जीव का मालिक और संचालक स्वीकार करता है। रामानुज ब्रह्म को जीवों के शुभ-अशुभ कर्मो का फलदाता मानता है लेकिन जैन चिन्तक कर्मो को ही कर्मफल प्रदान करने की शक्ति मानता है। इसी प्रकार रामानुज जीवात्मा को अणुरूप मानता है किन्तु जैन दार्शनिक उसे अणुरूप न मान कर शरीर प्रमाण मानता है।

रामानुज जीवात्मा के तीन भेद—वद्ध-जीव, मुक्त-जीव और नित्य-जीव मानता है। लेकिन जैन दार्शनिक संसारी और मुक्त—ये दो भेद मानते हैं।

रामानुज जीवात्मा की विदेह मुक्ति मानता है, वह जैनों की तरह जीवन मुक्ति को नहीं मानता है। मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म सदृश हो जाता है लेकिन जैन दार्शनिक किसी में लीन या सदृश होना जीव का मोक्ष नहीं मानता है। रामानुज आत्मा की मोक्षावस्था चैतन्य स्वरूप जैनों की तरह मानता है।

(ट) मोक्ष का अर्थ आत्म-लाभ :

भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मान कर उसके स्वरूप और उपाय का सर्वांग एवं विस्तृत विवेचन किया है। सभी भारतीय दर्शन परम्पराओं में मोक्ष की अवधारणा अलग-अलग उपलब्ध होती है। मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाना।[1] भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा के स्वरूप की कल्पना विविध रूपों में की है, किन्तु सभी अध्यात्मवादी दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि आत्मा अनादि, अजर और अमर है। अविद्या, माया, वासना या कर्म के अलग होने पर अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता

१. भारतीय दर्शन : डा० राधाकृष्णन्, भाग २, विषय-प्रवेश, पृ० २३

है।[1] इसी आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप की उपलब्धि को भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग, निःश्रेयस्, निर्वाण और कैवल्य कहा है।

जैन और न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा और अद्वैत-वेदान्त इन छहों हिन्दू दर्शनों ने मोक्ष का अर्थ आत्म-लाभ ही प्रतिपादित किया है[2]। इस विषय में उपर्युक्त दर्शनों के विचारों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

जैन दर्शन में शुद्धात्मा अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य स्वरूप माना गया है। संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का समूल क्षय हो जाने पर मोक्ष में आत्मा को अपने स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है।[3] चार पुरुषार्थों में मोक्ष को ही जैन दार्शनिकों ने परम पुरुषार्थ कहा है[4]। अमृतचन्द्राचार्य ने कहा भी है—जिस समय सम्यक् पुरुषार्थ रूप सिद्धि को प्राप्त अशुद्ध आत्मा समस्त विभावों को नष्ट करके अपने चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह आत्मा कृतकृत्य हो जाता है। अतः आत्म-स्वरूप का लाभ होने को जैन दर्शन में मोक्ष कहा गया है।

न्याय-वैशेषिक दार्शनिक-चैतन्य को आत्मा का स्वाभाविक गुण न मान कर उसे आगन्तुक गुण मानते हैं। उनका मत है कि शरीर, मन, इन्द्रिय और विषय के संयोग से चेतना उत्पन्न होती है।[5] मुक्ति में शरीरादि का अभाव होता है इसलिए मुक्तात्मा में चेतनादि आगन्तुक गुण नहीं रहते हैं[6]। इस दर्शन में मुक्ति का अर्थ आत्मा के स्वरूप का लाभ है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में मुक्ति का अर्थ ईश्वर के आनन्द से आनन्दित होना नहीं माना गया है, जैसा कि बाद के भक्त दार्शनिक माधवाचार्यादि ने माना है।

---

१. भारतीय दर्शन, संपादक डा० न० कि० देवराज, भूमिका, पृ० १६
२. वही
३. (क) सर्वार्थसिद्धि, १।१, उत्थानिका
   (ख) आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
   —सिद्धिविनिश्चय : अकलंकदेव, पृ० ३८४
   (ग) शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः सिद्धपर्यायः।—प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति-जयसेनाचार्य, पृ० १२
४. परमात्मप्रकाशः योगेन्दु, गाथा २।३
५. पुरुषार्थ सिद्ध्युपायः कारिका ११
६. (क) न्यायसूत्र, १।१।२२। (ख) नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः—न्यायमंजरीः जयन्त भट्ट, प्र० ५०८

सांख्य-योग दर्शन में पुरुष (आत्मा) प्रकृति से भिन्न चैतन्यस्वरूप माना गया है, अतः इस दर्शन के चिन्तकों ने प्रकृति और पुरुष के वियोग को मोक्ष कहा है[१]। मोक्ष में पुरुष अपने स्वाभाविक स्वरूप चैतन्य में अवस्थित हो जाता है। यद्यपि योग दर्शन में ईश्वर की कल्पना की गयी है, लेकिन इस दर्शन के दार्शनिकों का अभिमत है कि मुक्त पुरुषों का इस ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं है[२]।

मीमांसा दार्शनिक प्रभाकर ने भी न्याय-वैशेषिक की भाँति यह माना है कि मुक्तात्मा में चेतन का अभाव रहता है। इसका कारण यही है कि इन्होंने आत्मा को जड़वत् बतलाया है। इसलिए प्रकरणपंचिका में मोक्ष को आत्मा का प्राकृतिक स्वरूप कहा है।[३]

अद्वैत-वेदान्त : अद्वैत-वेदान्त दर्शन में भी आत्मा का स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त करना मोक्ष माना गया है[४]। अद्वैत-वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म में तादात्म्य है। इसलिए मोक्ष का अर्थ आत्मा का ब्रह्म में विलीन हो जाना है। डॉ० न० कि० देवराज ने लिखा है "अद्वैत-वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म को अभिन्न माना जाता है, इसलिए मोक्ष को आत्मा का स्वरूप-लाभ कहना ही उपयुक्त है जितना उसे ब्रह्म-लाभ अथवा ब्रह्म-प्राप्ति कहना[५]।" मोक्ष आत्मा और ब्रह्म के एकाकार होने की अवस्था का नाम है और ब्रह्म सत्-चित्-आनंद-स्वरूप है, इसलिए मोक्षावस्था आनन्दस्वरूप है।[६]

विशिष्टाद्वैत वेदान्त : रामानुजाचार्य यद्यपि इस कथन से बहुत कुछ सहमत हैं कि आत्मस्वरूप का ज्ञान होना मोक्ष है। लेकिन यहाँ पर मोक्ष का अर्थ आत्म-स्वरूप की उपलब्धि नहीं बल्कि आत्मा का ईश्वर के साथ निरन्तर सम्पर्क होना है।[७] रामानुज शंकर के इस मत से सहमत नहीं हैं कि मोक्षावस्था में आत्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है। मुक्तात्मा ब्रह्म के सदृश हो जाती है। अद्वैत-वेदान्त में मोक्ष-प्राप्ति अपने प्रयासों द्वारा कही गयी है जबकि रामानुज ईश्वर-भक्ति के द्वारा ही मानता है। ईश्वर की कृपा से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुक्तात्मा ईश्वर की भाँति हो जाती है और समस्त दोषों से मुक्त

---

१. (क) प्रकृतिवियोगो मोक्षः.....। .....षड्दर्शनसमुच्चय : हरिभद्र, कारिका ४३

२. (ख) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।.....योगसूत्र, १।३

३. स्वात्मस्फुरणरूपः।—प्रकरण पंचिका : प्रभाकर, पृ० १५७

४. स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः।—तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्य, १।११

५. भारतीय दर्शन, संपादक डा० एन० के० देवराज, भूमिका, पृ० १७

६. वही

७. वही, पृ० ५७७-७८

होकर ईश्वर से उसका साक्षात्कार होना मोक्ष है, आत्म-साक्षात्कार नहीं।[1] रामानुज जीवन्मुक्ति में विश्वास नहीं करता है। वह केवल विदेह-मुक्ति में विश्वास करता है। इसके विपरीत बौद्ध, जैन, सांख्य-योग, अद्वैत-वेदान्त दार्शनिक और उद्योतकर भी अपर और पर निःश्रेयस् के भेद करके जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति को मानते हैं। इन दार्शनिकों ने जीवन्मुक्ति की कल्पना करके यह सिद्ध कर दिया कि मुक्ति केवल आस्था या विश्वास की चीज नहीं है बल्कि यह एक यथार्थ सिद्धान्त है जिसका अनुभव मुमुक्षु मनुष्य स्वयं अपने इसी जीवन में कर सकता है।

माधवाचार्य भी मोक्ष को रामानुज की तरह भगवत् कृपा का फल मानता है। डा० नंदकिशोर देवराज ने इनके मोक्ष के अनेक रूपों का उल्लेख किया है। जीव भगवान् के साथ एक ही जगह रहता है, वहाँ वह भगवान् के निरन्तर दर्शन प्राप्त करता है। माधवाचार्य उसे सालोक्य-मुक्ति कहते हैं। सामीप्य-मुक्ति में जीव ईश्वर के और निकट आ जाता है। सारूप्य-मुक्ति पूर्वोक्त दोनों मुक्तियों से ऊँची है, इसी को सायुज्य-मुक्ति कहते हैं। इस मुक्ति के विषय में कहा गया है कि जो ईश्वर की निरन्तर सेवा करते हैं और बाह्य आकार में भगवान् से मिलते-जुलते हैं, उन्हें यह मोक्ष मिलता है। सायुज्य-मुक्ति में मुक्तात्मा भगवान् में प्रवेश करके उनके आनन्दपूर्ण जीवन का सहभागी होता है।[2] निम्बार्क के अनुसार मोक्ष भगवान् के स्वरूप का उपभोग-रूप है। इस मत में आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप-ज्ञान को मोक्ष कहा है[3]। वल्लभाचार्य का भी यही मत है। स्पष्ट है कि माधव, निम्बार्क और वल्लभ भक्तदर्शनों में मोक्ष का अर्थ आत्मलाभ नहीं बल्कि ईश्वर से निरन्तर सम्बन्ध है।

इनके अलावा भारतीय दर्शन में, विशेष रूप से जैनदर्शन और छह हिन्दू दर्शनों में मोक्ष का अर्थ किसी पदार्थ से योग करना नहीं है, बल्कि मोक्ष का अर्थ आत्मलाभ या आत्मा को अपने स्वाभाविक स्वरूप की उपलब्धि है।

(ठ) दार्शनिक-निकायों में आत्म-सम्बन्धी समस्याएँ और उनका हल

अब हम यहाँ पर आत्म-सम्बन्धी विविध समस्याओं का और उनके विषय में विविध दर्शनों का मत प्रस्तुत करेंगे। दार्शनिक निकायों के आधारभूत सूत्र ग्रन्थ और उस पर लिखे भाष्य एवं टीकाओं में निम्न प्रश्न उठाये गये हैं :

---

१. भारतीय दर्शन, संपादक डा० एन० के० देवराज, पृ० ५७७-७८

२. वही, पृ० ६१६

३. वही, पृ० ६००

१. आत्मा का अस्तित्व : चार्वाक दर्शन आत्म-तत्त्व, पुनर्जन्म और मोक्ष को नहीं मानता। बौद्ध दर्शन पुनर्जन्म तथा मोक्ष या निर्वाण तो स्वीकार करता है लेकिन नित्य आत्म-तत्त्व को नहीं मानता। इनके विरुद्ध सभी दार्शनिक निकाय आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने का गम्भीर प्रयत्न करते हैं। इन प्रश्नों से सम्बन्धित चिन्तन का विवरण हमने अगले अध्याय में दिया है।

२. आत्मा का स्वरूप : दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आत्मा के स्वरूप को निर्धारित करने की है। इस विषय पर विभिन्न दर्शनों में पर्याप्त मतभेद है। चूँकि हमारे शोध-प्रबन्ध का मुख्य विषय जैन दर्शन है, इसलिए हमने उसे केन्द्र में रखते हुए आत्मा के स्वरूप के विवेचन का विवरण दिया है। जैनेतर दर्शनों के मन्तव्यों को मुख्यतः तुलना के लिए प्रदर्शित किया है।

३. कर्मविपाक एवं पुनर्जन्म : तीसरी महत्त्वपूर्ण समस्या कर्मविपाक एवं पुनर्जन्म की है। यद्यपि भारत के अधिकांश दर्शन कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म को मानते हैं। किन्तु कर्मविपाक और पुनर्जन्म की प्रक्रियाओं में गम्भीर मतभेद है। ये मतभेद विभिन्न हिन्दू-वैदिक तथा अवैदिक दर्शनों के बीच भी हैं।

४. बन्धन और मोक्ष : चौथी मुख्य समस्या आत्मा के बन्धन और मोक्ष की है। यहाँ भी विभिन्न दर्शनों में गम्भीर मतभेद पाये जाते हैं। वैदिक दर्शनों में अज्ञान से बन्ध और ज्ञान से मोक्ष बताया गया है। बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि अविद्या-बंध का कारण और शील, समाधि एवं प्रज्ञा-मोक्ष का साधन है। जैन दार्शनिक सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य की समष्टि को मोक्ष प्राप्त करने का साधन बतलाते हैं। विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव दर्शनों के अलावा सभी वैदिक, जैन और बौद्ध दर्शनों की मान्यता है कि जीवन्मुक्ति ही जीवन का लक्ष्य है। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन का अभिमत है कि मोक्ष दुःख के अभाव की अवस्था है, आनन्द की अवस्था ही नहीं बल्कि सुख या आनन्द की अवस्था रूप है। इस प्रकार स्पष्ट परिलक्षित होता है कि बन्धन और मोक्ष के विषय में भी पर्याप्त मत वैषम्य है।

हमारा अन्तिम अध्याय उपसंहार है, जिसमें हमने आत्मा-सम्बन्धी विभिन्न समाधानों का अलग-अलग एवं तुलनामूलक मूल्यांकन किया है। प्रत्येक दर्शन के मन्तव्यों में कुछ बातें ऐसी हैं जो उसे तर्कसंगत और ग्राह्य बनाती हैं, साथ ही प्रत्येक समाधान की अपनी कमियाँ और सीमाएँ हैं। जैन दर्शन का सहानुभूतिपूर्ण विवरण देते हुए मैंने उसकी कमियों पर भी नजर डालने की कोशिश की है। यही प्रक्रिया अन्य दर्शनों के समाधानों में की गयी है।

●

आत्म-अस्तित्व-विमर्श

भारतीय दर्शन में आत्म-सिद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय माना गया है, क्योंकि आत्मा के अस्तित्व के विषय में परस्पर विरोधी विचारधाराएँ उपलब्ध होती हैं। प्रारम्भ में अनात्मवादियों ने समय-समय पर आत्मास्तित्व बाधक तर्क प्रस्तुत किये हैं और आत्मवादियों ने उनके तर्कों का खण्डन करके प्रबल युक्तियों द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध की है। भारतीय दर्शन में चार्वाक और बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन माने जाते हैं क्योंकि इन दर्शनों में आत्मा नामक ऐसा कोई तत्त्व नहीं माना गया है, जो पूर्व और उत्तर जन्म में स्थायी रूप से रहता हो। शेष दर्शन पुनर्जन्म रूप में आत्म-तत्त्व को स्वीकार करते हैं, इसलिए आत्मवादी दर्शन कहलाते हैं। यहाँ अनात्मवादियों के विचार अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किये जाते हैं।

(क) चार्वाक दर्शन का अनात्मवाद :

चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति नामक ऋषि थे। चार्वाक दर्शन के अनात्मवाद का सूत्रपात आत्मवाद के साथ हुआ प्रतीत होता है। यह प्रायः होता है कि विधि के साथ निषेध अवतरित होता है। अतः यह आश्चर्य नहीं कि आत्म-चिन्तन के साथ अनात्म-चिन्तन का प्रादुर्भाव हुआ हो। चार्वाक सिद्धान्त भौतिकवाद भी कहलाता है। अन्य प्राचीन ग्रन्थों के साथ सूत्रकृतांगसूत्र[1] नामक दूसरे अंग में भी इसके अनात्मवाद का परिचय उपलब्ध होता है। चार्वाक एक मात्र इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तत्त्वों का अस्तित्व मानते हैं[2]। वे अपनी इस प्रमाण मीमांसा के अनुसार तर्क करते हैं कि आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए किसी ऐसे तत्त्व की सत्ता नहीं है[3], जिसका पुनर्जन्म होता हो और जिसे आत्मा कहा जा सके। यही चार्वाक का अनात्मवाद है। इस अनात्मवाद से निम्नांकित वाद फलित हुए जान पड़ते हैं—शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मानसात्मवाद, प्राणात्मवाद और विषय चैतन्यवाद।

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र, १।१।१।७।

२. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्।—चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा—डा० सर्वानन्द पाठक; सूत्र ५।२०, पृ० १३८।

३. (क) यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।....सर्वदर्शनसंग्रह : माधवाचार्य, पृ० ३।

(ख) षड्दर्शनसमुच्चय, का० ८०।

शरीरात्मवाद : चार्वाक दर्शन का एक सम्प्रदाय शरीर को ही आत्मा मानता है[1]। सूत्रकृतांग में तज्जीवतच्छरीरवाद के रूप में शरीरात्मवाद का विवेचन किया गया है।[2] इस मत के मानने वालों का तर्क है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार महाभूतों की सत्ता है। इन चारों भूतों के शरीराकार में परिणत होने से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है[3], जैसे मादक द्रव्य महुआ में जौ आदि के मिलने से मादकता उत्पन्न हो जाती है।[4] अतः चैतन्य विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है।[5] देहात्मवादियों के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए माधवाचार्य ने लिखा है कि "मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ" इस कथन से भी शरीर ही आत्मा सिद्ध होता है। मृत्यु के बाद शरीर के नष्ट होने के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है।

समीक्षा : न्याय-वैशेषिकादि अन्य भारतीय दार्शनिकों ने भी शरीरात्मवादियों की समीक्षा की है।; जो निम्नांकित हैं :—

१. पहली बात यह है कि पृथ्वी आदि महाभूत अचेतन हैं। पृथ्वी धारण स्वभाव वाली है, वायु ईरण स्वभाव है, जल द्रव स्वभाव और अग्नि उष्णता स्वभाव है। इस प्रकार के अचेतन और धारणादि स्वभाव वाले भूतों से चैतन्य स्वरूप आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती[6]। हरिभद्र ने भी शास्त्रवार्तासमुच्चय में यही कहा है।

२. अकलंकदेव शरीरात्मवाद का निराकरण करते हुए कहते है कि यदि चैतन्य भूतों के संयोग से उत्पन्न होता है तो जिस प्रकार पृथिवी आदि के विभक्त होने पर कम और अविभक्त होने पर अधिक गुण दिखलाई पड़ते हैं उसी प्रकार शरीर के अवयवों के विभक्त होने पर ज्ञानादि गुणों की न्यूनता और अविभक्त होने पर अधिकता परिलक्षित नहीं होती है।[8] इसलिए सिद्ध है कि शरीराकार परिणत भूतों से चैतन्य नहीं उत्पन्न होता है।

३. तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंकदेव एवं शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र कहते हैं कि यदि सुखादि चैतन्य शरीर के धर्म हैं तो मृत शरीर में भी रूपादि गुणों

१. सर्वदर्शन संग्रह, पृ० १०
२. सूत्रकृतांग, २।१।९
३. वृहदारण्यकोपनिषद्, २।४।१२
४. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, ३'३।५३
५. सर्वदर्शनसंग्रह (हिन्दी अनुवाद), पृ० १०
६. प्रमेयरत्नमाला, ४।८, पृ० २९६
७. शास्त्रवार्तासमुच्चय, का० १।४३-४४
८. तत्त्वार्थवार्तिक : अकलंकदेव, २।७।२७, पृ० ११७

की भाँति चेतना विद्यमान होनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता है। अतः सिद्ध है कि चैतन्य शरीर का धर्म नहीं है।[१]

४. शरीरात्मवादियों के दृष्टान्त का खण्डन करते हुए अकलंकदेवभट्ट कहते हैं कि यह दृष्टान्त विषम है। मदिरा के प्रत्येक घटक में मादकता रहती है लेकिन प्रत्येक भूतों में चैतन्यता नहीं रहती है। अतः शरीराकार परिणत भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है।[२]

५. "मैं मोटा हूँ" "मैं कृश हूँ" इन प्रत्ययों से शरीर आत्मा सिद्ध नहीं होता हैं। प्रभाचन्द्राचार्य ने इस तर्क के निराकरण में कहा है कि ये प्रत्यय शरीर में अनौपचारिक रूप से होते हैं। जिस प्रकार किसी विश्वसनीय नौकर को मालिक कहने लगता है कि यह नौकर ही मैं हूँ, यद्यपि नौकर मालिक नहीं होता है। दोनों अलग-अलग होते हैं। इसी प्रकार आत्मा और शरीर दोनों भिन्न-भिन्न होने पर व्यावहारिक रूप से अभिन्न प्रतीत होते हैं[3]। जैन दार्शनिकों ने शरीरात्मवाद सिद्धान्त के निराकरण के लिए और भी अनेक तर्क दिये हैं, जिनको यहाँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है[४]।

इन्द्रियात्मवाद : चार्वाक सम्प्रदाय का एक वर्ग इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य[५] और वेदान्तसारादि[६] ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का परिचय उपलब्ध होता है। इस मत के मानने वालों का तर्क है कि शरीरादि इन्द्रियों के अधीन है। इन्द्रियों के विद्यमान रहने पर ही पदार्थों का ज्ञान होता है और उनके अभाव में नहीं होता है[७]। दूसरी बात यह है कि "मैं अन्धा हूँ", "मैं बधिर हूँ" इत्यादि प्रयोगों से सिद्ध है कि इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं; क्योंकि

१. शास्त्रवार्तासमुच्चय, १।६५-६६
२. तत्त्वार्थवार्तिक, २।७।२७, पृ० ११७
३. (क) प्रमेयकमलमार्तण्ड, १।७, पृ० ११२। (ख) न्यायकुमुदचन्द्र भाग १, पृ० ३४९
४. द्रष्टव्यः प्रमेयकमलकमार्तण्ड, १।७, पृ० ११०-१२०। (ख) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३४३-४९। (ग) शास्त्रवार्तासमुच्चय, पहला स्तवक, का० ३०-११२। (घ) अष्टसहस्री, पृ० ३६-३७, ६३-६६।
५. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, पृ० ५२
६. वेदान्तसार, पृ० २६
७. पश्यामि शृणोमीत्यादि प्रतीत्या मरणपर्यन्तं।
यावन्तीन्द्रियाणी तिष्ठन्ति तान्येवात्मा ॥—चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय समीक्षाः डा० सर्वानन्द पाठक, सूत्र ५।३६ पृ० १४०

आत्मवादी "मैं" प्रत्यय आत्मा के लिए प्रयुक्त होना मानते हैं। यहाँ पर "मैं" प्रत्यय इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

समीक्षा : आचार्य प्रभाचन्द्र ने इन्द्रियात्मवाद की समीक्षा करते हुए कहा है—

१. इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ अचेतन हैं, भूतों का विकार रूप हैं और बसूलादि की तरह वे करण हैं। अतः जिस प्रकार अचेतन और करण रूप बसूला आत्मा नहीं है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं[1]। न्यायकंदली[2] में भी यही तर्क दिया है।

२. चैतन्य को इन्द्रियों का गुण मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों के नष्ट होने पर चैतन्य नष्ट नहीं होता है[3]। प्रशस्तपाद भाष्य[4] में यही तर्क उपलब्ध होता है।

३. षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न ने कहा है कि यदि इन्द्रियाँ आत्मा होतीं तो उनके नष्ट होने पर स्मरणादि ज्ञान नहीं होना चाहिए। लेकिन इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी स्मरणादि ज्ञान होता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा इन्द्रियों से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार खिड़कियों से देखने वाला खिड़कियों से भिन्न होता है।[5]

४. प्रभाचन्द्र इन्द्रियात्मवाद का निराकरण करते हुए कहते हैं कि इन्द्रियों को आत्मा मान लेने पर वे कर्ता हो जाएंगी, और ऐसा होने पर करण का अभाव हो जाएगा। करण के अभाव में कर्ता कोई क्रिया नहीं कर सकेगा। इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी को करण मानना सम्भव नहीं है[6]। अतः इन्द्रियों को आत्मा मानना व्यर्थ है।

---

१. नेन्द्रियाणि चैतन्यगुणवन्ति करणत्वाद्भूतविकारत्वाद्वास्यादिवत्।— प्रमेयकमलमार्तण्ड, १।७, पृ० ११४
२. न्यायकन्दली : श्रीधराचार्य, पृ० १७२
३. तद्गुणत्वे च चैतन्यस्येन्द्रियविनाशे प्रतीतिनस्याद्—प्रमेयकमलमार्तण्ड, १।७, पृ० ११४। (ख) न्यायकुमुदचंद्र, भाग १, पृ० ३४६
४. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० ४९
५. षट्दर्शनसमुच्चय, टीका: गुणरत्न, का० ४९ पृ० २४६
६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, १।७, पृ० ११४

५. इन्द्रियात्मवाद में एक यह भी दोष आता है कि इन्द्रियाँ अनेक हैं। अतः एक शरीर में अनेक आत्माओं का अस्तित्व मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से अनेक दोष आते हैं।[1]

६. अनेक इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय को आत्मा मानना प्रमाण विरोधी कथन है। क्योंकि अमुक इन्द्रिय आत्मा है, इसका निर्णय करना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि एक इन्द्रिय को चैतन्यस्वरूप मान कर शेष को करण मानने पर एक स्वतन्त्र आत्मा सिद्ध हो ही जाती है[2]।

मानसात्मवाद : चार्वाक दर्शन का एक वर्ग मन को ही आत्मा मानता है। इनका तर्क है कि मन से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ऐसा नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके। मन के सक्रिय होने पर ही इन्द्रियाँ अपने विषय को जान सकती हैं। मैं संकल्प-विकल्पवान् हूँ इस प्रकार का अनुभव मन को ही होता है। अतः मन ही आत्मा है[3]। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी मानसात्मवाद का उल्लेख उपलब्ध है[4]।

समीक्षा : १. प्रमेयकमलमार्तण्ड में मानसात्मवाद के निराकरण में कहा है कि मन वसूलादि की तरह अचेतन करण है, इसलिए वह चैतन्य का आधार नहीं हो सकता है। चैतन्य का आधार न होने के कारण मन को आत्मा कहना ठीक नहीं है[5]। न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसकों ने भी यही तर्क मानसात्मवाद के खण्डन में दिया है।[6]

२. दूसरी बात यह है कि मन को आत्मा मानने से वह रूपादि समस्त विषयों का ज्ञाता हो जायगा। ऐसा मानने पर किसी दूसरे को आन्तरिक करण मानना पड़ेगा, जिसके द्वारा चार्वाकों का मानसात्मा आन्तरिक और बाह्य विषयों को जान सके अन्यथा क्रिया नहीं हो सकेगी। इस प्रकार का आन्तरिक करण मन के अलावा अन्य नहीं हो सकता है। अतः सिद्ध है कि मन आत्मा नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि यदि अन्य कोई आन्तरिककरण

---

१. न्यायकुमुदचंद्र, ३४६
२. तथा नामान्तरकरणात्।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ११५
३. वेदान्तसार : सदानन्द, पृ० ५३। (ख) न्यायकुमुदचंद्र, पृ० ६४७
४. अन्योन्तरात्मा मनोमयः।—तैत्तिरीयोपनिषद्, २।३।१
५. प्रमेयकमलमार्तण्ड : प्रभाचन्द्र, १।७, पृ० ११५
६. (क) न्यायकन्दली भा० : वात्स्यायन, पृ० ४२।
   (ख) परमात्म प्रकाश : पृ० १४९

सम्भव है, तो इसका अर्थ है कि प्रकारान्तर से मानसात्मवादियों ने आत्मा को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार कर लिया है[१]।

३. प्रभाचन्द्र मानसात्मवादियों से पूछते हैं कि आप नित्य मन को आत्मा मानते हैं या अनित्य मन को[२] ?

नित्यमन आत्मा नहीं है : यदि मानसात्मवादी नित्य मन को आत्मा मानता है तब उसके सिद्धान्त में माने गये भूतचतुष्टय की संख्या का व्याघात होता है। दूसरा दोष मानसात्मवाद में यह भी आता है कि दूसरों के सिद्धान्त को भी मानना पड़ेगा, क्योंकि न्यायवैशेषिक आदि मन को नित्य मानते हैं तथा जैन दर्शन भी भावमन को नित्य ही मानता है। अतः नित्यमन को आत्मा नहीं माना जा सकता है[३]।

अनित्य मन भी आत्मा नहीं है : यदि अनित्य मन को आत्मा माना जाए तो इस विषय में प्रश्न होता है कि इस अनित्य मन के पृथ्वी आदि भूत कारण हैं या अन्य कोई दूसरा कारण है[४]। यदि अनित्यमन का कारण पृथ्वी आदि भूत हैं तो पृथ्वी आदि भूतों की तरह अनित्यमन भी भौतिक ही होगा और भौतिक होने से पृथ्वी आदि भूतों की तरह चेतना का वह अनित्य मन आश्रय नहीं हो सकेगा[५]। अतः नित्य मन की तरह अनित्य मन भी चेतना का आश्रय न होने के कारण मानसात्मवाद ठीक नहीं है।

प्राणात्मवाद : कुछ चार्वाक प्राण को आत्मा मानते हैं। प्राणों के निकल जाने पर शरीर, इन्द्रियादि सब व्यर्थ हो जाते हैं। 'मैं प्यासा हूँ', 'मैं भूखा हूँ' इस प्रकार के प्रयोगों से भी सिद्ध होता है कि प्राण ही आत्मा है[६]। प्राणात्मवादियों का तर्क है कि उपनिषदों में भी प्राण को ही आत्मा कहा गया है[७]।

---

१. कर्तृत्वोपगमे प्रकारान्तरेणात्मैवोक्तः स्यात्।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, १।७, पृ० ११५

२. ननु तत् नित्यम्, अनित्यं वा स्यात् ?—न्यायकुमुदचंद्र, भाग १, परि० २, पृ० ३४७

३. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, परिच्छेद २, पृ० ३४७

४. अथ अनित्यम्, तत् किं भूतहेतुकम् अन्यहेतुकं वा ?—वही

५. भूतहेतुकत्वे प्रागुक्तभौतिकत्वाद्यनुमानेभ्यः चेतनाश्रयत्वानुपपत्तिः।—वही

६. अपरश्चार्वाकः .....। प्राणाभाव इत्यादि चलनायोगादहमशयवानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति।—वेदान्तसार, पृ० ५२

७. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।२।३। (ख) कौषितकी, ३।२। (ग) छान्दोग्य, ३।१५।४

समीक्षा—जैन दर्शन प्राणों को आत्मा नहीं मानता है, क्योंकि जैन-दर्शन में दो प्रकार के प्राण माने गये हैं—द्रव्य प्राणऔर भाव प्राण। चार्वाक जिन प्राणों को आत्मा मानता है वे इस दर्शन में अचेतन और पौद्गलिक माने गये हैं। आत्मा चैतन्य स्वरूप है इसलिए प्राणों को आत्मा कहना ठीक नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि प्राण आत्मा नहीं है, क्योंकि प्राण आत्मा का प्रयत्न विशेष है। प्राण आत्मा पर आधारित है और आत्मा उसका आधार है। अतः आत्मा प्राण से भिन्न है।[१]

विषय चैतन्यवाद : कुछ चार्वाक विचारकोंका मत है कि आत्मा की सत्ता नहीं है और न चैतन्य इन्द्रियादि का गुण है। क्योंकि यह देखा जाता है कि इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं; मगर विषयों का स्मरण बना रहता है। अतः चैतन्यता विषय या पदार्थ का गुण है।

समीक्षा : १. प्रभाचन्द्राचार्य ने इस सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। उसका तर्क है कि अर्थ चैतन्यता का आधार नहीं है क्योंकि विषयों के निकट न होने पर एवं उनके नष्ट होने पर भी चैतन्य गुण की प्रतीति होती है। यदि चैतन्यता अर्थ का गुण या धर्म होता तो विषयों के दूर होने पर या नष्ट हो जाने पर भी स्मृत्यादि की प्रतीति नहीं होना चाहिए, मगर उनकी प्रतीति होती है। इसलिए सिद्ध है कि चैतन्य का आधार विषय नहीं है[२]।

(२) दूसरी बात यह है कि गुणों के नष्ट होने पर भी गुण की प्रतीति होना माना जाए तो इस गुणी में ये गुण हैं, यह कथन नहीं बन सकेगा। इसलिए सिद्ध है कि चैतन्य विषयों का गुण नहीं है, किन्तु अर्थ से भिन्न नित्य पदार्थ का गुण है जो नित्य पदार्थ इस चैतन्य का आधार है, वही आत्मा है[3]। इस प्रकार चार्वाक अनात्मवाद पर विचार करने के बाद निष्कर्ष निकलता है कि यह सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १७६

२. नापि विषयगुणः, तद्सान्निध्ये तद्विनाशे चानुस्मृत्यादिदर्शनात्।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, १।७, पृ० ११५। (ख) न्यायकन्दली, पृ० १७२। (ग) न्यायकुमुदचन्द्र भाग १; प्रभाचन्द्राचार्य, पृ० ३४७। (घ) न्यायदर्शनम्: वात्स्यायन भाष्य, ३।२।१८, पृ० ३९५

३. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृ० ३४७; प्रमेयकमलमार्तण्ड, १।७, पृ० ११५

(ख) बौद्ध-दर्शन का अनात्मवाद

बौद्ध-दर्शन का अनात्मवाद क्षणिकवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त पर निर्भर है। इस दर्शन का अनात्मवाद सर्वथा तुच्छाभाव रूप नहीं है, क्योंकि आत्मवादियों की तरह इस दर्शन में भी पुण्य-पाप, कर्म-कर्मफल, लोक-परलोक, पुनर्जन्ममोक्ष की मान्यता एवं महत्ता है। भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद के पहले तत्कालीन परिस्थिति का संक्षिप्त उल्लेख करना अनुचित न होगा। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त[1] और मज्झिम निकाय के सब्बासव सुत्तन्त[2] के अनुसार उस समय दो प्रकार की विचारधाराएं थीं। शाश्वत आत्मवादी विचारधारा, जो आत्मा की नित्यता में विश्वास करती थी—दूसरी उच्छेदवादी विचारधारा थी, जो आत्मा को उच्छेद अर्थात् अनित्य मानती थी। भगवान् बुद्ध ने इन दोनों विचारधाराओं का खण्डन किया। पुग्गल पंजत्ति के अनुसार एक और विचारधारा प्रचलित थी जिसके अनुसार आत्मा का अस्तित्व न इस जीवन में है और न अन्य जीवन में[3]। यही कारण हैं कि भगवान् बुद्ध कहते थे कि आत्मा सम्बन्धी किसी प्रश्न का उत्तर देने में प्रचलित एकान्तिक परम्पराओं से किसी एक का समर्थन हो जायेगा। अतः इस विषय में मौन धारण करना ही उन्होंने श्रेयस् समझा[4]। भगवान् बुद्ध को तत्कालीन प्रचलित आत्मविषयक कल्पनाओं में एक दोष यह दृष्टिगत हुआ कि कुछ आत्मवादी रूपादि में सत्काय दृष्टि रखते हैं। इस कारण अहंकार और ममत्व बढ़ता है जो संसार के आवागमन का कारण है[5]। अतः बुद्ध ने जो जीवों को दुःख से तथा संसार के बन्धनों से मुक्त कराना चाहते थे सत्काय दृष्टि को समस्त दुःखों की जड़ कहा[6] और जीवों को विराग तथा निर्ममत्व का उपदेश दिया[7]। उपर्युक्त कारणों से प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध की दृष्टि में अनात्मवाद का उपदेश देना श्रेयस्कर रहा, पर इसका मतलब यह नहीं कि उन्हें आत्मास्तित्व में विश्वास नहीं था। वे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते थे, लेकिन उसे नित्य और व्यापक न मानकर क्षणिक-चित्त संततिरूप स्वीकार करते हैं, जैसा उनके व्याख्यानों से अवगत होता है।

---

१. दीघनिकाय, १।१

२. मज्झिमनिकाय, १।१।२

३. भारतीय दर्शन, भा० १ : डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३५५ की पाद टिप्पणी

४. वही, पृ० ३५४

५. मज्झिमनिकाय, चूलवेदल्ल सुत्त।

६. मज्झिमनिकाय, सब्बासवसुत्त

७. भारतीय दर्शन की रूपरेखा : एम० हिरियन्ना, पृ०१३८

उदाहरण के लिए बुद्ध के द्वारा अनात्मवाद के विषय में सारनाथ में पंच भिक्खुओं को दिया गया उपदेश उल्लिखित किया जाता है। महावग्गादि[1] में अनात्मवाद का उल्लेख हुआ है। उसका सार यह है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान न तो समष्टि रूप से आत्मा है और न व्यष्टि रूप से; क्योंकि ये पंचस्कन्ध *अनित्य, परिवर्तनशील, बाधावान्, रोगवान् एवं दुःखकारक* हैं। इसलिए इनमें राग और मोह नहीं रखना चाहिये बल्कि इनसे विरक्त होकर विमुक्त का साक्षात्कार करना चाहिए। महावग्ग के अनत्तपरियायो सुत्त[2] में भगवान् भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं: भिक्षुओ! रूप अनात्म है। यदि भिक्षुओ! रूप आत्मा होता तो इसमें रोग न होता। इस रूप के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि मेरा रूप ऐसा हो और मेरा रूप ऐसा न हो। रूप आत्मा नहीं है, इसलिए भिक्षुओ! रूप में रोग होता है और हम रूप के सम्बन्ध में नहीं कह सकते हैं कि मेरा रूप इस प्रकार हो, इस प्रकार न हो। इसी प्रकार क्रमशः वेदना, संज्ञा, संसार और विज्ञान को अनात्म होने का विस्तृत उपदेश दिया है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद के उपदेश से[3] स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने यह तो बताया कि अमुक पदार्थ आत्मा नहीं है लेकिन न तो उन्होंने यह उपदेश दिया कि आत्मा क्या है और न उसके अस्तित्व का कहीं खण्डन ही किया। भगवान् बुद्ध ने पांच स्कन्ध, बारह आयतन और अठारह धातुओं को अनात्म कहा था[4]। लेकिन भगवान् बुद्ध के इस कल्याणकारी अनात्मवाद का अर्थ बाद के बौद्ध विद्वानों और सम्प्रदायों ने अपने-अपने अनुकूल करके बदल दिया। भगवान् बुद्ध के पश्चात् उनके अनात्मवाद के निम्नांकित रूप उपलब्ध होते हैं।[5]

१. पुद्गल नैरात्म्यवाद
२. पुद्गलास्तिवाद

---

१. (क) महावग्ग, १।६, पृ० ११-१६। (ख) मज्झिमनिकाय, १।३।६
२. महावग्ग परियायो सुत्त, पृ० १६-१८
३. विस्तृत विवेचन के लिए देखें: (क) दीघनिकाय, १. ९. ३, २. ३। (ख) मज्झिमनिकाय, १।१।२, १।३।२, १।३।८, १।४।५, १।४।८, १।५।३, ३।१।२, ३।१।९, ३।५।२, ३।५।४, ३।५।५, ३।५।६ आदि। (ग) संयुत्त निकाय, १।३।३, १।४।३, और १२।७।१० आदि
४. मज्झिमनिकाय—षडायतन वग्ग, नन्दकोवादसुत्त, चूल राहुलोवादसुत्त और छ-छक्क सुत्त।
५. जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ९६

३. त्रैकालिक धर्मवाद और वर्तमान धर्मवाद ।
४. धर्म-नैरात्म्य-निःस्वभाव या शून्यवाद ।
५. विज्ञप्तिमात्रवाद

यहाँ इन सबको हम संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं :

पुद्गल नैरात्म्यवादः इस प्रसंग में हम नागसेन द्वारा 'मिलिन्दपञ्हो' में की गयी अनात्मवाद की व्याख्या की चर्चा करेंगे । भगवान् बुद्ध ने अनात्म के उपदेश में एक प्रकार से संघातवाद का उपदेश दिया । मिलिन्दपञ्हो में आत्मा के लिए 'पुग्गल' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है । नागसेन ने राजा मिलिन्द को लम्बे संवाद में बताया कि पुग्गल अर्थात् आत्मा की वास्तविक सत्ता नहीं है। बुद्ध के बाद नागसेन ने पहली बार आत्मा के अभाव के रूप में अनात्मवाद की व्याख्या की[२] । डा० राधाकृष्णन् ने भी कहा है, आत्मा के प्रश्न पर बुद्ध के मौन साध जाने के कारण नागसेन ने निषेधात्मक अनुमान का परिणाम निकाला कि आत्मा नहीं है[3] । एम० हिरियन्ना ने भी लिखा है कि नागसेन ने अपनी अनात्मवाद की व्याख्या में आत्मा के अभाव के साथ ही साथ समस्त पदार्थों का अभाव सिद्ध किया[४] ।

पुद्गलास्तिवाद : पुद्गलास्तिवाद वात्सीय पुत्रीय अनात्मवाद के नाम से विश्रुत है । वात्सीयपुत्रीय सम्प्रदाय स्थविरवादी बौद्धों की एक शाखा है। पुद्गलास्तिवादियों के सिद्धान्त-प्रतिपादक कोई ग्रन्थ नहीं हैं । तत्त्वसंग्रह, कथा-वस्तु एवं अभिधर्म कोश प्रभृति में पूर्वपक्ष के रूप में इनके सिद्धान्तों का उल्लेख

---

१. मिलिन्दपञ्हो, २।१।१, पृ० २७-३०
२. (क) अपि च खो महाराय संखा समञ्जा पञ्जति वोहारो नाम मत्तं यदिदं नागसेनोति न हेत्थ पुग्गलो उपलब्भतीति ।—वही, २।१।१, पृ० २७
(ख) परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूं पलब्भति ।—वही, पृ० ३० । पुग्गल शब्द यहाँ आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है ।
(ग) यथा हि अंगसम्भारा होति सद्दो रथोति ।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्प्रति ।।—वही, पृ० ३० एवं संयुक्त निकाय, ५।१०।६
(घ) मिलिन्दपञ्हो (लक्खण पञ्हो), पृ० ५७ एवं उससे आगे के प्रसंग ।
३. भारतीय दर्शन, भाग १ : डा० राधाकृष्णन्, पृ० ३६१
४. भारतीय दर्शन की रूपरेखा :एम० हिरियन्ना, पृ० १४२

मिलता है।[1] इनका मन्तव्य है कि पुद्गल का अस्तित्व है और यह पुद्गल पंचस्कन्धों से न भिन्न है और न अभिन्न।[2]

समीक्षा : पुद्गलवादियों का यह सिद्धान्त आत्मवादियों के अत्यधिक निकट है। जिसे आत्मवादियों ने आत्मा कहा उसे पुद्गलास्तित्ववादियों ने पुद्गल कहा है। आचार्य वसुबन्धु ने भी कहा है, 'पुद्गल एक नित्य पदार्थ प्रतीत होता है, यह आत्मा या जीव का दूसरा नाम है।[3]' तत्त्वसंग्रह में इस मत की समीक्षा में कहा गया है कि पुद्गलास्तित्व मानने से आत्मवादियों की तरह उसे स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न मानना पड़ेगा। भिन्न मानने पर वात्सीयपुत्रीय आत्मवादी हो जायेंगे। दूसरी बात यह है कि पुद्गल को आत्मा की तरह कर्मों का कर्ता, भोक्ता एवं एक स्कन्ध छोड़कर दूसरे स्कन्धों को धारण करने वाला तथा संसरण वाला माना है। इसी प्रकार पुद्गल को नित्य मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व असम्भव हो जाएगा और बुद्ध-वचनों के उल्लंघन का दोष आएगा क्योंकि उन्होंने शाश्वत आत्मा का निषेध किया है। पुद्गल को स्कन्धों से अभिन्न मानने से रूपादि की तरह उसे अनेक मानना पड़ेगा, जब कि पुद्गलास्तिवादी पुद्गल को एक मानते हैं। पुद्गल को स्कन्धों से अभिन्न मानने से स्कन्धों की तरह पुद्गल भी अनित्य हो जाएगा और ऐसा होने पर कृतप्रणासअकृत कर्म भोग का प्रसंग आएगा। यदि पुद्गलवादी उच्छेदवाद को स्वीकार करेगा तो भगवान् बुद्ध के वचनों के भंग करने का प्रसंग आएगा। अतः पुद्गल न नित्य है और न अनित्य तथा नित्य और अनित्य न होने से अवाच्य है। अवाच्य होने के कारण उसकी आकाश फूल की तरह पारमार्थिक सत्ता नहीं है[4]। वस्तु या तो सत् रूप होती है या असत् रूप। सत् और असत् से विलक्षण पदार्थ अवाच्य और मिथ्या होता है। पुद्गल भी स्कन्धों से भिन्न और अभिन्न होने के कारण वाच्य नहीं है। इसलिए उसकी सत्ता नहीं है। इस प्रकार पुद्गल अवाच्य होने से प्रज्ञप्ति मात्र सिद्ध होता है। यदि वात्सीयपुत्रीय पुद्गल को अवाच्य न मानकर वस्तुसत् मानते हैं तब पुद्गल को स्कन्ध से भिन्न या अभिन्न मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से वदतोव्याघात और प्रतिज्ञाभंग का

---

१. (क) कथावत्थु, पुग्गल कथा, पृ० १३-७१। (ख) तत्त्वसंग्रह, का
२. तत्त्वसंग्रह, आत्मपरीक्षा, का० ३३६। बौद्धचर्यापंजिका, पृ० ४५५।
३. अभिधर्म कोश, ३।१।८
४. तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, पृ० १६०, का० ३३७-३३८

दोष आता है।[1] भगवान् बुद्ध ने पुद्गल को अव्याकृत इसलिए कहा है क्योंकि वे वतला देना चाहते थे कि पुद्गल प्रज्ञप्ति मात्र है। जहाँ कहीं पुद्गल का उपदेश दिया है वह नास्तिक्य के निराकरण के लिए दिया है।[2] अतः सिद्ध है कि पुद्गल का अस्तित्व नहीं है।

वात्सीपुत्रीय : यदि पुद्गल का अस्तित्व नहीं है तो भगवान् बुद्ध ने संयुक्त निकाय में भार, भारहार का उपदेश क्यों दिया[3] ?

समाधान : उपर्युक्त भगवान् का उपदेश व्यर्थ भी नहीं है क्योंकि भारहार का तात्पर्य स्कन्ध समुदायलक्षण वाला पुद्गल प्रज्ञप्ति मात्र कहा है। इसके अतिरिक्त अन्य नित्य द्रव्य आत्मा को भारहार नहीं कहा है[4]।

अभिधर्म कोश[5] में भी आचार्य वसुबन्धु ने पुद्गलास्तिवाद का विस्तृत खण्डन किया है। इस विवेचन से ऐसा लगता है कि शाश्वत आत्मवादी विचार-धारा को मानने वाले कुछ लोग बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गये होंगे और उन्होंने नई दृष्टि से पुद्गलवाद (आत्मवाद) की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया होगा। लेकिन यह सिद्धान्त अधिक समय तक न टिक सका।

त्रैकालिक धर्मवाद और वर्तमानिक धर्मवाद:—प्रस्तुतवाद सर्वास्ति-वादियों (हीनयानिगों) का है। वैभाषिकों ने मनुष्य के व्यक्तित्व का विश्लेषण करके कहा कि नित्य, कर्ता-भोक्ता रूप आत्मा का अस्तित्व नहीं है। आत्मा एक प्रज्ञप्तिमात्र है। 'पदार्थ' को 'चित्' शब्द से अभिहित करके उसे संस्कृत-असंस्कृत, साधारण-असाधारण आदि धर्मों में विभक्त करके उसका विस्तृत निरूपण किया। क्षणिकवाद सिद्धान्त में निष्ठा रखते हुए भी प्रत्येक चित्त और चैतसिक को अपने ढंग से त्रैकालिक सिद्ध किया।[6] तत्त्व-संग्रह में इस सिद्धान्त का विवेचन विस्तृत रूप से किया गया है। एक उदाहरण के द्वारा वहाँ त्रैकालिक धर्मता के विषय में विवेचन किया गया है कि जिस प्रकार सोने के कुण्डल को तोड़ कर कड़ादि बनाने पर सोना नष्ट नहीं होता है सिर्फ आकार का परिवर्तन होता है, उसी प्रकार एक धर्मध्व दूसरे धर्मध्व में

---

१. तत्त्वसंग्रह का०, ३३८-३४३
२. वही, का० ३४७
३. संयुत्तनिकाय, भारवर्ग, भारसुत्त, २१।१।३।१
४. तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, पृ० १६४-६६
५. अभिधर्मकोश, पृ० २३१ से आगे
६. नात्मास्ति स्कन्धमात्रं।—अभिधर्मकोश ३।१८, और भी देखें भाष्य पृ० ५६

परिवर्तित होते हुए भी उसकी अवस्थाओं का परिवर्तन होता है, द्रव्य अपरिवर्तनीय है।[1] उनका तर्क है कि यदि चित्त त्रैकालिक न होता तो भगवान् बुद्ध अतीत और अनागत 'रूप' से निरपेक्ष होने का उपदेश नहीं देते। अतः वर्तमान की भाँति अतीत अनागत काल भी सत्य है।[2] इसके बाद सौत्रान्तिक सम्प्रदाय ने त्रैकालिक धर्मवाद का विरोध किया और चित्त-चैतसिकों को पुनः वर्तमानिक बतलाया। अपने सिद्धान्त के समर्थन में सौत्रान्तिकों ने कहा कि बुद्ध ने क्षणिकवाद का उपदेश दिया था। धर्मों को त्रैकालिक मानने से नित्यता सिद्ध हो जाती है।

समीक्षाः—यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा की सत्ता का निराकरण करने के कारण पुद्गल नैरात्म्यवादियों का शाश्वत आत्मवादियों के आक्षेपों और तर्कों के सामने टिकना कठिन हो रहा था। इसलिए बौद्ध धर्म-दर्शन के विभिन्न सम्प्रदाय अपनी स्थिति ठीक रखने के लिए तथा पुनर्जन्म, बन्ध और मोक्ष की बुद्धिग्राह्य व्याख्या करने के लिए सिद्धान्तों को अपने ढंग से प्रस्तुत करने लगे थे।[3] धर्मों को त्रैकालिक मानना आत्म-सिद्धान्त मानने जैसा ही है।

धर्म नैरात्म्य-निःस्वभाव या शून्यवाद : यह महायान बौद्ध दर्शन का प्रमुख सम्प्रदाय है। भगवान् बुद्ध का अनात्मवाद इस सम्प्रदाय में शून्यता में परिवर्तित हो गया। नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका में कहा है कि वस्तु चतुष्कोटि विनिर्मुक्त और अनभिलाप्य है। हम वस्तु को न अस्ति रूप कह सकते हैं और न नास्ति रूप, न उभय रूप और न अनुभय रूप। इन चार कोटियों में से वस्तु का वर्णन किसी कोटि द्वारा नहीं किया जा सकता है।[4] यही शून्यवाद कहलाता है। तत्त्व अनिवर्चनीय होने से कहा गया कि संसार शून्य है, क्योंकि तत्त्व का अभाव है। संसार की समस्त व्यावहारिक वस्तुएँ प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण उनका वास्तविक अस्तित्व नहीं माना जा सकता है। पारमार्थिक दृष्टि से विचारने पर सभी अनुत्पन्न हैं। इसलिए उन्हें धर्म-नैरात्म्य, स्वभावशून्य, निःस्वभाव या अनात्मन् कहते हैं। अतः संसार की वस्तुओं के विषय में

---

१. अभिधर्मकोश, ५।२५। तत्त्वसंग्रह का०, १७८५

२. बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६३९

३. देवेन्द्र मुनि शास्त्री का भी यही मत है। देखें, जैनदर्शन-स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ९८

४. न सन्नासन् न सदसन् न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्टकोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः।।—भारतीय दर्शन संग्रह—डा० नन्दकिशोर देवराज, पृष्ठ १८८ पर उद्धृत।

भावात्मक रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता। चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि आत्मा जैसे तत्त्व की सत्ता नहीं है[1]। चतुःशतक में अस्तित्व का निराकरण किया गया है[2]।

समीक्षा : अन्य भारतीय दार्शनिकों की भांति जैन दार्शनिक भी शून्यात्मवादियों के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंकदेव, हरिभद्र, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र और मल्लिषेण आदि ने इस मत की विस्तृत तार्किक मीमांसा की है।

विज्ञप्तिमात्रतावाद : आत्मस्वरूप के विषय में अन्तिम कल्पना योगाचार महायान बौद्ध दार्शनिकों की है। विज्ञानवादियों के अनुसार वाह्य पदार्थ वास्तविक नहीं है। केवल एकमात्र निरंश, निरन्वय और क्षणिक विज्ञान ही चरम तत्त्व है।[3] उन्होंने आत्मा को मात्र विज्ञप्ति रूप बताया। विज्ञान की सन्तान के अतिरिक्त आत्म-तत्त्व नामक कोई पदार्थ नहीं है जो परलोक रूप फल का भोक्ता हो।[4]

समीक्षा : स्वामी कार्त्तिकेय ने विज्ञानाद्वैतवाद के निराकरण में कहा है कि ज्ञान मात्र को मानने से ज्ञेय के अभाव में ज्ञान भी व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि ज्ञान का अर्थ है जानना, लेकिन जब ज्ञेय ही नहीं है तब जानेगा क्या? अतः ज्ञेयविहीन ज्ञान की कल्पना ठीक नहीं है।[5] अमितगति ने इस मत की समीक्षा करते हुए कहा कि यदि विज्ञान के अतिरिक्त 'आत्मा' नहीं है तो स्मरणादि का अभाव हो जाएगा और स्मरणादि के अभाव में व्यवहार नष्ट हो जाएगा।[6] ज्ञान प्रवाह को आत्मा मानने पर किये गये कर्मों का नाश और नहीं किये गये कर्मों के फल भोगने का दोष भी आता है।[7] प्रभाचन्द्राचार्य ने न्यायकुमुदचन्द्र, और प्रमेयकमलमार्तण्ड में इस मत की विस्तृत समीक्षा की है। उनका एक तर्क यह है कि विज्ञान संतानात्मवाद में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नष्ट हो जाएगी,

---

१. माध्यमिक कारिका, ९।३। विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य माध्यमिक कारिका वृत्ति, पृ० १६८ आदि।
२. चतुःशतकः आर्यदेव, दशम प्रकरण
३. त्रिंशिका, १७
४. मिलिन्दपञ्हो, ४।३८-४२
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : भा० २४७-४९
६. श्रावकाचार, ४।२४
७. षट्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्न टीका, पृ० २९६

क्योंकि बन्ध-मोक्ष दो पूर्व-उत्तर क्षणों में अन्वय रूप से रहने वाले आत्मा में ही सम्भव है और विज्ञान क्षणिक है।[१] बन्ध-मोक्ष के अभाव में अनित्य भावनाओं का उपदेश निरर्थक सिद्ध हो जाता है। हरिभद्र[२] ने भी यही कहा है। इस प्रकार पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन में एकरूपता नहीं है। विभिन्न सम्प्रदायों ने इस विषय में विभिन्न परिकल्पनाएँ कीं।

(ग) न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मसिद्धि :

गौतम ऋषि ने न्यायसूत्र में तथा कणाद ऋषि ने 'वैशेषिक सूत्र' में आत्मा का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया है। प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, संकल्प आदि को आत्मा के लिंग कह कर, इन्हीं से आत्मास्तित्व सिद्ध किया है।[३] इसी प्रकार न्यायसूत्रकार ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु.ख विनिर्णयात्मक ज्ञान हेतुओं के द्वारा आत्मा की सत्ता का अनुमान किया है।[४] गौतम ऋषि अनुमान प्रमाण के अलावा शास्त्रीय प्रमाण भी देते हैं।[५] न्यायदर्शन में मानस प्रत्यक्ष के द्वारा भी आत्मा की सत्ता सिद्ध की गयी है लेकिन वैशेषिक दर्शन में कणाद और प्रशस्तपाद आत्मा का मानस प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं।[६] उपर्युक्त आत्म-सत्ता साधक तर्कों का विस्तृत विवेचन करना सम्भव नहीं है।

(घ) सांख्य-दर्शन में आत्मसिद्धि :

सांख्य-दर्शन में आत्मास्तित्व सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क दिये गये हैं।[७] ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में निम्नांकित अनुमान दिये हैं[८] :—

१. **संघात् परार्थत्वात्**—अर्थात् समुदाय रूप जड़ पदार्थ दूसरों के लिए होते हैं स्वयं के लिए नहीं। प्रगति और उसके समस्त कार्य संघात रूप होने से जिसके लिए हैं, वही पुरुष है।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृ० ८४२
२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, ४१२
३. वैशेषिक सूत्र, ३।२।४-१३
४. न्यायसूत्र, ३।१।१०
५. भारतीय दर्शन : डा० राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० १४५
६. देखें—भारतीय दर्शन : संपादक डा० न० कि० देवराज, पृ० ३११
७. सांख्यकारिका, १७; सांख्यप्रवचन सूत्र, १।६६, योगसूत्र, ४।२४
८. संघात्परार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥—सांख्यकारिका ११

२. **त्रिगुणादि विपर्ययाद्**—अर्थात् तीनों गुणों से भिन्न होने से पुरुष की सत्ता का अनुमान होता है। संसार के सभी पदार्थ सत्, रज और तम रूप हैं। अतः इन गुणों से भिन्न जिसकी सत्ता है, वही पुरुष है।

३. **अधिष्ठानात्** : संसार के समस्त पदार्थों का कोई न कोई अधिष्ठाता होता है। अतः बुद्धि, अहंकारादि का जो अधिष्ठाता है, वही पुरुष है।

४. **भोक्तृभावात्**—सुख-दुःख आदि का जो भोक्ता है वही पुरुष है। डा० देवराज ने भोक्ता का अर्थ द्रष्टा किया है। इस विषय में उन्होंने लिखा है कि बुद्धि आदि पदार्थ दृश्य हैं, अतः इनका द्रष्टा होना अनिवार्य है। इस अनुमान से सिद्ध है कि दृश्य पदार्थों का जो द्रष्टा है, वही पुरुष है।

५. **कैवल्यार्थम् प्रवृत्ते**—पुरुष का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अन्तिम और पाँचवीं युक्ति है कि कैवल्य अर्थात् मोक्ष के लिए प्रवृत्ति समस्त मनुष्यों में होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से सिद्ध है कि प्रकृति आदि से भिन्न पुरुष का अस्तित्व है।

(ङ) मीमांसा दर्शन में आत्मास्तित्व-सिद्धि :

जैमिनी ने आत्मास्तित्व सिद्ध करने के लिए मीमांसा सूत्र में कोई प्रमाण नहीं दिये हैं। इसका कारण यह है कि कर्म मीमांसा विवेचित करना ही उनका लक्ष्य था। शावरभाष्य में स्वामी शबर ने इसकी सत्ता के लिए तर्क दिये हैं।[1] बाद के दार्शनिक प्रभाकर और कुमारिल भट्ट ने न्याय-वैशेषिक और सांख्यों की तरह ही युक्तियाँ दी हैं।[2] शबर स्वामी ने मानस प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध की है।[3] यज्ञ विहित फल के भोक्ता रूप में भी आत्मास्तित्व सिद्ध किया है। क्योंकि कर्मों का फल अवश्य मिलता है। अतः कर्म करने वाला और भोगने वाला शरीरादि से भिन्न आत्मा नामक तत्त्व अवश्य है।[4]

(च) अद्वैत वेदान्त दर्शन में आत्मसिद्धि :

आत्मा की सत्ता वेदान्त दर्शन में स्वतःसिद्ध मानी गयी है। अनुभव करने वाले के रूप में आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है। यदि ज्ञाता के रूप में आत्मा

---

१. भारतीय दर्शन : डा० राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ४०२ की पाद-टिप्पणी।

२. श्लोक वार्तिक, आत्मवाद। (ख) शास्त्र दीपिका, पृ० ११९-१२२। (ग) तंत्रवार्तिक : प्रभाकर, पृ० ५१६। प्रकरणपंजिका, पृ० १४७। बृहती, पृ०. १४९।

३. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, १।१।५, पृ० १४

४. वही

की सत्ता न मानी जाए तो किसी भी ज्ञेय विषय का ज्ञान न हो सकेगा। अतः अनुभवकर्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।[१] दूसरी बात यह है कि सभी को अपनी (आत्मा की) सत्ता में विश्वास है। कोई यह नहीं कहता है कि मेरी सत्ता नहीं है। अतः आत्मसत्ता की प्रतीति सभी को होती है।[२]

ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में शंकराचार्य का कहना है कि आत्मा प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति इन समस्त व्यवहारों का आश्रय है। जिसके आश्रय में प्रमाण है वह प्रमाण के द्वारा किस प्रकार सिद्ध हो सकता है। अतः आत्मा स्वयंसिद्ध है।[३] सुरेश्वराचार्य ने भी यही कहा है।[४]

आत्मास्तित्व का निराकरण भी नहीं किया जा सकता है क्योंकि आगन्तुक वस्तु का ही निराकरण किया जा सकता है, स्वरूप का नहीं। जैसे अग्नि के उष्णत्व का निराकरण अग्नि द्वारा नहीं हो सकता है उसी प्रकार आत्मा का निषेध आत्मा के द्वारा नहीं किया जा सकता है। अतः निषेध करने वाले के रूप में भी आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।[५] अद्वैत वेदान्त आत्मास्तित्व सिद्धि के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाण का आधार नहीं लेता है। रामानुज अहंप्रत्यय द्वारा इसकी सत्ता सिद्ध करते हैं।[६]

(छ) जैनदर्शन में आत्मसिद्धि :

जैन दर्शन में आत्मा की सत्ता प्रत्यक्ष और अनुमानादि सबल और अकाट्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध की गयी है। श्वेताम्बर-आगम आचारांगादि में यद्यपि तर्क मूलक स्वतन्त्र रूप से आत्मास्तित्व साधक युक्तियाँ नहीं हैं फिर भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनसे आत्मास्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के तौर पर आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में कहा गया है 'जो भवान्तर में दिशा-विदिशा में घूमता रहा, वह मैं हूँ।'[७] यहाँ पर 'मैं' पद से आत्मा का अस्तित्व

१. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, २।३।७, पृ० ५४२
२. सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति।—वही, १. १. १, पृ० २६
३. आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात्सिध्यति। —वही, २. ३. ७, पृ० ५४२
४. भारतीय दर्शन : संपादक डा० न० कि० देवराज, पृ० ५१५
५. न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपं।........।....ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, २।३।७
६. तस्मात् स्वत एव प्रत्यागात्मा, न ज्ञप्तिमात्रम्। अहंभावविगमे.........। ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य, १।१।१
७. आचारांग सूत्र, १।१।१।४

सिद्ध होता है। इसी प्रकार दिगम्बर आम्नाय के षट्खंडागम में आत्मा का विवेचन तो किया गया है किन्तु उसकी सत्ता सिद्ध करने वाले स्वतंत्र तर्कों का प्रयोग नहीं हुआ। कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, नियमसार प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय प्रमुख आध्यात्मिक ग्रन्थों में आत्मा के स्वरूप का विवेचन प्रचुर मात्रा में हुआ है। कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में आत्मा का सामान्य विवेचन उपलब्ध होता है। स्वामी समन्तभद्र-सिद्धसेन से तार्किक युग प्रारम्भ होता है। पूज्यपाद, अकलंकदेव भट्ट, विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनभद्रगणि, प्रभाचन्द्र, मल्लिषेण और गुणरत्न आदि जैन दार्शनिकों ने आत्मास्तित्वसिद्धि को महत्त्वपूर्ण मानकर विभिन्न युक्तियों से उसकी सत्ता सिद्ध की है। यहाँ कुछ प्रमुख आचार्यों के आत्मसाधक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं।

१. पूज्यपादाचार्य :

प्राणापान कार्य द्वारा आत्म-अस्तित्व का बोध : पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि श्वासोच्छ्वास रूप कार्य से क्रियावान् आत्मा का अस्तित्व उसी प्रकार सिद्ध है जिस प्रकार यन्त्रमूर्ति की चेष्टाओं से उसके प्रयोक्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है।[1] अकलंकदेवभट्ट ने तत्त्वार्थवार्तिक में पूज्यपादाचार्य के इस तर्क को संवर्धित करते हुए कहा है कि श्वासोच्छ्वास रूपी क्रियाएँ बिना कारण के नहीं होती हैं, क्योंकि ये क्रियाएँ नियमपूर्वक होती हैं। विज्ञानादि अमूर्त हैं इसलिए उनमें प्रेरणा शक्ति का अभाव होता है, अतः वे इन क्रियाओं के कारण नहीं हो सकते हैं। अकलंकदेव ने यह भी कहा कि रूपस्कन्ध के द्वारा भी क्रियाएँ नहीं हो सकती हैं क्योंकि रूप स्कन्ध अचेतन है। अतः सिद्ध है कि श्वासोच्छ्वास रूप कार्य का जो कर्ता है, वही आत्मा है।[2] स्याद्वादमंजरी में मल्लिषेण ने भी प्राणापान की क्रिया से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।[3]

२. अकलंकदेवभट्ट :

अकलंकदेवभट्ट ने तत्त्वार्थवार्तिक[4] में आत्मास्तित्व-सिद्धि निम्नांकित तर्कों द्वारा की है :

(क) बाधक-प्रमाण के अभाव से आत्मास्तित्व-सिद्धि : अकलंकदेव का कहना है कि अनात्मवादियों का यह तर्क कि आत्मा के उत्पादक कोई कारण

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ५।१९, पृ० २८८

२. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।१९।३८, पृ० ४७३

३. स्याद्वादमंजरी, का० १७, पृ० १७४

४. तत्त्वार्थवार्तिक, २।८।१८-२०, पृ० १२१-२३

नहीं हैं इसलिए मेंढक की चोटी की तरह आत्मा का अभाव है, ठीक नहीं है। क्योंकि उनका हेतु असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोष से दूषित है।[१] (अ) 'अकारणत्वात्' हेतु असिद्ध इसलिए है कि इससे आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं होता है। नर-नारकादि पर्यायों से पृथक् आत्मा नहीं मिलता है और इन पर्यायों की उत्पत्ति मिथ्या दर्शनादि कारणों से होती है। अतः आत्मा की सत्ता असिद्ध नहीं है। पर्यायों से भिन्न आत्मद्रव्य की सत्ता (सम्भव) नहीं है इसलिए प्रतिपक्षी का 'अकारणत्वात्' हेतु आश्रयासिद्ध दोष से भी दूषित है।[२] (आ) 'अकारणत्वात्' हेतु विरुद्ध दोष से दूषित है क्योंकि यह हेतु आत्मा का अभाव सिद्ध न करके उसका सद्भाव सिद्ध करता है, सभी घटादि पदार्थ स्वभाव से ही सत् हैं, किसी कारण विशेष से नहीं। जो सत् होता है वह अकारण ही होता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी सत् को उत्पादादि रहित कहा है।[३] जो स्वयं सत् है वह नित्य ही (नित्यवृत्ति) है। उसे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत कारण जन्य कार्य असत् ही होता है। (इ) 'अकारणत्वात्' हेतु अनैकान्तिक दोष से भी दूषित है। क्योंकि 'मण्डूक-शिखण्ड' भी नास्ति इस प्रत्यय के होने से सत् तो है लेकिन उसके उत्पादक कारण नहीं हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षियों द्वारा दिया गया उदाहरण 'मण्डूक-शिखण्ड' दृष्टान्ताभास से दूषित भी है।[४]

(ख) सकल प्रत्यक्ष से आत्मास्तित्व-सिद्धि : आचार्य अकलंकदेवभट्ट आत्मवादियों से कहते हैं कि आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होने से उसका अभाव है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय निरपेक्ष आत्मजन्य केवल ज्ञान रूप सकल प्रत्यक्ष[५] के द्वारा शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है, और देश प्रत्यक्ष[६] अवधि और मनःपर्यय ज्ञान के द्वारा कर्म-नोकर्म संयुक्त अशुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है।[७]

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक : अकलंकदेव, २।८।१८, पृ० १२१
२. वही, २।८।१८, पृ० १२१
३. पंचास्तिकाय, गा० १५। और भी देखें—प्रवचनसार, गाथा १० एवं ९८ की तात्पर्यवृत्ति टीका :
४. तत्त्वार्थवार्तिक, २।८।१८, पृ० १२१
५. (क) जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं—प्रवचनसार, गाथा ५८
   (ख) सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम्। न्यायदीपिका, पृ० ३६
६. वही
७. तत्त्वार्थवार्तिक २।८।१८, पृ० १२३

(ग) इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष जैन दर्शन में परोक्ष माना गया है[१]। घटादि परोक्ष हैं क्योंकि अग्राहक निमित्त कारणों से धूप से अनुमित अग्नि की तरह ग्राह्य होते हैं। इन्द्रियाँ अग्राहक हैं क्योंकि उनके नष्ट हो जाने पर स्मृति उत्पन्न होती है। जिस प्रकार खिड़की के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा देखने वाला विद्यमान रहता है उसी प्रकार इन्द्रियों से देखने वाले आत्मा की सत्ता रहती है[२]। एक प्रश्न के उत्तर में अकलंकदेव का कहना है कि यदि बौद्ध विज्ञान को स्वसंवेदन तथा योगियों के प्रत्यक्ष मानते हैं तो आत्मा को भी स्वसंवेदन तथा योगियों के प्रत्यक्ष मानना चाहिए[3]।

(घ) **संकलनात्मक ज्ञान से आत्मास्तित्व-सिद्धि** : अकलंकदेवभट्ट ने अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह इन्द्रिय संकलनात्मक ज्ञान द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। उनका कथन है कि इन्द्रिय और उनसे उत्पन्न ज्ञानों में 'जो मैं देखता हूं वही मैं चखता हूं' एकत्वविषयक फल नहीं पाया जाता है। लेकिन इस प्रकार का एकत्व विषयक ज्ञान होता है। अतः सभी इन्द्रियों द्वारा जाने गये विषयों एवं ज्ञानों में एकसूत्रता देखने वाले ग्रहीता (के रूप मे) आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। आत्मस्वभाव के होने पर ही ज्ञान और विषयों की प्राप्ति होती है। इन्द्रियों से ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि वे अचेतन एवं क्षणिक हैं, अतः इन्द्रियों से भिन्न सकल ज्ञान और विषय को ग्रहण करने वाला कोई होना चाहिए और जो ऐसा है वही आत्मा है[४]। मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में भी संकलनात्मक ज्ञान के द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध की है[५]।

(ङ) **संशय द्वारा आत्मास्तित्व-सिद्धि** : भट्टाकलंकदेव ने संशय द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि "आत्मा है" इस प्रकार का होने वाला ज्ञान यदि संशय रूप है तो आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि अवस्तु का संशय नहीं होता है। जिसका अस्तित्व नहीं है उसके विषय में संशय होने का प्रश्न ही नहीं होता है[६]। अनात्मवादियों को आत्मा के विषय में संशय

---

१. जं पइदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति। प्रवचनसार गा० ५८
२. तत्त्वार्थवार्तिक, २।८।१८, पृ० १२२
३. वही
४. ततो व्यतिरिक्तेन केनचिद्भवितव्यमिति गृहीतृसिद्धिः।—तत्त्वार्थवार्तिक २।८।१९, पृ० १२२
५. स्याद्वादमंजरी, कारिका १७, पृ० १७३
६. तत्त्वार्थवार्तिक, २।८।२०, पृ० १२३

होता है, इसलिए सिद्ध है कि आत्मा की सत्ता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी विशेषावश्यक भाष्य में संशय द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करके भट्टाकलंकदेव का अनुकरण किया है[१]। उनका कहना है कि "जीव है या नहीं" यह संशयज्ञान है, और ज्ञान ही जीव है, अतः सशयज्ञान से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है[२]। जिनभद्रगणि ने इस विषय में दूसरा तर्क यह दिया है कि संशय करने वाला कोई चेतन पदार्थ ही हो सकता है। इस प्रकार संशय करने वाले के रूप में संशयी आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाती है[३]।

(च) अकलंकदेव का कहना है कि 'आत्मा है' यह ज्ञान अनध्यवसाय नहीं हो सकता है; क्योंकि अनादिकाल से प्रत्येक व्यक्ति आत्मा का अनुभव करता है। इस ज्ञान को विपर्यय मानने से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है; क्योंकि अप्रसिद्ध पदार्थ का विपर्यय ज्ञान नहीं होता है[४]। इस प्रकार आत्मा की सत्ता सिद्ध है।

(छ) भट्टाकलंकदेव ने कहा है कि किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अचानक राग-द्वेष की प्रवृत्ति के होने से सिद्ध है कि पहले उस वस्तु के द्वारा सुख-दुःख का अनुभव हुआ था। अतः रागादि की प्रवृत्ति से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है[५]।

(ज) आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करते हुए अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय में एक यह भी युक्ति दी है कि तत्काल उत्पन्न शिशु की माँ के स्तनपान करने की अभिलाषा पूर्वानुभव पूर्वक ही सम्भव है। अतः ऐसे पदार्थ की सत्ता अवश्य है जिसमें पूर्वानुभव के संस्कार विद्यमान रहते हैं और जो चैतन्यवान् है[६]। अनन्तवीर्य ने भी प्रमेयरत्नमाला में तदहर्जात शिशु के दुग्धपान की अभिलाषा से आत्मा की सत्ता सिद्ध की है। धर्मशर्माभ्युदय में हरिश्चन्द्र कवि ने कहा है कि तुरन्त उत्पन्न बालक के माँ का स्तनपान करने का कारण पूर्वभव के संस्कार के अलावा अन्य नहीं है। इसलिए यह जीव नया उत्पन्न नहीं होता है। इस पूर्व जन्म के संस्कार के आधार स्वरूप आत्मा का अस्तित्व अवश्य है, जिसका पुनर्जन्म होता है[७]।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य; गणधरवाद, गा० १५५६
२. वही, गा० १५५४
३. वही, गा० १५५७
४. तत्त्वार्थवार्तिक: भट्ट, २।८।२०, पृ० १२३
५. न्यायविनिश्चय : लघीयस्त्रय, पृ० ६४
६. वही, २।२५०-५१
७. धर्मशर्माभ्युदय, ४।६९

(झ) अकलंक देव ने पूर्वभव तथा जाति आदि के स्मरण से आत्मा की सत्ता सिद्ध की हैं। राक्षस, व्यन्तर, आदि अनेक जीव पूर्व जन्म की घटनाएँ सुनाया करते हैं। पूर्वभव की स्मृति संस्कार पूर्वक होती है, अतः पूर्वभव के स्मरण से दोनों जन्म में रहने वाले धारणा ज्ञान के धारक के रूप में चैतन्यवान् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है[1]। अनन्तवीर्य के प्रमेयरत्नमाला[2] में भी इसी युक्ति से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। इस प्रकार अकलंक ने विभिन्न युक्तियों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।

३. आचार्य जिनभद्रगणि श्रमण :

आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य में निम्नांकित अनुमान प्रमाण द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध की है।

(क) **गुणों के आधार के रूप में आत्म-सिद्धि** : जिनभद्रगणि ने स्मरणादि विज्ञान रूप गुणों के आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा है कि आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि उसके स्मरणादि विज्ञान रूप गुणों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। जिस गुणी के गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे घट रूप गुण के रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष अनुभव होने से घट का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मा के गुण ज्ञानादि का प्रत्यक्ष अनुभव होने से आत्मा का भी प्रत्यक्ष अनुभव होना मानना चाहिए। यदि गुण और गुणी को भिन्न मानने वाले ज्ञान गुण से आत्मा रूप गुणी की सत्ता स्वीकार न करें तो रूपादि गुणों का आधार घटादि पदार्थों की भी सत्ता नहीं माननी चाहिए। अतः स्मरणादि गुणों द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है[3]। षट्दर्शनसमुच्चय की टीका में गुणरत्न सूरि ने भी ज्ञान गुण के द्वारा आत्म-द्रव्य की सत्ता सिद्ध की है[4]। इनका कहना है कि जिस प्रकार रूपादि गुण अपने द्रव्य के आश्रित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञान गुण का भी कोई आश्रित द्रव्य होना चाहिए, क्योंकि गुण बिना द्रव्य के नहीं रह सकता है। अतः ज्ञान गुण जिस द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वही आत्मा है। अमृतचन्द्र सूरि, मल्लिषेण सूरि, प्रभाचन्द्राचार्य आदि आचार्यों ने भी ज्ञान को आत्मा का असाधारण गुण मान कर उसके गुणी के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध की हैं[5]।

---

१. न्यायविनिश्चय : लघीयस्त्रय, २।२४९
२. प्रमेयरत्नमाला : अनन्तवीर्य, पृ० २९६
३. विशेषावश्यक भाष्य : गणधरवाद, गा० १५५८-६०
४. षट्दर्शनसमुच्चय टीका, पृ० २३०
५. समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट : पृ० ५५४-५५५

(ख) इन्द्रियों के अधिष्ठाता के रूप में आत्मास्तित्व-सिद्धि : न्यायवैशेषिकादि भारतीय दार्शनिकों की तरह जिनभद्रगण ने इन्द्रियों के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि इन्द्रियाँ करण हैं, इसलिए इनका कोई अधिष्ठाता उसी प्रकार होना चाहिए जैसे दंडादि करणों का अधिष्ठाता कुम्भकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं होता है, आकाश की तरह वह करण भी नहीं होता है। इन्द्रियाँ करण हैं अतः उनका जो अधिष्ठाता है वही आत्मा है[१]। प्रभाचन्द्राचार्य एवं गुणरत्न सूरि ने भी इन्द्रियों को वसुला आदि की तरह करण मान कर उनके प्रेरक के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध की है[२]।

(ग) शरीर के कर्ता के रूप में आत्मास्तित्व-सिद्धि : जिनभद्रगणि ने शरीर के कर्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि विद्यमान शरीर घड़े की तरह सादि एवं नियत आकार वाला है, अतः घड़े के कर्ता की तरह देह का कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए। जिसका कोई कर्ता नहीं होता है उसका कोई सादि एवं निश्चित आकार भी नहीं होता हैं, जैसे बादल है। बादल सादि एवं निश्चित आकार वाला नहीं है इसलिए उसका कोई कर्ता भी नहीं है। शरीर के नियत आकारवान् एवं सादि होने से सिद्ध है कि इनका कोई बनाने वाला है और जो इस शरीर का कर्ता है वही आत्मा है[३]। मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में और षड्दर्शनसमुच्चय में गुणरत्न सूरि ने भी आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया है[४]।

(घ) आदाता के रूप में आत्मास्तित्व-सिद्धि : जिनभद्रगणि ने आत्मा की सिद्धि के लिए एक यह भी तर्क दिया है कि इन्द्रिय और विषयों में ग्राहक-ग्राह्य (आदान-आदेय) भाव सम्बन्ध है, इनका कोई ग्रहण करने वाला भी होना चाहिए क्योंकि जहां आदान-आदेय भाव होता है वहां उसका आदाता भी होता है जैसे उदाहाणार्थ संडसी और लोहे में आदान-आदेय सम्बन्ध है और उसको ग्रहण

(ख) स्याद्वादमञ्जरी कारिका १७, पृ० १७४
(ग) न्यायकुमुदचन्द्र : पृ० ३४९

१. विशेषावश्यक भाष्य, गा० १५६७
२. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३४९। (ख) प्रमेयकमल मार्तण्ड : प्रभाचन्द्र, पृ० ११३। (ग) षड्दर्शनसमुच्चय, टीका : गुणरत्न, पृ० २।२८
३. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १५६७
४. (क) स्याद्वादमंजरी का० १७, पृ० १७४। (क) षड्दर्शनसमुच्चय, पृष्ठ २२८।

करने वाला लुहार होता है । इसी प्रकार इन्द्रिय और विषय में आदान-आदेय सम्बन्ध होने से उनके आदाता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है[1] ।

(ङ) शरीरादि के भोक्ता रूप में आत्मास्तित्व-सिद्धि : शरीरादि के रूप आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए जिनभद्रगणि ने कहा कि जिस प्रकार भोजन एवं वस्त्रादि पदार्थ योग्य होने से पुरुष उनका भोक्ता होता है, उसी प्रकार देहादि भोजनादि की तरह योग्य होने से इनका कोई भोक्ता अवश्य होना चाहिए क्योंकि भोग्य पदार्थ स्वयं अपने भोक्ता नहीं होते हैं । अतः देहादि का जो भोक्ता है, वही आत्मा है[2] । विद्यानन्द एवं गुणरत्न सूरि ने भी इस तर्क द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध की है ।[3]

(च) देहादि संघातों के स्वामी के रूप में आत्मास्तित्व-सिद्धि : आचार्य जिनभद्रगणि ने सांख्य दार्शनिकों की तरह यह भी एक तर्क दिया है कि शरीरादि का कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए क्योंकि ये संघात रूप होता है, उसका कोई स्वामी अवश्य होता है । जैसे मकान संघात रूप है इसलिए गृहपति उसका स्वामी होता है । इसी प्रकार देहादि संघात रूप वस्तुओं के विद्यमान होने से उनके स्वामी का अनुमान होता है । जो इनका स्वामी है, वही आत्मा है[4] ।

(छ) व्युत्पत्तिमूलक हेतु द्वारा आत्मास्तित्व-सिद्धि : जिनभद्रगणि ने व्युत्पत्ति मूलक हेतु के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा है कि 'जीव' पद 'घट' पद के समान व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद होने के कारण सार्थक होना चाहिए । जो पद सार्थक नहीं होता है वह व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद भी नहीं होता है । उदाहरणार्थ डित्थ, खरविषाणादि सार्थक न होने से व्युत्पत्ति युक्त शुद्ध पद भी नहीं हैं । जीव पद व्युत्पत्तितया शुद्ध है, अतः उसका अर्थ अवश्य होना चाहिए । जीव पद का अर्थ शरीरादि से भिन्न जन्तु, प्राणी, सत्त्व, आत्मा आदि है । अतः सिद्ध है कि आत्मा की सत्ता है[5] । आचार्य विद्यानन्द एवं मल्लिषेण ने भी जीव शब्द के वाच्य के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है[6] ।

४. हरिभद्राचार्य : हरिभद्राचार्य ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में भूत चैतन्यवाद का खण्डन करके आत्मा की सत्ता युक्तियों द्वारा सिद्ध की है । उनका तर्क है

---

१. विशेषावश्यक, गा० १५६८
२. वही, गाथा १५६९
३. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका, पृ० २२९
४. विशेषावश्यक भाष्य, गा० १५६९
५. विशेषावश्यक गा० १५७१-७५
६. सत्यशासन परीक्षा, पृ० १५। (ख) स्याद्वादमंजरी, कारिका १७ पृ० १७४ ।

कि आत्मा चेतना का आधार है, इसलिए सदा स्थितिशील तत्त्व के रूप में उसकी सत्ता सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि यही तत्त्व परलोक जाता है, इसलिए परलोकी के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध है[1]।

(क) **स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से आत्मास्तित्व-सिद्धि :** अहं प्रत्यक्ष (स्वसंवेदन प्रत्यक्ष) से आत्मास्तित्व-सिद्धि करते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि 'अहं' प्रत्यक्ष द्वारा हमें आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है[2]। स्वामी विद्यानन्द, वीरनन्दि, प्रभाचन्द्र, मल्लिषेण एवं गुणरत्न आदि आचार्यों ने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि जिस प्रकार 'सुख'-'दुःख' का स्व-संवेदन प्रत्यक्ष द्वारा अस्तित्व सिद्ध होता है उसी प्रकार 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि वाक्यों में 'मैं' प्रत्यक्ष के द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है। 'मैं हूँ' यह ज्ञान भ्रान्त नहीं है और न इससे शरीरादि का बोध होता है[3]। हरिभद्र का कहना है कि आत्मा के द्वारा आत्मा को जानना अनुभव सिद्ध है और आत्मा का ही स्वभाव है। इस प्रकार 'मैं' विषयक प्रत्यक्ष अनुभव से स्वयं ज्योति स्वरूप आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है[4]।

५. आचार्य विद्यानन्द :

(क) **गौण कल्पना से आत्मास्तित्व-बोध :** आचार्य विद्यानन्द ने आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए एक यह भी तर्क दिया है कि चित्र देखकर पुरुष कहता है कि यह सजीव चित्र है। यद्यपि चित्र अजीव है लेकिन उसमें जीव की गौण कल्पना की गयी है। यदि जीव का अस्तित्व न होता तो यह चित्र सजीव है ऐसा कथन नहीं होना चाहिए। इस प्रकार की गौण कल्पनाओं से सिद्ध है कि कोई सजीव पदार्थ है, और जो सजीव पदार्थ है वही आत्मा है।[5]

---

१. एवं चैतन्यवानात्म सिद्धः सततभावतः। परलोक्यपि विज्ञेयो……।
……शास्त्रवार्तासमुच्चय, १।७८

२. अस्त्मेयेव दर्शनं स्पष्टदहंप्रत्ययवेदनात्।—वही १।७९

३. (क) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, उत्थानिका, कारिका १०२। (ख) तत्त्वसंसिद्धिः श्लोक १३,१९ एवं ३०। (ग) न्याय कुमुद चंद, पृ० ३४३। (घ) प्रमेयकमलमार्तण्डः पृ० ११२। (ङ) स्याद्वाद-मंजरी कारिका १७, पृ० २३२ (च) षड्दर्शन समुच्चय टीका सूरि, पृ० २०२-२२१

४. शास्त्रवार्तासमुच्चय, कारिका १।८०-८७

५. सत्यशासन परीक्षा, पृ० १४

(ख) लोकरूढ़ि अर्थ द्वारा आत्मास्तित्व-सिद्धि : विद्यानन्द आचार्य ने अष्ट-सहस्री में कहा हैकि लोक व्यवहार में कहा जाता है कि 'जीव चला गया या जीव है' । लोक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले वाक्यों में जीव पद के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि लोक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले शब्द सत्ता-वान् पदार्थों को सूचित करते हैं[1] । यहां पर यह कहना ठीक नहीं है कि 'जीव' शब्द इन्द्रियादि का सूचक है क्योंकि यह पहले लिखा जा चुका है कि इन्द्रियादि भोग के साधन हैं, जब कि आत्मा भोक्ता है । अतः सिद्ध है कि भोक्ता आत्मा के लिए जीव शब्द रूढि अर्थ में प्रसिद्ध है ।

(ग) परलोकी के रूप में : परलोक गमन कर्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए आचार्य विद्यानन्द ने कहा है कि मृत्यु के बाद शरीर यहीं जला दिया जाता है । पुण्य-पाप के प्रभाव से परलोक जाने वाला ऐसा तत्त्व अवश्य है जो परलोक जाता है । अन्यथा संसार और मोक्ष की व्यवस्था नष्ट हो जाएगी । अतः जो तत्त्व परलोक जाता है, वही आत्मा है[3] ।

(घ) आगम प्रमाण से आत्मास्तित्व-सिद्धि : विद्यानन्द ने उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त आगम से आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि आप्त प्रणीत आगम से भी जीव है यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है[4] ।

६. वादीभसिंह :

आचार्य वादीभसिंह ने स्याद्वादसिद्धि में अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए करते हुए कहा है कि धर्मादि का कर्ता आत्मा है, अन्यथा सुख-दुःख नहीं होते । सुख-दुःख का अनुभव होता है, इसलिए धर्मादि का कर्ता आत्मा है । इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है[5] ।

७. आचार्य प्रभाचन्द्र :

आचार्य प्रभाचन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रतिपादित तर्कों के अलावा निम्नांकित तर्क भी दिये हैं—

---

१. अष्टसहस्री, पृ० २४८

२. किं तर्हि भोक्तर्येवात्मनि जीव इति रूढिः ।—वही, २४८-४९

३. सत्यशासन परीक्षा, पृ० १८

४. वही, पृ० १९

५. धर्मादिकार्यसिद्धेश्च तत्कर्ता चापि सिद्धयति ।
कार्यं ही कर्तृसापेक्षं तद्धर्मादि सुखावहम् ॥
इत्यर्थापत्तितः सिद्धेस्स आत्मा परलोकभाक् ॥—स्याद्वादसिद्धि कारिका ९-१०

(क) द्रव्य के रूप में आत्म-सत्ता-सिद्धि : शब्द, रूप और रसादि ज्ञान किसी आश्रयभूत द्रव्य में रहते हैं क्योंकि वे गुण हैं। जो गुण होते हैं—वे अपने आश्रित द्रव्य में रहते हैं। जैसे रूपादि गुण घड़े के आश्रित रहते हैं। शब्दादि गुण जिस द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वही आत्मा है[१]। गुणरत्न सूरि ने भी यही कहा है।[२]

(ख) उपादान कारण के रूप में आत्म-सिद्धि : प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि ज्ञान, सुख आदि कार्यों का कोई उपादान कारण अवश्य है, क्योंकि ये कार्य हैं। जो कार्य होता है उसका उपादान कारण होता है। जैसे 'घट' कार्य होने से मिट्टी उसका उपादान कारण है। अतः ज्ञान, सुख आदि का जो उपादान कारण है, वही आत्मा है।[३] गुणरत्न सूरि द्वारा रचित षड्दर्शनसमुच्चय की गुण-रत्न टीका में यह तर्क उपलब्ध होता है[४]।

(ग) शरीर के नियन्त्रक के रूप में आत्म-सिद्धि : प्रभाचन्द्राचार्य का कहना है कि जीवित शरीर किसी की प्रेरणा द्वारा संचालित होता है क्योंकि यह शरीर इच्छानुसार क्रिया करता है। जो इच्छानुसार क्रिया करता है उनका संचालन अवश्य होता है। जैसे रथ का संचालक रथी होता है, उसी प्रकार इस शरीर का जो संचालक है वही आत्मा है[५]। गुणरत्नसूरि ने भी इस तर्क का अनुसरण किया है। न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने भी यह तर्क दिया है।

(घ) इन्द्रियों के प्रेरक के रूप में आत्म-सिद्धि : प्रभाचन्द्र कहते हैं कि श्रोत्रादि इन्द्रियाँ करण हैं, अतः उनका कोई प्रेरक होना चाहिए, क्योंकि जो करण होते हैं, वे प्रेरित होकर ही अपना कार्य करते हैं।[६] जैसे वसुला बढ़ई से प्रेरित होकर छेदनादि क्रिया करता है। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ जिससे प्रेरित होकर कार्य करती हैं, वही आत्मा है।[७] मल्लिषेण सूरि एवं गुणरत्न सूरि ने भी यही कहा है।[८]

---

१. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३४८। (ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ११२
२. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका, पृ० ३२९
३. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ६४९
४. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका, पृ० २२९
५. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ३४९
६. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका, पृ० २२८
७. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ११३
८. (क) स्याद्वादमंजरी पृ० १७३।
   (ख) षड्दर्शनसमुच्चय, टीका (गुणरत्नसूरि), पृ० २२८

८. मल्लिषेण सूरि :

मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में पहले के आचार्यों के अतिरिक्त निम्नांकित तर्कों द्वारा आत्मास्तित्व सिद्ध किया है :

(क) कर्ता के रूप में : मल्लिषेण ने रूपादि गुणों के कर्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि रूप आदि गुणों की उपलब्धि कर्ता पूर्वक ही सम्भव है क्योंकि 'उपलब्धि होना' क्रिया है, जो क्रिया होती है उसका कर्ता अवश्य होता है। जिस प्रकार काटने रूप क्रिया का कोई कर्ता अवश्य होता है उसी प्रकार देखने, जानने रूप क्रिया का भी कोई कर्ता होना चाहिए और जो इनका कर्ता है वही आत्मा है।[1] यह उल्लेख कर चुके हैं कि इन्द्रियाँ करण और अचेतन हैं इसलिए वे कर्ता नहीं हो सकती हैं। अतः कर्ता के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(ख) शरीर के अधिष्ठाता के रूप में आत्मास्तित्व-सिद्धि : मल्लिषेण सूरि ने शरीर के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि हित रूप साधनों का ग्रहण और अहित रूप साधनों का त्याग प्रयत्नपूर्वक ही होता है क्योंकि वह विशिष्ट क्रिया है। जितनी विशिष्ट क्रियाएँ होती हैं, वे प्रयत्नपूर्वक ही होती हैं। उदाहरणार्थ जैसे रथ की चलने वाली विशिष्ट क्रिया सारथी के प्रयत्न से होती है, उसी प्रकार शरीर की व्यवस्थित या विशिष्ट क्रिया भी किसी के प्रयत्नपूर्वक होती है। जिसके प्रयत्न से यह क्रिया होती है वही आत्मा है। इस प्रकार शरीर रूप रथ के सारथी के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।[2]

(ग) जिस प्रकार वायु की सहायता से चमड़े की धौंकनी को फूकने वाला कोई व्यक्ति होता है उसी प्रकार श्वासोच्छ्वास रूप वायु से शरीर रूपी धौंकनी को फूकने वाला भी कोई चैतन्य होना चाहिए और जो ऐसा है वही आत्मा है।[3]

(घ) जिस प्रकार कठपुतलियों की आँखों की पलकों का खुलना और बन्द होना किसी व्यक्ति के अधीन होता है उसी प्रकार शरीर की इच्छा भी किसी के अधीन होनी चाहिए, जिसके अधीन निमेषोन्मेष रूप इच्छाएँ होती हैं वही आत्मा है।[4]

---

१. स्याद्वादमंजरी, कारिका १७, पृ० १७४
२. स्याद्वादमजरी का० १७, पृ० १७४
३. वही : पृ० १७४
४. वही

(ङ) मन के प्रेरक के रूप में : मल्लिषेण का कहना है कि नियत पदार्थों की ओर मन की प्रवृत्ति को देखकर सिद्ध होता है कि उसका प्रेरक कर्ता अवश्य ही उसी प्रकार होना चाहिए जैसे बालक की प्रेरणा से फेंकी गयी गेंद नियत स्थान पर पहुँचती है। अतः जो मन को प्रेरित करता है वही आत्मा है।[1]

(च) पर्याय द्वारा आत्मास्तित्व सिद्धि : मल्लिषेण ने आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए एक यह भी तर्क दिया है कि जिस प्रकार घड़ा, कलश आदि पर्यायें मिट्टी द्रव्य की होती हैं उसी प्रकार चेतन, क्षेत्रज्ञ जीव, पुद्गल आदि पर्याय किसी द्रव्य की सूचक हैं। जो द्रव्य नहीं होता है, उसकी पर्यायें भी नहीं होती हैं, जैसे छठा भूत नहीं है। इसलिए उसकी पर्यायें भी नहीं होती हैं। अतः चेतनादि पर्यायों का जो द्रव्य है वही आत्मा है[2]।

९. गुणरत्न सूरि :

गुणरत्न सूरि ने आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए जिन विशिष्ट तर्कों को अपनाया है वे निम्नांकित हैं—

(क) अजीव के प्रतिपक्षी के रूप में आत्मास्तित्व-सिद्धि : गुणरत्न सूरि ने इस तर्क द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि 'अजीव' शब्द का प्रतिपक्षी 'जीव' का अस्तित्व अवश्य है, क्योंकि अजीव शब्द व्युत्पत्ति सिद्ध और शुद्ध पद का प्रतिषेध करता है। जिस निषेधात्मक शब्द के द्वारा व्युत्पत्तिमान और शुद्ध पद का प्रतिषेध होता है उसका प्रतिपक्षी अवश्य होता है। जैसे 'अघट' रूप निषेधात्मक शब्द द्वारा व्युत्पत्तिमान एवं शुद्ध पद घट का निषेध किया गया है इसलिए अघट का प्रतिपक्षी घट अवश्य है। जिस निषेधात्मक शब्द का प्रतिपक्षी नहीं होता है वह व्युत्पत्ति सिद्ध शुद्ध पद का निषेध नहीं करता है। जैसे अखरविषाण तथा डित्थ। किन्तु अजीव निषेधवाची शब्द यौगिक तथा अखण्डजीव पद का निषेध करता है। इसलिए अजीव के प्रतिपक्षी जीव का अस्तित्व अवश्य है।[3]

(ख) निषेध द्वारा आत्मास्तित्व-सिद्धि : 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार आत्मा के निषेध से आत्मा का अस्तित्व होता है। क्योंकि निषेध अस्तित्व का अविनाभावी है। जिस प्रकार 'घट नहीं है' यह घट का निषेध अन्यत्र घट के अस्तित्व के बिना हो सकता है, उसी प्रकार 'जीव नहीं है' इस प्रकार जीव के निषेध से

---

१. स्याद्वादमञ्जरी, का० १७, पृ० १७४

२. वही

३. षड्दर्शन समुच्चय टीका : गुणरत्नसूरि, का० ४०, पृ० २३०

जीव (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि आत्मा का अस्तित्व न होता तो उसका छठे भूत की तरह निषेध भी सम्भव नहीं होता। आत्मा निषेध होता है, अतः सिद्ध है कि आत्मा की सत्ता ।

इस प्रकार समस्त आत्मवादी भारतीय दार्शनिकों ने बहुमुखी सबल, अबाध्य एवं निर्दोष युक्तियों द्वारा अनात्मवादियों के तर्कों का निराकरण करके सिद्ध कर दिया कि शरीरादि से भिन्न आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। वैदिक और जैन दार्शनिकों ने आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिये हैं उनमें केवल शाब्दिक भेद हैं, वास्तविक नहीं। पारमार्थिक या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष अर्थात् केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष सिद्ध करना जैन दार्शनिकों की अपनी मौलिक विशेषता है।

दूसरा अध्याय

आत्म-स्वरूप-विमर्श

(क) आत्मा का स्वरूप और उसका विवेचन :

न्याय-वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दर्शन में जिसे 'आत्मा' और सांख्य-योग दर्शन में 'पुरुष' कहा गया है, वही तत्त्व जैन दर्शन में 'आत्मा' या 'जीव' कहलाता है। हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के मान्य आगमों में आत्मा शरीरादि से भिन्न चैतन्यस्वरूप तत्त्व है। कुन्दकुन्दाचार्य और उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने दो दृष्टियों से आत्म-स्वरूप का विवेचन किया है—पारमार्थिक दृष्टिकोण और व्यावहारिक दृष्टिकोण। दृष्टिकोण को जैन-दर्शन में नय कहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से नय दो प्रकार के होते हैं—निश्चय नय और व्यवहार नय।[1] पारमार्थिक दृष्टि ही निश्चय नय है। कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चय नय को भूतार्थ अर्थात् वस्तु के शुद्ध-स्वरूप का ग्राहक और व्यवहार नय को अभूतार्थ अर्थात् वस्तु के अशुद्धस्वरूप का विवेचक कहा है।[2] आत्मा के शुद्धस्वरूप का विवेचन शुद्ध निश्चय नय से और उसके अशुद्धस्वरूप का विवेचन व्यवहार नय तथा अशुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से किया गया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन कुन्दकुन्द आदि आचार्यों ने अपनी कृतियों में भावात्मक और निषेधात्मक दोनों दृष्टियों से किया है। भावात्मक पद्धति में उन्होंने बताया कि आत्मा क्या है, और निषेधात्मक पद्धति में उन्होंने बतलाया कि बौद्ध दर्शन की भांति पुद्गल, उसकी पर्यायें तथा अन्य द्रव्य आत्मा नहीं हैं।

शुद्धात्म-स्वरूप विवेचन—कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि निश्चय नय की अपेक्षा से शुद्धात्मा बंधविहीन, निरपेक्ष, स्वाश्रित, अचल, निसंग एवं ज्ञापक ज्योति-मात्र है।[3] समयसार में कहा है कि निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है और न ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप है, वह तो एकमात्र ज्ञायक है। आत्मा अनन्य, शुद्ध (निष्कलंक) एवं उपयोग स्वरूप है। रस, रूप और गन्धरहित, अव्यक्त, चैतन्यगुण युक्त, शब्द रहित, चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर,

---

१. देवसेन : नयचक्र, गा० १८३

२. समयसार, गा० ११

३. वही, गा० १४–१५, ५६

अलिंग एवं पुद्गलाकार रहित है।[1] वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवसाय, अनुभाग, योग, बंध, उदय, मार्गणा, स्थितिबंध, संकलेश स्थान, संयमलब्धि, जीवसमास आदि आत्मा के गुण नहीं हैं, आत्मा इन सबसे भिन्न है।[2] नियमसार में भी कहा है कि आत्मा निर्ग्रन्थ, वीतराग, निःशल्य है। दोष, काम, क्रोध, मान, माया एवं भेद रहित है।[3] इसी प्रकार आत्मा नारक, तिर्यंच, नर एवं देव पर्यायों को धारण नहीं करता है, इसलिए वह इन पर्यायों का रूप भी नहीं है।[4] परमात्मप्रकाश में भी इसी प्रकार शुद्धात्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि "न मैं मार्गणा स्थान हूँ, न गुणस्थान हूँ, न जीवसमास हूँ, न बालक, वृद्ध, युवा अवस्था रूप हूँ"।[5] इष्टोपदेश में भी यही कहा है।[6] नियमसार की तात्पर्य-वृत्ति टीका में कहा गया है—"समस्त कर्मों को त्याग कर निष्कर्म रूपी आत्मा में प्रवृत्त होते हुए मुनि (ऋषिगण) अशरण न हो कर ज्ञान-स्वरूप आत्मा में आचरण करते हैं और परम अमृत का अनुभव करते हैं। मैं (आत्मा) मन, वचन, काय और इन्द्रिय उत्पन्न इच्छाओं को, संसार रूपी समुद्र से उत्पन्न मोहरूप जलजन्तुओं को, सोना, स्त्री आदि को अनन्त विशुद्ध ध्यानमयी शक्ति से त्यागता हूँ।[7]" इस कथन से स्पष्ट है कि आत्मा वैभाविक परिणाम नहीं है। परमात्म-प्रकाश में कहा है—"जो केवलज्ञान स्वभाव, केवलदर्शन स्वभाव, अनन्तसुखमय, अनन्तवीर्यस्वभाव है, वह आत्मा है"।[8] आत्मा कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, परभाव को नहीं धारण करता है। मात्र सबको देखता एवं जानता है। आत्मा एक अर्थात् कर्मादि के संसर्ग से रहित अकेला है। शाश्वत, अविनाशी, नित्य, ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला एवं समस्त अन्तः बाह्य विभावों से रहित है।[9] इष्टोपदेश तथा नियमसार तात्पर्यवृत्ति में भी यही कहा गया है।[10]

---

१. समयसार, गा० ४९।
२. (अ) वही, गा० ५०-५। (ब) नियमसार ३।३८-४६, ५।७८ एवं ८०।
३. वही, ३।४४, वही, ३।६८। परमात्मप्रकाश, गा० ९०।
४. (अ) परमात्मप्रकाश गा० ९१। (ब) नियमसार, ३।७९।
५. परमात्मप्रकाश, गा० ९२।
६. इष्टोपदेश, श्लोक २९।
७. नियमसार, ३।९९।
८. परमात्मप्रकाश ७५ एवं नियमसार ५।९६।
९. नियमसार ५-६।१०२; परमात्मप्रकाश २२३।
१०. इष्टोपदेश, श्लोक २७; नियमसार तात्पर्यवृत्ति, १०२।

नियमसार के शुद्धोपयोग में कहा है कि निश्चय नय से आत्मा जन्म, जरा, मरण एवं उत्कृष्ट कर्मों से रहित, शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्वभाववाली, क्षय, विनाश, छेद रहित, अव्यावाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, नित्य, अविचल, रूप है।[१] समाधि-तन्त्र में भी पूज्यपादाचार्य ने कहा है कि शुद्धात्मा इन्द्रियातीत, अगोचर, स्वसंवेद्य, अनादि, संसिद्ध, निर्विकल्प एवं शब्दातीत है।[२] जो परमात्मा है वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है, मैं ही मेरे द्वारा उपासना योग्य हूँ, अपने में स्थित परमानन्द से परिपूर्ण हूँ।[3] मैं न नपुंसक हूँ, न स्त्री, न पुरुष हूँ, न एक, न दो हूँ, न बहुत हूँ, न गोरा हूँ, न मोटा हूँ और न दुर्बल हूँ।[४]

आत्मानुशासन[५] में गुणभद्राचार्य ने निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मस्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि आत्मा ज्ञानस्वभाव, शुद्ध, सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता, अमूर्तिक है। 'मैं' मैं ही हूँ, अन्य शरीरादि मेरे नहीं है।[६]

अमितगति ने भी कुन्दकुन्दाचार्य की तरह शुद्धात्मा का वर्णन करते हुए आत्मा को ज्ञान-दर्शन स्वरूप, रोगादि-रहित, अविनाशी, चैतन्य स्वरूप, अत्यन्त सूक्ष्म, अव्यय, अविनाशी, कर्ममल रहित, निर्मल बतलाया है[७]। लघुसामायिक पाठ में भी इन्होंने उपर्युक्त रूप से आत्मा का स्वरूप बतलाया है[८]।

पद्मनन्दि मुनि ने भी निश्चयनय से आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि आत्मा चैतन्य स्वरूप, एक, निर्विकल्प, अखण्ड, अजन्मा, परमशान्तिरूप, सर्वोपाधि से रहित, आनन्दामृत का आस्वादी, अर्हन्त, जगन्नाथ, प्रभु, ईश्वर है, आत्मज्योति केवलज्ञान-दर्शन-सुख स्वभाव वाला एवं उत्कृष्ट है। इस आत्मतत्त्व को देख लेने एवं जान लेने के बाद कुछ भी देखने-जानने को बाकी नहीं

---

१. नियमसार, १७७, १७८।

२. समाधितन्त्र, श्लोक २४।५१, ४४ एवं ५९।

३. वही, ३१-२।

४. वही, २३, ७०; परमात्मप्रकाश, ८०।

५. आत्मानुशासन, ७४।

६. वही, २०२।

७. अमितगति : श्रावकाचार, श्लोक १४।८९।

८. यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः, समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्म संज्ञः स देवदेवो हृदये ममास्तां॥
एका सदा शाश्वति को ममात्मा विनिर्मिता। सामायिकपाठ (अमितगति) १३, २६।

रहता है[1]। योगेन्दु देव ने योगसार में कहा है कि जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है[2]। आत्मा शुद्ध, सचेतन, बुद्ध, जिन और केवलज्ञान स्वभाव वाला है। आत्मा कषाय, संज्ञारहित, अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यसहित, दश प्राणों से रहित, क्षमादि दश धर्म और दश गुणसहित, अकेला एवं मन-वचन-काय से रहित है[3]। आत्मा ही अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, मुनि, शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, जिन, ईश्वर, ब्रह्मा एवं अनन्त स्वरूप है[4]।

कुलभद्राचार्य ने भी सारसमुच्चय में पद्मनन्दि की तरह शुद्धात्मा का स्वरूप बतलाया है[5]।

रामसेनाचार्य ने शुद्ध आत्मा का निश्चय नय की दृष्टि से स्वरूप बतलाते हुए कहा है—मैं शुद्ध आत्मा (निश्चय नय की दृष्टि से) चेतन हूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ, अमूर्तिक (स्पर्श रसगंधवर्णरहित) हूँ, सिद्धरूप हूँ, ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला हूँ[6]। मैं अन्य (परपदार्थरूप) नहीं हूँ, मैं अन्य (सांसारिक पदार्थ) नहीं हूँ, मैं सांसारिक पदार्थों का सम्बन्धी नहीं हूँ, न अन्य (सांसारिक पदार्थ) मेरे हैं, अन्य—अन्य है (सांसारिक पुद्गल पदार्थ—पुद्गल पदार्थ ही हैं, वे आत्मस्वरूप नहीं हैं)। 'मैं' 'मैं' ही हूँ, अन्य पुद्गल पदार्थों का पुद्गल पदार्थों से ही सम्बन्ध है, मैं (आत्मा) का आत्मा ही सम्बन्धी है। अर्थात्—आत्मा और पुद्गल पदार्थ विभिन्न-विभिन्न स्वरूप वाले हैं। शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ, मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन है, शरीर अनेक रूप है, मैं एक रूप हूँ, शरीर नाशवान है, मैं अविनाशी हूँ[7]। मैं (आत्मा) कभी अचेतन पदार्थ नहीं होता हूँ और न कोई भी अचेतन पदार्थ 'मैं' (आत्मा) हो सकता है, मैं (आत्मा) ज्ञान स्वरूप हूँ, कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है और न 'मैं' किसी दूसरे पदार्थ का कोई-

---

१. एकत्व सप्तति, १५–२०।

२. योगसार, २२।

३. वही, ५९, ७६–८६।

४. वही, १०४, १०५।

५. ज्ञान दर्शन सम्पन्नात्मा चैको ध्रुवो मम।
   शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे संयोग लक्षणाः॥
   सारसमुच्चय : कुलभद्राचार्य, २४९।

६. तथा हि चेतनो संख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
   शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः॥—तत्त्वानुशासन, १४७।

७. वही, १४८–१४९।

हूँ[1]। मैं सत् द्रव्यस्वरूप हूँ, चैतन्य रूप हूँ, ज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ, उदासीन हूँ, अपने (कर्मानुसार) प्राप्त शरीर परिमाण वाला हूँ, और उस शरीर को छोड़ने के बाद आकाश के समान अमूर्तिक हूँ[2]। जो कभी कुछ जानता नहीं है, जिसने कभी कुछ जाना नहीं है और जो न कभी कुछ जानेगा वह शरीरादि मैं (आत्मा) नहीं हूँ। जिसने कभी जाना है, जानता है और जानेगा ऐसा चेतन लक्षण वाला मैं हूँ। यह संसार स्वयं मेरे लिए न तो इष्ट है, न मुझे इससे कोई द्वेष है, किन्तु उपेक्षा योग्य है। इसी प्रकार से यह आत्मा भी स्वभाव से न राग करने वाला है और न द्वेष करने वाला है किन्तु उपेक्षा करने वाला वीतरागी है। 'मैं' समस्त कर्म भावों से भिन्न ज्ञानस्वभाव और उदासीन हूँ। इस प्रकार आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना चाहिए[3]। सब जीवों का यह स्वरूप है कि जिस तरह सूर्य मण्डल का प्रकाशन किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा न होकर स्वयं अपने आप प्रकाशित होता है और सभी को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार आत्मा भी स्व-पर पदार्थों का प्रकाशन करने वाला है[4]।

तत्त्वसार में आचार्य देवसेन ने भी शुद्ध आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है कि—आत्मा दर्शन-ज्ञान स्वभाव प्रधान है, असंख्यात प्रदेशी है, मूर्ति रहित अर्थात् अमूर्तिक है, स्वदेहपरिमाण[5] है। शुद्ध आत्मा में न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्याएँ हैं, न जन्म है, न जरा है, न मरण है, इसलिए मैं निरंजन आत्मा हूँ। शुद्धात्मा के कोई टुकड़े या भेद नहीं हैं।

समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन, स्फटिक इन छः संस्थानों में से कोई भी संस्थान आत्मा के नहीं हैं (ये छः संस्थान शरीर के होते हैं।), न कोई मार्गणा है (कर्मोदय के कारण संसारी जीवों को जो विभिन्न

---

१. अचेतनं भवेन्नाऽहं नाऽहमप्यस्म्यचेतनम् ।
ज्ञानात्माऽहं न मे कश्चिन्नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ।।—तत्त्वानुशासन, १५० ।

२. सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञातादृष्टा सदाऽप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः परंगगनवदमूर्त्तः ।।—वही, १५२ ।

३. वही, १५४-१६४ ।

४. स्वरूपं सर्वजीवानां परस्माद प्रकाशनम् ।
भानु-मण्डलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनम् ।। —वही, २३५ ।

५. दंसणणाण पहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो ।
सगहियदेहपमाणो णमव्वो एरिसो अप्पा ।—तत्त्वसार टीका, १७ ।

अवस्थाएँ हुआ करती हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं, ये चौदह होती हैं। अतः कर्म-रहित शुद्धात्मा के मार्गणाएँ नहीं होती हैं।), शुद्धात्मा के न कोई गुणस्थान हैं (अशुद्धता को क्रमशः घटाते हुए शुद्धता को उपलब्ध करते हुए मोक्ष महल के ऊपर चढ़ने के लिए जो श्रेणियाँ या पद हैं, वे गुणस्थान कहलाते हैं। ये गुण-स्थान १४ होते हैं, जो मोहनीय कर्म और योगों की अपेक्षा से मिथ्यात्वादि कहलाते हैं, शुद्धात्मा के सम्पूर्ण कर्म और योग आदि न होने से इनके गुणस्थान होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।), न कोई जीव स्थान है (जीवों की जातियों की अपेक्षा से जो संग्रह या समूह किये जाते हैं, वे जीवस्थान कहलाते हैं।), आत्मा के न कोई लब्धिस्थान हैं[1] (सम्यक्त्व को प्राप्त करने के जो साधन—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य—ये करणलब्धि स्थान और संयम को बढ़ानेवाली संयमलब्धि स्थान आत्मा में नहीं है।), न इस आत्मा के कोई बंधस्थान है, न कोई उदयस्थान है, इस आत्मा में न कोई स्पर्श है, न रस है, न वर्ण है, न गंध है, न शब्दादि है, किन्तु यह आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव वाला और निरंजन स्वरूप है।[2] सिद्धावस्था[3] में जिस प्रकार सिद्ध मल रहित और ज्ञान स्वरूप हैं, उसी प्रकार से मलरहित, निरंजन-निर्विकार आत्मा हमारे शरीर में व्याप्त है। वह अनन्त ज्ञानादि गुणों से पूर्ण, शुद्ध, अविनाशी, एक निरालम्ब स्वरूप (स्वयंभू) अविनाशी, नित्य एवं अमूर्तिक आत्मा है।[4]

इसी प्रकार से विभिन्न आचार्यों ने निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्धात्मा के स्वरूप का विवेचन किया है। अतः निश्चयनय की दृष्टि से संक्षेप में आत्मा चैतन्य उपयोग स्वरूप[5], स्वयंभू, ध्रुव, अमूर्तिक, सिद्ध, अनादिनिधन, अतीन्द्रिय, अजर, अमर, ज्योतिस्वरूप, अनन्त, रूपादिरहित, वचनातीत, अविनाशी, अव्यक्त, अखंड प्रदेशी, अचल, सत्, चित्, आनन्दस्वरूप, सर्वोत्तम, सूक्ष्मातिसूक्ष्म,

---

१. देवसेन : तत्त्वसार, १८-२०।

२. फासरसरुवगंधा सद्दादीया स जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयण भावो णिरंजणो सो अहं भणिओ॥ —वही, २१।

३. वही, २६।

४. वही, २७, २८।

५. पंचास्तिकाय, १६, १०९, १२४; प्रवचनसार, ३५; नियमसार, १०; मूलाचार, ५।३६; भगवतीसूत्र, २.१०; तत्त्वार्थसूत्र, २.८; भावपाहुड, ६२; सर्वार्थसिद्धि, १।४, पृ० ११; पंचाध्यायी, ३०, १९२।

महान् तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त सुखरूप, अनन्त चतुष्टय स्वरूप है[1]।

अशुद्धात्म स्वरूप-विवेचन :

व्यवहार नय की दृष्टि से अशुद्ध या संसारी आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है। इस दृष्टि से अध्यवसाय आदि कर्म से विकृत भावों को आत्मा कहा है। जीव के एकेन्द्रियादि भेद, गुणस्थान, जीवसमास एवं कर्म के संयोग से उत्पन्न गौरादि वर्ण तथा जरादि अवस्थाएँ और नर नारकादि पर्याय अशुद्ध आत्मा की होती हैं[2]। व्यवहारनय की दृष्टि से ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा के कहलाते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्तिकाय में आत्मा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि आत्मा चैतन्य तथा उपयोग स्वरूप, प्रभु, कर्ता, देहप्रमाण, अमूर्तिक एवं कर्म-संयुक्त है[3]। जीव सबको जानता है, देखता है, सुख चाहता है, दुःख से डरता है, शुभ-अशुभ कर्म करता है और उनके फल को भोगता है[4]। षड्दर्शनसमुच्चय[5] में हरिभद्र ने भी कहा है कि जीव चैतन्यस्वरूप है, वह ज्ञानदर्शन आदि गुणों से भिन्न एवं अभिन्न भी है, जीव मनुष्यादि विभिन्न पर्यायों को धारण करता है। वह शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता एवं सुख-दुःख आदि फलों का भोक्ता है। द्रव्य-संग्रह[6], उपासकाध्ययन[7], ज्ञानार्णव[8], आदिपुराण[9], उत्तरपुराण[10], उत्तराध्ययन

---

१. अध्यात्म रहस्य, २२। समयसार, आ०, का० ७। प्रवचनसार, २. ९९-१००। तत्वानुशासन, १२०, १२१। नियमसार, ९६—१८१। इष्टोपदेश, २१।

२. समयसार, ५६—६७।

३. पंचास्तिकाय, २७।

४. वही, १२२, भावपाहुड़, १४७।

५. तत्र ज्ञानादि धर्मेभ्यो भिन्नाभिन्नो विवृत्तिमान्।
शुभाशुभ कर्म कर्त्ता भोक्ता कर्मफलस्य च ॥
चैतन्यलक्षणो जीवा'''।—कारिका, ४८-४९।

६. द्रव्य संग्रह, २।

७. ज्ञातादृष्टामहान्सूक्ष्मः कृतिभुक्त्योः स्वयंप्रभुः।
भोगायतन मात्रोऽयं स्वभावदूर्ध्वगः पुमान् ॥ उपासकाध्ययन, ३।१०४।

८. ज्ञानार्णव, ६।१७।

९. आदिपुराण, २४।९२; ९३।

१०. उत्तरपुराण, ६७।५।

सूत्र[1], एवं अमितगति श्रावकाचार[2] में भी आत्मा को चैतन्य-उपयोगस्वरूप, अनादिनिधन, ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता, देह-प्रमाण, संसारी, कर्म रहित होने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला, सिद्ध, प्रदीप की तरह संकोच-विस्तार धर्मवाला, अमूर्तिक, महान्, सूक्ष्म, स्वयम्भू, निर्बाधसिद्ध, स्थिति, उत्पत्ति एवं विनाश स्वरूप वाला कहा गया है। धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में आत्मा को अमूर्तिक, निर्बाध, कर्ता, भोक्ता, चेतन, कथंचिद् एक और कथंचिद् अनेक, शरीर प्रमाण तथा शरीर से पृथक, ऊर्ध्वगामी तथा उत्पादव्ययध्रुव स्वरूप कहा है।[3] उपनिषदों में भी इसी प्रकार आत्मा का स्वरूप उपलब्ध है।[4] जैन दार्शनिक ग्रन्थों में आत्मा के उपर्युक्त स्वरूप का विशद् विवेचन उपलब्ध होता है।

आत्मा का उपयोग स्वरूप :

आत्मा का स्वरूप उपयोग है। ज्ञान-दर्शन उपयोग कहलाता है।[5] आत्मा जिसके द्वारा जानता है उसे ज्ञान और जिसके द्वारा देखता है उसे दर्शन उपयोग कहा गया है।[6] ये दोनों उपयोग आत्मा से कथंचित् अभिन्न हैं। आत्मा को छोड़ कर उपयोग अन्यत्र कहीं नहीं रहता है इसलिए उपयोग आत्मा से कथंचित् अभिन्न और चूंकि उपयोग आत्मा का स्वभाव है, इसलिए वह आत्मा से कथंचित् भिन्न है। ज्ञानोपयोग को साकार-उपयोग और दर्शनोपयोग को अनाकार उपयोग कहा गया है।[7] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय और केवलज्ञान ये प्रथम ज्ञानोपयोग के पांच भेद हैं। प्रथम चार ज्ञानोपयोग सादि और अंत होते हैं। इन्हें विभाव ज्ञानोपयोग भी कहते हैं।[8] अन्तिम केवलज्ञानोपयोग सादि और अनन्त होता है। इसे स्वभाव ज्ञानोपयोग भी कहते हैं।[9] ज्ञानो-

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, २०।३६।
२. श्रावकाचार : अमितगति, ४।४६।
३. धर्मशर्माभ्युदय, ४।७३-५, २१।१०-१।
४. गुणान्वितो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव चोपभोक्ता।
   स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा संचरति स्वकर्मभिः॥ श्वेताश्वतर उपनिषद्, ५।७
५. (क) पंचास्तिकाय, ४०। (ख) नियमसार, १०।
   (ग) तत्त्वार्थ सूत्र, २।८, ९।
६. तत्त्वार्थसार, २।११, १२।
७. (क) पञ्चसंग्रह, १।७८। (ख) सर्वार्थसिद्धि, २।९।
८. नियमसार, १२।
९. वही, ११।

पयोग का विशेष विवेचन ज्ञान-मार्गणा के प्रसंग में किया जायगा। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार दर्शनोपयोग के भेद हैं।[१] प्रारम्भ के तीन दर्शनोपयोगों को कुन्दकुन्दाचार्य ने विभावदर्शनोपयोग और अन्तिम को स्वभावदर्शनोपयोग कहा है।[२] इसका विवेचन भी हम मार्गणाओं में करेंगे। यहाँ ध्यातव्य है कि जैन साहित्य में उपयोग के अन्य तीन भेदों का भी विवेचन प्राप्त होता है—शुभ, अशुभ और शुद्ध।[३] किन्तु यह उपयोग का भेद मात्र आत्मा के भावों को लेकर ही किया गया है। प्रशस्त भावों को शुभ, अप्रशस्त भावों को अशुभ और राग-द्वेष रहित आत्मा के निर्मल परिणामों को शुद्ध उपयोग कहा गया है। प्रकृत में जिस उपयोग की चर्चा की गयी है वह चैतन्यात्मक उपयोग है।[४]

ज्ञान आत्मा से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है :

ऊपर ज्ञान दर्शन को आत्मा से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न कहा गया है। यह कथन विवेचनीय है। जैन दर्शन की मान्यता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण अपने गुणी से न सर्वथा भिन्न होता है और न सर्वथा अभिन्न होता है बल्कि कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होता है। क्योंकि गुण से भिन्न गुणी और गुणी से भिन्न गुण की सत्ता असम्भव है[५]। इसी सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान अपने गुणी आत्मा से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है[६]। ज्ञान आत्मा से कथंचित् अभिन्न है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। निश्चय नय की दृष्टि से जो ज्ञान है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही ज्ञान है। अतः दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता है। यदि आत्मा और ज्ञान कथंचित् अभिन्न न हों तो आत्मा का निश्चयात्मक स्वभाव न होने से आत्मा का अभाव सिद्ध हो जायेगा और ज्ञानादि निराश्रय होने से उनकी भी सत्ता नहीं रहेगी। क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा और आत्मा से भिन्न ज्ञान कहीं उपलब्ध नहीं होता है। अतः आत्मा और ज्ञान कथंचित् अभिन्न हैं[७]।

---

१. पंचास्तिकाय, ४२।
२. नियमसार, १३-१४।
३. (क) प्रवचनसार, ११९।
(ख) द्रव्य संग्रह टीका, ६, पृ० १८।
४. सर्वार्थसिद्धि, २।८।
५. पञ्चास्तिकाय, ४४-४५।
६. वही, ५१, ५२।
७. पंचास्तिकाय, ४३। षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका ४९।

आत्मा और ज्ञान में कथंचित् भेद भी है क्योंकि आत्मा गुणी और ज्ञान गुण है, आत्मा लक्ष्य और ज्ञान लक्षण है। अतः व्यवहार नय की अपेक्षा से संज्ञा और संज्ञी, लक्ष्य और लक्षण दोनों में भेद है। कहा भी है—"जीव और ज्ञान में गुण-गुणी की अपेक्षा भेद न किया जाए तो जो जानना है वह ज्ञान है और देखना दर्शन है, यह भेद किस प्रकार होगा[1] ?" यदि ज्ञान को जीव से सर्वथा अभिन्न माना जाएगा तो ज्ञान और सुखादि गुणों में कोई अन्तर नहीं रहेगा। अतः ज्ञान आत्मा से कथंचित् भिन्न भी है[2]।

चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, आगन्तुक नहीं :

चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक गुण है, आगन्तुक या बाह्य नहीं। आत्मा के इस गुण के विषय में भारतीय दर्शन में तीन प्रकार की विचारधाराएँ परिलक्षित होती हैं। पहली विचारधारा न्याय-वैशेषिक और प्रभाकर भट्ट दार्शनिकों की है। ये आत्मा को जड़ स्वरूप मानकर चैतन्य को उसका आगन्तुक गुण मानते हैं। अर्थात् इनके मत में आत्मा चैतन्य स्वरूप नहीं वल्कि चैतन्यवान् है। दूसरी विचारधारा कुमारिल भट्ट की है। कुमारिल भट्ट यद्यपि चैतन्य को आत्मा का स्वाभाविक गुण मानते हैं लेकिन साथ ही वे उसे जड़ स्वरूप मानते हैं। तीसरी विचारधारा वाले सांख्य, वेदान्त एवं जैन दार्शनिक चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण न मानकर उसका स्वाभाविक गुण मानते हैं। जैन दर्शन में चैतन्य और ज्ञान को सांख्यों की तरह भिन्न-भिन्न न मानकर दोनों को अभिन्न और एक माना गया है। इसका विवेचन करने के पहले यह सिद्ध करना अनिवार्य है कि चैतन्य आत्मा से भिन्न एवं उसका आगन्तुक गुण नहीं है और न जड़स्वरूप आत्मा चैतन्य के समवाय सम्बन्ध से चैतन्यवान् होता है। चैतन्य आत्मा उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप है जिस प्रकार अग्नि उष्ण स्वभाव वाली है[3]। द्रव्य का अपने गुणों से भिन्न और गुणों का अपने द्रव्य से भिन्न अस्तित्व नहीं पाया जाता है। आत्मा भी एक द्रव्य है और चैतन्य उसका गुण होने के कारण चैतन्य आत्मा से पृथक् नहीं पाया जाता है। यही कारण है कि ज्ञान और आत्मा दोनों एक ही कहे गये हैं[4]।

णाणं अप्पत्त मदं वट्ठदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तह्मा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥—प्रवचनसार, १।२७।

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १८०।

२. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका, कारिका ४९।

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८।

४. प्रवचनसार, १।२७।

भट्टाकलंक देव ने इस मत की समीक्षा करते हुए कहा है कि यदि ज्ञान के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानवान् उसी प्रकार है जिस प्रकार दंड के सम्बन्ध से पुरुष दंडी या धन के सम्बन्ध से धनवान्, तब ज्ञान और आत्मा का अस्तित्व अलग-अलग उसी प्रकार होना चाहिए जिस प्रकार पुरुष और दंड का अस्तित्व अलग-अलग होता है। लेकिन ज्ञान और आत्मा दोनों स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग उपलब्ध नहीं होते हैं, इसलिए सिद्ध है कि ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है[१]। मल्लिषेण ने भी जड़ात्मवाद की समीक्षा में कहा है कि ज्ञान और आत्मा को सर्वथा भिन्न मानने से, आत्मा पदार्थ को नहीं जान सकेगा क्योंकि जिस प्रकार मैत्र नामक व्यक्ति से भिन्न चैत्र नामक व्यक्ति के ज्ञान से मैत्र को पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है उसी प्रकार आत्मा से भिन्न ज्ञान से भी उसकी आत्मा को पदार्थों का ज्ञान नहीं होना चाहिए लेकिन आत्मा पदार्थों को जानता है, इसलिए सिद्ध है कि आत्मा और ज्ञान दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं हैं[२]।

आत्मा को अचेतन मानना इसलिए भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी को भी इस प्रकार का अनुभव नहीं होता है कि 'मैं अचेतन हूँ और चेतना के समवाय सम्बन्ध से चेतनवान् हूँ[३]"। इसके विपरीत सभी को इस प्रकार का ज्ञान होता है कि मैं चेतन स्वरूप हूँ। आत्मा का चैतन्य स्वभाव स्वीकार किये बिना "मैं ज्ञाता हूँ" इस प्रकार की प्रतीति उसी प्रकार नहीं हो सकती है जिस प्रकार अचेतन घट को नहीं होती है। अतः सिद्ध है कि आत्मा अचेतन स्वभाव नहीं है, बल्कि चैतन्य स्वरूप है अन्यथा पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकेगा। गुणभद्राचार्य ने भी यही कहा है[४]।

यदि आत्मा और चैतन्य-ज्ञान को परस्पर सर्वथा भिन्न माना जायगा तो सह्य और विन्ध्य पर्वत की तरह सम्बन्ध नहीं बन सकेगा[५]। आचार्य कुन्दकुन्द ने न्यायवैशेषिक मत की समीक्षा करते हुए कहा है कि ज्ञानी और ज्ञान को

---

१. आत्मनोऽपि ज्ञानगुणयोगात् प्रागसत्वं विशेषलक्षणाभावात्। ज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यसम्बन्धात् प्रागसत्वं निराश्रयगुणाभावात्। नचासतोः सम्बन्धो दृष्ट इष्टो वा।—तत्त्वार्थ वार्तिक, १. १. ७।

२. ज्ञानमपि''''नैव विषयपरिच्छेदः स्यादात्मनः।—स्याद्वादमंजरी कारिका, ८।

३. न हि जातुचित् स्वयमचेतनोऽहं चेतनायोगाद् चेतनः।—वही, ५९।

४. अनुपयोगस्वभाव आत्मा नार्थपरिच्छेदकर्ता, अचेतनत्वात् गगनवत्।—षड्दर्शनसमुच्चय, टीका, कारिका ४९।

५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १७९।

सर्वथा भिन्न मानने पर आत्मा और ज्ञान दोनों अचेतन हो जाएंगे[1]। जैन आचार्यों ने उपर्युक्त कथन की टीका करते हुए कहा है कि जिस प्रकार अग्नि और उष्ण गुण दोनों को भिन्न-भिन्न मानने से अग्नि दहन आदि कार्य नहीं कर सकता है उसी प्रकार ज्ञान से भिन्न आत्मा भी पदार्थ को नहीं जान सकेगा। दूसरी बात यह है कि ज्ञान आत्मा से भिन्न होने के कारण निराश्रित हो जाएगा, इसलिए वह कुछ भी नहीं कर सकेगा[2]। विद्यानन्द ने कहा है कि अनुपयोग स्वरूप मानने पर आत्मा को मोक्ष मार्ग जानने की अभिलाषा न होगी[3]।

आत्मा चैतन्य के समवाय सम्बन्ध से चैतन्यवान् नहीं है :

आत्मा को जड़ मान कर चैतन्य के सम्बन्ध से आत्मा चैतन्यवान् होता है, ऐसा न्यायवैशेषिकों का कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वथा जड़ स्वरूप आत्मा समवाय सम्बन्ध से भी ज्ञानी नहीं हो सकता है[4]। यहाँ पर कुन्द-कुन्दाचार्य प्रश्न करते हैं कि आत्मा ज्ञान नामक गुण से सम्बद्ध होने के पहले ज्ञानी था या अज्ञानी ? यदि आत्मा ज्ञान से सम्बन्ध के पहले ज्ञानी था तब ज्ञान के समवाय सम्बन्ध से आत्मा के ज्ञानवान् होने की कल्पना करना व्यर्थ ही है[5]। अब यदि माना जाए कि आत्मा ज्ञान समवाय सम्बन्ध के पहले अज्ञानी था तो प्रश्न होता है कि वह अज्ञानी क्यों था ? क्या आत्मा अज्ञान के समवाय सम्बन्ध होने से अज्ञानी था या आत्मा अज्ञान स्वरूप होने से अज्ञान के समवाय सम्बन्ध से आत्मा को अज्ञानी मानना तो ठीक नहीं है क्योंकि जब आत्मा पहले से अज्ञानी ही है तब उसके साथ अज्ञान् सम्बन्ध व्यर्थ ही है। यदि आत्मा और अज्ञान का एकत्व होने से आत्मा अज्ञानी है तो उसी प्रकार ज्ञान के साथ भी आत्मा का एकत्व सिद्ध होता है[6]। यदि अचेतन आत्मा चैतन्य के समवाय सम्बन्ध से चैतन्यवान् हो जाता है तो घटादि पदार्थ भी जड़ होने से आत्मा की तरह चैतन्यवान् होने चाहिए लेकिन ऐसा न तो नैयायिक मानते हैं और न अनुभव से ही प्रतीत होता है। विद्यानन्दि ने भी कहा कि समवाय एक नित्य

---

१. पंचास्तिकाय, ४८; तत्त्वार्थ वार्तिक, १. १. ६।
२. पंचास्तिकाय, तात्पर्य वृत्ति, तत्त्वार्थ वार्तिक, २. ८. ४।
३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १९३।
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८।
५. ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी।
   अण्णाणीति य वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि ।।—पंचास्तिकाय, ४९।
६. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।९।

और व्यापक पदार्थ है। इसलिए चैतन्य का समवाय सम्बन्ध जिस प्रकार आत्मा के साथ होता है उसी प्रकार आकाशादि के साथ भी रहने के कारण आकाशादि को भी आत्मा की तरह चैतन्यवान् मानना चाहिए[1]। जिस प्रकार आत्मा को प्रतीति होती है कि 'मुझ आत्मा में ज्ञान है' इसी प्रकार आकाशादि को भी प्रतीति होनी चाहिए[2]। अतः आत्मा को जड़ स्वरूप मानने पर उसे 'मैं ज्ञाता हूँ' इसकी प्रतीति घटादि की तरह नहीं हो सकती है। यदि न्यायवैशेषिक किसी प्रकार से इस प्रकार की प्रतीति आत्मा में मानते हैं तो उसी प्रकार घटादि को भी उसकी प्रतीति होना मानना पड़ेगा, लेकिन ऐसा कोई मानता नहीं है। 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार की प्रतीति आत्मा को ही होती है। इसलिए सिद्ध है कि आत्मा कथंचित् चेतन स्वरूप है[3]।

दूसरी बात यह भी है कि अचेतन पदार्थ को चैतन्य के समवाय से चैतन्यवान् मानने पर अनवस्था दोष आता है, क्योंकि चैतन्यगुण को भी किसी अन्य के सम्बन्ध से चैतन्य मानना होगा। यदि चेतनत्व के कारण चैतन्यगुण में चैतन्य होता तो फिर उस चेतनत्व के लिए एक दूसरे चेतनत्व की कल्पना करनी होगी और इस प्रकार अनन्त चेतनत्व की कल्पना करने में अनवस्था दोष आएगा। यदि इस दोष से बचने के लिए चेतना गुण में स्वयं चैतन्यता रहती है, ऐसा माना जाए तो अग्नि के उष्ण गुण की तरह[4] आत्मा को भी स्वतः चैतन्य स्वरूप मान लेना चाहिए। मल्लिषेण ने भी इसी प्रकार विवेचन किया है, अतः सिद्ध है कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है, चैतन्य और आत्मा भिन्न-भिन्न नहीं हैं[5]।

चेतना के समवाय सम्बन्ध से आत्मा को चैतन्य रूप मानने पर एक दोष यह भी आता है कि एक आत्मा को ज्ञान होने से समस्त आत्माओं को पदार्थों का ज्ञान हो जाएगा। क्योंकि आत्मा व्यापक है तथा समवाय नित्य, एक तथा व्यापक होने के कारण समस्त पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध रहता है। अतः इस प्रकार सभी सर्वज्ञ हो जायेंगे। ऐसा मानना अभीष्ट एवं तर्क-संगत नहीं है।

---

१. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, १९६।
२. वही, १९७-१९८।
३. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, १९९-२०३। षडदर्शनसमुच्चय, कारिका ४९।
"यदि च प्रदीपात् प्रकाशस्यात्यन्त भेदेऽपि—, तदा घटादीनामपि—"
स्याद्वादमंजरी, का० ८।
४. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।११।
५. स्याद्वादमंजरी, ८।

यदि आत्मा में चैतन्य समवाय सम्बन्ध से उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार घट में रूपादि समवाय से रहते हैं तब आत्मा को अनित्य मानना पड़ेगा। क्योंकि जिस प्रकार रूपादि के नष्ट हो जाने पर उसके आश्रयस्वरूप घट का नाश हो जाता है उसी प्रकार चैतन्य के नष्ट होने पर उसके आश्रयस्वरूप आत्मा भी नष्ट हो जाएगी। अतः आत्मा को अनित्य मानना पड़ेगा जो न्याय वैशेषिक दर्शन के विरुद्ध है[1]।

आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानने पर आत्मा और ज्ञान में कर्ता-करण भाव सम्बन्ध नहीं बनता, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार 'अग्नि उष्णता से पदार्थों को जलाती है' इस ज्ञान में अग्नि और उष्णता में कर्ता-करण भाव बन जाता है, इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान में कर्तृकरण भेद बन सकता है[2]। स्याद्वादमंजरी में भी कहा है कि 'सर्प अपने आप को घेरता है' जिस प्रकार इस वाक्य में कर्ता-करण में अभिन्न होने पर भी कर्ता-करण भाव बन जाता है इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान के अभिन्न होने पर दोनों में कर्ता-करण भाव सम्बन्ध बन सकता है[3]। अतः ज्ञान आत्मा से भिन्न न होकर आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है।

सुषुप्ति अवस्था में चैतन्य का अनुभव होता है :

प्रभाकर एवं न्याय-वैशेषिकों का कहना है कि सुषुप्ति अवस्था में चैतन्य का अनुभव नहीं होता है इसलिए आत्मा चैतन्य स्वरूप नहीं है। यदि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में ज्ञान या चैतन्य विद्यमान रहता तो जागृत अवस्था की तरह सुषुप्ति अवस्था में भी वस्तुओं का ज्ञान होना चाहिए, मगर होता नहीं, इसलिए सिद्ध है कि उस समय आत्मा में ज्ञान या चैतन्य विद्यमान नहीं रहता है[4]। जैन, भाट्ट-मीमांसक एवं सांख्य दार्शनिक न्याय-वैशेषिक के उपर्युक्त कथन से सहमत नहीं हैं। इनका मत है कि सुषुप्ति अवस्था दर्शनावरणीय कर्म की वह अवस्था है जिसमें कर्मप्रकृति चैतन्य को उसी प्रकार ढांक लेती है जिस प्रकार बादल सूर्य को ढांक लेता है किन्तु उस समय भी चैतन्य सूक्ष्म और निर्विकल्प रूप में आत्मा में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में चेतना नष्ट नहीं होती किन्तु कर्म के आवरण के कारण कुछ धूमिल हो जाती है।

—व्यापकत्वादेकज्ञानेन सर्वेषां विषयावबोधप्रसंगः।—स्याद्वादमंजरी, ८।

१. वही।

२. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।५।

३. स्याद्वादमंजरी, ८।

४. पंचदशी, ६।८९-९०।

सुषुप्ति अवस्था में स्वाद आदि का एवं उनके सुख का संवेदन होता है[१]। सोकर जागने के बाद 'मैं सुखपूर्वक सोया' इस प्रकार का अनुभव सिद्ध करता है कि सुषुप्ति अवस्था में चैतन्यता विद्यमान रहती है। यदि सुषुप्ति अवस्था में चैतन्य विद्यमान न रहता तो 'मैं सुखपूर्वक सोया' 'इतने काल तक निरन्तर सोया,' 'इतने काल तक सान्तर सोया' इस प्रकार जो स्मरण होता है वह नहीं होना चाहिए, लेकिन इस प्रकार का स्मरण होता है इससे सिद्ध है कि सुषुप्ति अवस्था में चेतना नष्ट नहीं होती है[२]। कुमारिल भट्ट एवं सांख्य दर्शन में भी कहा है कि 'मैं जड़ होकर सो गया था' इस जड़ता की स्मृति होती है और यह स्मृति बिना अनुभव के सम्भव नहीं है। अतः उपर्युक्त प्रकार की स्मृति सिद्ध करती है कि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में चैतन्य विद्यमान रहता है[३]। प्रभाचन्द्र ने भी प्रमेयकमलमार्तण्ड[४] में कहा है कि 'ज्ञान के अभाव में स्मृति नहीं हो सकती है क्योंकि ज्ञात वस्तु का ही स्मरण होता है और वह स्मरण भी अपने विषय के ज्ञान के पश्चात् ही होता है, जैसे घटादि का स्मरण। यदि सोने के सुख के स्मरण को ज्ञान हुए बिना स्वीकार किया जाएगा तो घटादि का स्मरण भी घटादि के ज्ञान किये बिना मानना होगा, और ऐसा मानना ठीक नहीं है। अतः सिद्ध है कि स्वादादि का सुषुप्ति में ज्ञान होता है और उस अवस्था में चैतन्य आत्मा में वर्तमान रहता है। सुषुप्ति अवस्था की तरह मत्तमूर्च्छादि अवस्थाओं में भी ज्ञान का सद्भाव सिद्ध होता है, क्योंकि मत्तमूर्च्छादि के बाद अनुभव होता है कि 'मूर्च्छादि अवस्था में मैंने कुछ भी अनुभव नहीं किया'[५]।

यद्यपि जागृत अवस्था की तरह सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान आत्मा में विद्यमान रहता है तो भी दोनों अवस्थाओं को समान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जागृत अवस्था में ज्ञान प्रकट रूप में और सुषुप्ति अवस्था में अप्रकट रूप में विद्यमान रहता है[६]। निद्रादर्शनावरणीयकर्म ज्ञान पर आवरण डाल देता है इसलिए ज्ञान बाह्य और आध्यात्मिक विषय के विचार से रहित उसी प्रकार हो

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८४८; विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० ६०।

२. वही।

३. पंचदशी, ६।९६।

४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३२३।

५. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८४८। प्रमेयकमलमार्तण्ड, ३२३। तर्कसंग्रहपंजिका, पृ० ५४०।

६. विशेष इति।—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८४७। सन्मतितर्क टीका, पृ० १६३। प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३२३।

जाता है जिस प्रकार मंत्रादि के द्वारा अग्नि आदि की शक्ति का अभिभव या प्रतिबन्ध कर दिया जाता है[1]।

सुषुप्ति अवस्था में चैतन्य का लोप हो जाता है, यदि यह सिद्धान्त माना जाय तो 'सुषुप्ति में चैतन्य का लोप हो गया' इसे सिद्ध करने के लिए साक्षी की आवश्यकता होगी अर्थात् यह बतलाना होगा कि इस प्रकार के ज्ञान को कौन जानता है? वही आत्मा चैतन्य के अभाव को नहीं जान सकता है क्योंकि उस समय न्याय-वैशेषिकों ने आत्मा में ज्ञान का अभाव माना है। ज्ञान के बिना विषय को कैसे जाना जा सकता है[2]। अतः सिद्ध है कि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में चैतन्य विद्यमान रहता है इसलिए आत्मा चैतन्य स्वरूप है।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है—प्रकृति का परिणाम नहीं :

जैन दर्शन ज्ञान और चेतना में कोई भेद नहीं मानता है इसलिए इस सिद्धांत में आत्मा जिस प्रकार चैतन्य स्वरूप माना गया है उसी प्रकार ज्ञान स्वरूप भी माना गया है। यद्यपि सांख्य दार्शनिक भी आत्मा को चैतन्य स्वभाव मानते हैं लेकिन वे उसे ज्ञान स्वरूप नहीं मानते हैं। इनके मत में ज्ञान प्रधान (प्रकृति) का परिणाम (अर्थात्—बुद्धि को अचेतन मान कर ज्ञान को उसका धर्म) मानते हैं। प्रकृति और पुरुष के संसर्ग होने पर अचेतन बुद्धि में घट-पटादि विषय का एवं दूसरी तरफ से चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण पुरुष अपने को ज्ञाता समझने लगता है, वास्तव में बुद्धि ही घटादि पदार्थों को जानती है। आत्मा (पुरुष) को ज्ञानस्वभाव न मानने का एक कारण यह भी है कि सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का अनुभव नहीं होता है।

जैन दार्शनिकों ने सांख्य दर्शन के इस सिद्धान्त की कि 'आत्मा ज्ञान स्वरूप नहीं तथा ज्ञान अचेतन प्रकृति का परिणाम है', तीव्र आलोचना की है। अमितगति आचार्य ने कहा है कि यदि आत्मा को ज्ञान रहित माना जाएगा तो ज्ञानपूर्वक होने वाली क्रियाएँ अर्थात् पदार्थ को जानना आदि असम्भव हो जाएगा[3]। 'पुरुष' को चैतन्य स्वरूप मान कर ज्ञान रहित मानना परस्पर विरुद्ध है। क्योंकि यहां पहले लिखा जा चुका है कि 'चित्' धातु का अर्थ जानना होता है। यदि स्व-पर पदार्थों को जानना चैतन्य-शक्ति का स्वभाव नहीं है तो चेतना शक्ति

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८४९, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३२२।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८५०।

३. क्रियाणां ज्ञानजन्यानां तत्राभावप्रसंगतः।—श्रावकाचार (अमितगति), ४।३१।

घट की तरह ही हो जाएगी[1]। अतः यह मानना चाहिए कि ज्ञान का संवेदन आत्मा में ही होता है इसलिए आत्मा ज्ञान स्वरूप है। आत्मा ज्ञान रहित है इस प्रकार किसी को भी अनुभव नहीं होता है, इसके विपरीत 'मैं चेतन हूँ' इस प्रकार चैतन्य के अनुभव की तरह 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ' या 'मैं ज्ञाता हूँ' ज्ञान का संवेदन आत्मा में होता है। इसलिए मानना चाहिए कि आत्मा चैतन्य स्वरूप की तरह ज्ञान स्वरूप भी है[2]।

यदि ज्ञान को प्रकृति का परिणाम अर्थात् बुद्धि का धर्म माना जाए तो घटादि पदार्थ में भी बुद्धि की तरह ज्ञान होना चाहिए क्योंकि घटादि भी बुद्धि की तरह प्रकृति के परिणाम एवं अचेतन पदार्थ हैं, लेकिन घटादि पदार्थ ज्ञानवान् दृष्टिगोचर नहीं होते हैं[3]। इसलिए सिद्ध है कि ज्ञान प्रधान (प्रकृति) का परिणाम नहीं बल्कि आत्मा का स्वरूप है। यदि प्रकृति के संसर्ग से आत्मा (पुरुष) को ज्ञानी माना जाएगा तो प्रकृति के संसर्ग से आत्मा के अन्य स्वाभाविक गुण चैतन्य, उदासीन आदि का भी होना मानना पड़ेगा जो सांख्यों को मान्य नहीं है।[4] दूसरी बात यह है कि अन्य के ज्ञान से दूसरा ज्ञानी नहीं हो सकता है अन्यथा किसी के ज्ञान से कोई भी ज्ञानवान हो जाएगा।[5] इसलिए प्रधान के संसर्ग से आत्मा ज्ञानी हो जाता है यह कथन ठीक नहीं है।

सांख्य दार्शनिक आत्मा को अज्ञानी सिद्ध करते हुए कहते हैं कि आत्मा अज्ञानस्वरूप है क्योंकि आत्मा चैतन्य स्वभाव वाला है। यदि आत्मा ज्ञान-स्वभाव वाला होता तो सुषुप्ति अवस्था में आत्मा को ज्ञान का अनुभव होना चाहिए, किन्तु उसका अनुभव नहीं होता है इसलिए सिद्ध है कि पुरुष ज्ञान-स्वरूप न होकर अज्ञानस्वरूप है।[6]

---

१. चिती संज्ञाने। चेतनं चित्यते वानयेति चित्। सा चेत् स्वपरपरिच्छेदात्मिका नेष्यते तदा चिच्छक्तिरेव सा न स्यात्, घटवत्।—स्याद्वादमंजरी, १५।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २२८।

३. अचेतनस्य न ज्ञानं प्रधानस्य प्रवर्त्तते।
स्तम्भकुम्भादयो दृष्टा न क्वापि ज्ञानयोगिनः॥—श्रावकाचार (अमितगति), ४।३७।

४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २२९।

५. प्रधानज्ञानतो ज्ञानी, वाच्यो ज्ञानशालिभिः।
अन्यज्ञानेन न ह्यन्यो, ज्ञानी क्वापि विलोक्यते॥—श्रावकाचार (अमितगति), ४।३२।

६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २३०।

विद्यानन्दी का कहना है कि सांख्यों ने आत्मा को अज्ञान स्वरूप सिद्ध करने में जो हेतु दिया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार आत्मा को अज्ञान स्वरूप सिद्ध किया गया है उसी प्रकार वह अचेतन भी सिद्ध हो जाएगा, जो सांख्यों को मान्य नहीं है। सांख्य दर्शन आत्मा को व्यापक मानता है, जिसका तात्पर्य है कि आत्मा शरीर के वाहर भी रहता है। अतः जिस प्रकार शरीर के वाहर आत्मा अचेतन है, उसी प्रकार शरीरस्थ आत्मा भी अचेतन है, क्योंकि शरीर के वाहर स्थित आत्मा और शरीर के अन्दर स्थित आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार आत्मा को अज्ञान स्वरूप सिद्ध करने से आत्मा जड़स्वरूप सिद्ध हो जाएगा।[1]

सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान का अनुभव होता है :

सांख्य दार्शनिकों का यह कथन कि सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य को ज्ञान का अनुभव नहीं होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि निद्रावस्था से उठने के वाद 'मैं वहुत देर तक सोया, सुखपूर्वक सोया' आदि का स्मरण होता है। इस स्मरण से सिद्ध है कि गाढ़ निद्रा में ज्ञान विद्यमान रहता है।[2] अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है। दूसरी वात यह है कि यदि सांख्य दार्शनिक सुषुप्ति दशा में ज्ञान की सत्ता आत्मा में नहीं मानेंगे तो सुषुप्ति अवस्था में चैतन्य की सत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी। क्योंकि ज्ञान सुख का संवेदन करना ही चैतन्य कहलाता है। यदि सांख्य सुषुप्ति अवस्था में प्राण, वायु, नाड़ी आदि के चलने से आत्मा में चैतन्य का विद्यमान होना मानते हैं तो इस प्रकार से ज्ञान आत्मा का स्वभाव ही सिद्ध हो जाता है।[3] श्वासोच्छ्वास चलना, नेत्र खोलना आदि क्रियाएँ जिस प्रकार जागृत अवस्था में चैतन्य के होने पर होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान के होने पर होती हैं।[4] अतः आत्मा जिस प्रकार चैतन्य स्वरूप है उसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप भी है।

---

१. जीवो ह्यचेतनः काये जीवत्वाद् वाह्यदेशवत् ।
वक्तुमेवं समर्थोऽन्यः किं न स्याज्जडजीववाक् ।।
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।२३१।

२. वही, १।२३५।

३. यथा चैतन्यसंसिद्धिः सुषुप्तावपि देहिनः ।
प्राणादिदर्शनात्तद्वद्वोधादिः किं न सिद्धयति ।। —वही, १।२३६।

४. जाग्रतः सति चैतन्ये यथा प्राणादिवृत्तयः ।
तथैव सति विज्ञाने दृष्टास्ता वाधवर्जिताः ।।
—वही, १।२३७।

यदि सांख्य आत्मा को इसलिए ज्ञानस्वरूप नहीं मानते हैं क्योंकि ज्ञान रूपादि की तरह अचेतन, कार्य तथा क्षणिक है, तो उनका यह कथन भी ठीक नहीं है अन्यथा आत्मा भोगस्वरूप भी सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि भोग भी कदाचित् कभी-कभी होने वाला है। 'पुरुष' (आत्मा) बुद्धि के अध्यवसाय पूर्वक ही उपभोग करता है। यदि ऐसा न माना जाए तो आत्मा सर्वदर्शी और सर्वभोक्ता हो जाएगा, और ऐसा मानने से दीक्षा, तपस्या, तत्त्वज्ञानादि व्यर्थ हो जाएंगे। अतः सिद्ध है कि आत्मा चैतन्य तथा ज्ञानस्वरूप है।[1]

बुद्धि अचेतन नहीं है

सांख्य दार्शनिक बुद्धि को अचेतन मानते हैं किन्तु उनका यह मन्तव्य भी ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन बुद्धि सुख-दुःखादि ज्ञेय पदार्थो का ज्ञान नहीं कर सकती है।[2] चैतन्य शक्ति के सम्पर्क से कोई भी जड़ पदार्थ चैतन्य स्वरूप नहीं हो सकता है अन्यथा दर्पण भी चैतन्यादि स्वभाव वाला हो जाएगा, जो असम्भव है। दूसरी बात यह है कि चेतना का आरोप अचेतन बुद्धि में करने पर भी अचेतन बुद्धि द्वारा ज्ञेय पदार्थो का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः बुद्धि को अचेतन मान कर ज्ञान को उसका धर्म मानना ठीक नहीं है।[3] ज्ञान आत्मा का स्वभाव है यह सिद्ध हो जाता है।

आत्मा का स्व-पर प्रकाश

भारतीय दर्शन में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विवादों में से एक आत्मा के स्व-पर प्रकाशी स्वभाव से सम्बद्ध है। इस समस्या का अत्यधिक दार्शनिक महत्त्व हैं। श्रुति एवं आगम कालीन साहित्य में ज्ञान और आत्मा को स्व-पर प्रकाशक मानने के बीज पाये जाते हैं।[4] इसके अतिरिक्त छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में आत्मा को 'हृदयानरज्योति' 'भारूप' कहा गया है।[5] गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'जिस प्रकार सूर्य समस्त संसार को प्रकाशित करता है उसी तरह शरीर क्षेत्र का ज्ञाता आत्मा भी सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है।[6] इसी प्रकार गीता में आत्मा-स्व-प्रकाश स्वरूप परिलक्षित होता है। इन विचारों का स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण तर्क

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।२४३-२४४।

२. स्याद्वादमंजरी, १५।

३. वही, १४०।

४. कठोपनिषद्, २।२।१५।

५. (क) बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।३।७। (ख) छान्दोग्य उपनिषद्, ३।१४।२।

६. गीता, १३।३३।

युग में हुआ है। अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत आदि वेदान्त, सांख्य-योग, बौद्ध इनके मतानुसार आत्मा स्व-प्रत्यक्ष (स्व-प्रकाश) स्वरूप है। कुमारिल भट्ट ने ज्ञान को परोक्ष मानकर भी आत्मा को वेदान्त की तरह स्व-प्रकाश स्वरूप माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारिल के लिए श्रुतियों का विरोध, जिसमें आत्मा को स्व-प्रकाश रूप कहा गया है, करना सम्भव नहीं था। मीमांसक-दार्शनिक प्रभाकर और उनके मतानुयायी आत्मा को स्व-प्रकाशक नहीं मानते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन में योगज प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष मान कर उसे पर-प्रत्यक्ष माना गया है। अर्वाग्दर्शी की अपेक्षा ज्ञानान्तर-वेद्य ज्ञानवादी होने के कारण प्राचीन न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने आत्मा का पर-प्रत्यक्ष ही माना है किन्तु बाद के दार्शनिक उद्योतकर आदि ने आत्मा को मानस प्रत्यक्ष का विषय मान कर उसका स्व-प्रत्यक्ष माना है।

जैन दार्शनिक आत्मा को स्व-पर प्रत्यक्ष मानते हैं। इस विषय में इन दार्शनिकों का मत है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है इसलिए आत्मा भी स्व-पर प्रकाशक है। इस दर्शन में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने आपको प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तथा पर-पदार्थों को प्रकाशित करता है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द प्रथम जैन आचार्य हैं जिसने ज्ञान को सर्वप्रथम स्व-पर प्रकाशक मान कर इस चर्चा का जैन दर्शन में सूत्रपात किया है।[2] बाद के आचार्यों ने इनके मन्तव्य का एक स्वर से अनुकरण किया।

आत्म-बहुत्व : न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा दर्शनों की भाँति जैन दर्शन में भी अनेक आत्माओं की कल्पना की गयी है। उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र में आये हुए 'जीवाश्च'[3] सूत्र की व्याख्या करते हुए अकलंक देव ने कहा है कि जीव अनेक प्रकार के होते हैं। गति आदि चौदह मार्गणा, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों के भेद से आत्मा अनेक पर्यायों को धारण करने के कारण अनेक हैं। इसी प्रकार मुक्त जीव भी अनेक हैं।[4] जैन दार्शनिक अपरिमित और असीम आत्माओं को मान कर प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा मानते

---

१. पंचाध्यायी (पूर्वार्ध), कारिका ५४१। पंचाध्यायी (उत्तरार्ध), कारिका ३९१ एवं ८३७।

२. नियमसार, १६६-१७२। और भी देखें इन्हीं गाथाओं की मुनि पद्मप्रभ मल्लधारी देव की तात्पर्य टीका।

३. तत्त्वार्थ सूत्र, ५।३।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।३।३।

हैं। पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर सिद्धों पर्यन्त सभी की अलग-अलग आत्माएँ हैं। जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि एक शरीर में एक से अधिक आत्माएँ रह सकती हैं किन्तु एक आत्मा अनेक शरीरों में नहीं रह सकती है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण[1] ने जीव की अनेकता सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क दिये हैं। उन्होंने कहा कि नारकादि पर्यायों में आकाश की भाँति एक आत्मा सम्भव नहीं है क्योंकि आकाश के एकत्व का अनुभव होता है किन्तु जीव के एकत्व का अनुभव नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक पिण्ड में जीव विलक्षण है, इसलिए भी उसे एक नहीं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जीव अनेक हैं क्योंकि उनमें लक्षण-भेद है, जैसे विविध घट। अनेक नहीं होने वाली वस्तु में लक्षण-भेद नहीं होता है, जैसे आकाश। एक आत्मा मानने से सुख, दुःख, बन्ध और मोक्ष आदि की व्यवस्था नहीं हो सकती है। एक ही आत्मा एक ही समय में सुखी-दुःखी, बद्ध-मुक्त नहीं हो सकती है। अतः आत्मा एक नहीं, अनेक हैं।

सांख्य-दर्शन में आत्म-बहुत्व : १. जैन दर्शन की भाँति सांख्य दार्शनिक भी आत्म-बहुत्व मानते हैं। ईश्वरकृष्ण ने आत्मा की अनेकता सिद्ध करने के लिए महत्त्वपूर्ण युक्तियां दी हैं। सांख्यकारिका[2] में कहा है कि प्रत्येक पुरुष के जन्म-मरण एक ही तरह के न होकर विभिन्न होते हैं। एक का जन्म होता है, दूसरे का मरण होता है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक के उत्पन्न होने से सबकी उत्पत्ति और एक के मरण से सबका मरण होना मानना पड़ता जो असंगत है। अतः सिद्ध है कि आत्माएँ अनेक हैं।

२. इसी प्रकार प्रत्येक पुरुष की इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं। कोई बहरा है, कोई अन्धा है और कोई लूला है आदि। एक आत्मा होने पर पुरुषों की इन्द्रियों में विभिन्नता नहीं होती। एक आत्मा होती तो एक पुरुष के अन्धे होने पर सबको अन्धा होना पड़ता किन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए सिद्ध है कि आत्माएँ अनेक हैं।

३. समस्त पुरुषों की प्रवृत्तियों के भिन्न-भिन्न होने से भी आत्माएँ अनेक सिद्ध होती हैं।

४. विभिन्न पुरुषों में सत्त्व-रज और तम—इन गुणों में न्यूनाधिक होने से भी आत्मा की अनेकता सिद्ध होती है।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, १५८१, १५८२।

२. (क) सांख्यकारिका, १८।

(ख) सांख्य सूत्र, १।१४९। (ग) सांख्य प्रवचन भाष्य, ६।४५।

जैन एवं सांख्य दार्शनिकों की तरह न्याय-वैशेषिक दार्शनिक भी आत्माओं को अनेक मानते हैं। आत्मा की अनेकता का कारण न्याय-वैशेषिकों ने सांख्य दार्शनिकों की भाँति स्थिति और अवस्थाओं की विविधता को बताया है। इसके अतिरिक्त आगम-प्रमाण से भी आत्मा की अनेकता सिद्ध की है। मीमांसक दार्शनिक भी जैन दार्शनिकों की तरह आत्मा को अनेक मानते हैं। प्रकरण-पंजिका में प्रभाकर ने कहा है कि आत्मा अनेक तथा प्रति शरीर भिन्न-भिन्न है।[१] इनका तर्क है कि जिस प्रकार मेरी क्रियाएँ मेरी आत्मा के कारण हैं, उसी प्रकार अन्य की क्रियाएँ अन्य आत्माओं के कारण ही सम्भव है।[२] अनेक आत्माओं के न मानने से अनुभवों की व्याख्या करना ही असम्भव हो जायगा। रामानुज आदि वैष्णव आचार्य भी अनेकात्मवाद को मानते हैं।

एकात्मवाद की समीक्षा : अद्वैत वेदान्त एक आत्मा (ब्रह्म) को ही मानते हैं। यह एकमेवमद्वितीय है। जिस प्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिविम्ब विभिन्न जलपात्रों में पड़ने पर वह अनेक रूप में दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार एक आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ने से वह अनेक प्रतीत होता है। अतः अनेकात्मवाद की कल्पना अज्ञान के कारण है।

सूत्रकृतांग सूत्र[३] में इस मत की समीक्षा में कहा गया है कि एकात्मवाद की कल्पना युक्तिरहित है। क्योंकि यह अनुभव से सिद्ध है कि सावद्य अनुष्ठान करने में जो आसक्त रहते हैं, वे ही पाप-कर्म करके स्वयं नरकादि के दुःखों को भोगते हैं, दूसरे नहीं। अतः आत्मा एक नहीं है, बल्कि अनेक है। विश्वतत्त्व प्रकाश में कहा है कि यदि आत्मा एक होता तो एक ही समय में यह तत्त्वज्ञ है तथा मिथ्याज्ञानी है, यह आसक्त है तथा विरक्त है इस प्रकार के विरुद्ध व्यवहार न होते। अतः आत्मा एक नहीं है।[४] यदि एक ही आत्मा मानी जाये तो एक व्यक्ति के द्वारा देखे गये तथा अनुभूत पदार्थ का स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञान दूसरे व्यक्ति को भी होना चाहिए, क्योंकि दोनों की आत्मा एक है। किन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः सिद्ध है कि आत्मा अनेक हैं।[५] एक आत्मा मानने से एक के जन्म से सब का जन्म और एक के मरण से सब का मरण मानना पड़ेगा।

---

१. प्रकरणपंजिका (प्रभाकर) पृ० १४१।

२. भारतीय दर्शन : डॉ० राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ४०४।

३. सूत्रकृतांग सूत्र, १।१।१।१०।

४. विश्वतत्त्वप्रकाश (भावसेन) पृ० १७४।

५. (क) विश्वतत्त्वप्रकाश (भावसेन), पृ० १७५।
   (ख) शास्त्रदीपिका, (पार्थसारथि), पृ० १२४।

इसी तरह से एक के दुःखी होने से सबको दुःखी तथा एक के सुखी होने से सब को सुखी मानना पड़ेगा। लेकिन इस प्रकार की अव्यवस्था यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होती है, अर्थात्—सभी के जन्म-मरण, सुख-दुःख अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिए सिद्ध है कि आत्मा एक नहीं, अनेक हैं।[१] स्वामी कार्तिकेय ने कहा भी है कि एक ब्रह्म मात्र को आत्मा मानने से चण्डाल और ब्राह्मण में भेद ही नहीं रहेगा।[२] भट्टाकलंक देव ने भी कहा है कि धर्मादि की तरह जीव-पुद्गल एक-एक द्रव्य नहीं हैं, अन्यथा क्रियाकारक का भेद, संसार एवं मोक्ष आदि नहीं हो सकेंगे।[३] हेमचन्द्र[४] ने भी यही कहा है।

'आत्मा एक है' यदि इस कथन का तात्पर्य है कि 'प्रमाता एक है', तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक शरीर के सुख-दुःख का ज्ञाता जीव भिन्न-भिन्न है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है। यदि ऐसा न मानकर सबका एक प्रमाता माना जाए तो पशु-पक्षी मनुष्यादि का भेद तथा माता-पिता का भेद नष्ट हो जायगा।[५] दूसरी बात यह है कि वेदान्त दर्शन में अन्तःकरण से अविच्छिन्न चैतन्य को प्रमाता कहा है। अतः अन्तःकरण अनन्त हैं इसलिए प्रमाता भी अनन्त सिद्ध होते हैं।[६]

वेदान्तियों का यह तर्क—कि आत्मा आकाश की तरह व्यापक है इसलिए एक है—ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा व्यापक नहीं है, इसकी मीमांसा आगे की जायेगी। यदि कहा जाए कि आत्मा अमूर्तिक है, इसलिए एक है, जैसे आकाश, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि यह कोई व्याप्ति नहीं है कि जो अमूर्त हो वह एक ही हो। क्रिया अमूर्त होते हुए भी अनेक होती है। इसी प्रकार आत्मा अमूर्त होते हुए अनेक माननी चाहिए।[७] अतः आत्मा को नित्य होने के

१. सर्वेषामेक एवात्मा युज्यते नेति जल्पितुम्।
जन्ममृत्युसुखादीनां भिन्नानामुपलब्धितः॥
—श्रावकाचार (अमितगति), ४।२८।

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २३५।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।६।६।

४. मुक्तोऽपि वाऽभ्येतु भवं भवो वा भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्यमाख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः॥
—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, २९।

५. विश्वतत्त्वप्रकाश, पृ० १७९।

६. वही।

७. ननु आत्मा एक एव अमूर्तत्वात् आकाशवदिति चेन्न।
हेतोः क्रियाभिर्व्यभिचारात्।—वही, पृ० १८०।

कारण भी उसे एक मानना ठीक नहीं है, क्योंकि घटत्व आदि अपर सामान्य तथा परमाणु आदि नित्य होते हुए भी अनेक होते हैं ।[१] विद्यानन्दि ने एकात्मवाद की समीक्षा करते हुए कहा है कि यदि स्वप्नादि का ज्ञान जिस प्रकार भ्रांत होता है, उसी प्रकार से यदि जीव के अनेकपने के ज्ञान को भ्रांत माना जायेगा तो 'एकोऽहं' इस ज्ञान को भी भ्रांत मानना पड़ेगा । वेदान्ती यह नहीं कह सकते हैं कि मुझे अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की आत्मा का अनुभव नहीं होता है, अन्यथा शून्यवाद की सिद्धि हो जायेगी । क्योंकि वेदान्ती अजीव द्रव्य मानते ही नहीं और अन्य जीव का अस्तित्व न मानने से वे अपना अस्तित्व भी सिद्ध न कर सकेंगे । यदि कहा जाए कि स्वसंवेदन से एकात्मवाद की सिद्धि होती है तो उसी प्रकार अन्य अनेक आत्माओं की भी सिद्धि हो जाती है । अतः आत्मा एक नहीं, अनेक या अनन्त हैं ।[२]

जीव एक ब्रह्म का अंश नहीं है : वेदान्तियों का मत है कि जिस प्रकार चन्द्रमा एक होते हुए भी जल के बहुत से घड़ों में भिन्न-भिन्न रूप से दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म एक ही है किन्तु (अविद्या के वश से) बहुत-से शरीरों में भिन्न रूप से दृष्टिगोचर होता है । अतः जीव को एक ब्रह्म का अंश ही मानना चाहिए ।

जैन दार्शनिक उपर्युक्त सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं, इसलिए उनका कहना है कि आकाशस्थ चन्द्रमा जल के बहुत से घड़ों में विभिन्न रूप से नहीं दिखलाई देता बल्कि बहुत-से जल से भरे हुए घड़ों में चन्द्र-किरणों की उपाधि के निमित्त से जलरूप पुद्गल ही चन्द्राकार रूप से परिणत होता है । यथा देवदत्त के मुख के निमित्त से बहुत से दर्पणों के पुद्गल ही नाना मुखाकार रूप से परिणत हो जाते हैं, देवदत्त का मुख नाना रूप नहीं होता है । देवदत्त का मुख स्वयं नाना रूप धारण कर लेता है—यदि ऐसा माना जाए तो दर्पण में विद्यमान मुख के प्रतिबिम्बों में भी चैतन्य स्वरूप होना चाहिए मगर ऐसा होता नहीं है । इस प्रकार चन्द्रमा नहीं अपितु जलरूप पुद्गल ही नाना रूप परिणमन को प्राप्त होता है ।[३] परमात्मप्रकाश की टीका में भी यही कहा गया है ।[४]

जीव ब्रह्म का 'अंश' नहीं है, इसकी पुष्टि में दूसरा तर्क यह भी दिया

---

१. अथ आत्मा एक एव नित्यत्वात् आकाशवदिति चेन्न ।
अपरसामान्यैर्हेतोर्व्यभिचारात् ।—वही, पृ० १८० ।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।४।३०, ३३, ३४ ।

३. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका, ७१ ।

४. परमात्मप्रकाश टीका, २।९९ ।

गया है कि चन्द्रमा की तरह ब्रह्म का इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता है, जो चन्द्रमा की तरह नाना रूप हो जाए। अतः जीव का ब्रह्म का अंश होना सिद्ध नहीं होता है।[1]

अनेकात्मवाद और लाइबनित्ज : जैन-दर्शन के अनेकात्मवाद की तुलना जर्मन-दार्शनिक लाइबनित्ज से की जा सकती है। लाइबनित्ज के सिद्धान्तानुसार अनेक चिदणु हैं, जिनमें चैतन्य का स्वतन्त्र विकास हो रहा है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि लाइबनित्ज और जैन-दर्शन में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ समानता है।

आत्म-परिमाण : भारतीय दर्शन में आत्मा के परिमाण के विषय में विभिन्न विचारधाराएँ परिलक्षित होती हैं। उपनिषदों में आत्मा को व्यापक[3], अणु[4] और शरीर प्रमाण[5] बताया गया है। इस विषय में विशेष विचार नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

आत्मा अणु परिमाण वाला है : रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य—ये दार्शनिक आत्मा को अणु परिमाण मानते हैं। इनका मत है कि आत्मा बाल के हजारवें भाग के बराबर है और हृदय में निवास करता है।[6] आचार्य रामानुज ने कहा है—अणु परिमाण वाला जीव ज्ञान गुण के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में होने वाली सुखादि संवेदन रूप क्रिया का अनुभव करता है। जिस प्रकार दीपक की शिखा छोटी होते हुए भी संकोच-विस्तार गुण वाली होने से समस्त पदार्थों को प्रकाशित करती है, इसी प्रकार आत्मा ज्ञान-गुण के द्वारा शरीर में होने वाली क्रियाओं को जान लेती है।[7] अणुपरिमाणवादियों का तर्क है कि यदि आत्मा को अणुपरिमाण न मान कर व्यापक माना

---

१. किं च न चैकब्रह्मनामा कोऽपि दृश्यते....।

—पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, ७१।१२४।

२. द्रष्टव्य—पाश्चात्य दर्शन—सी० डी० शर्मा।

३. (क) कठोपनिषद्, १।२।२२। (ख) श्वेताश्वतर उप०, २।१।२। (ग) मुण्डक उप०, १।१।६।

४. (क) यथा व्रीहिर्वा यवो वा....।—वृहदारण्यक उप०, ३।८।८। (ख) वही, ५।६।७। (ग) कठोपनिषद्, २।१।१३। (घ) छान्दोग्य उप०, ३।७४।३।

५. (क) मुण्डक उप०, १।१।६। (ख) छान्दोग्य उप०, ३।१४।३।

६. पंचदशी, ६।८१। भारतीय दर्शन (डॉ० राधाकृष्णन्), भाग २, पृ० ६९२।

७. ब्रह्मसूत्र रामानुज भाष्य, २।३।२४-६। भारतीय दर्शन (डॉ० राधाकृष्णन्), भाग २, पृ० ६९३।

जाए तो आत्मा परलोक गमन न कर सकेगी। इसी प्रकार देह प्रमाण आत्मा मानने पर आत्मा को अनित्य मानना पड़ेगा। इसलिए उपर्युक्त दोषों के कारण आत्मा को वट-बीज की तरह अणु परिमाण मानना ही उचित है।

समीक्षा : आत्मा को अणु परिमाण मानने वालों की न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा एवं शंकराचार्य आदि दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिकों ने कड़ी आलोचना की है, जो निम्नांकित है :—

(अ) जैन दार्शनिकों का मत है कि यदि आत्मा को अणु परिमाण माना जाये तो शरीर के जिस भाग में आत्मा रहेगी उसी भाग में होने वाली संवेदना का अनुभव कर सकेगी, सम्पूर्ण शरीर में होने वाली संवेदनाओं का अनुभव उसे न हो सकेगा।[1] इसलिए आत्मा को अणुरूप मानना ठीक नहीं है।

(आ) अणुरूप आत्मा अलातचक्र के समान पूरे शरीर में तीव्र गति से घूम कर समस्त शरीर में सुख-दुःखादि अनुभव कर लेता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि चक्कर लगाते हुए आत्मा जिस समय जिस अंग में पहुँचेगी उस समय उसी अंग की संवेदना का अनुभव कर सकेगी एवं वही अंग सचेतन रहेगा और शेष अंग अचेतन हो जायेंगे। अतः अन्तराल में सुख का विच्छेद हो जाएगा। इसलिए आत्मा अणुरूप नहीं है।[2]

(इ) अणु परिमाण आत्मा मानने वाले यदि यह कहें कि सर्वाङ्ग सुख का अनुभव होना वायु का स्वभाव है तो उनका यह कथन भी ठीक नहीं है, सुख-ज्ञानादि अचेतन हवा का गुण नहीं है बल्कि चेतन आत्मा का स्वभाव है।[3]

(ई) यदि आत्मा अणु आकार माना जाए तो भिन्न इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला ज्ञान एक ही समय में नहीं होता, लेकिन नीबू देख कर रसना इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होना सिद्ध करता है कि युगपद् दो-तीन इन्द्रियों का ज्ञान होता है। अतः आत्मा अणु परिमाण नहीं है। यदि आत्मा अणु आकार का होता है तो मैं पैरों से चलता हूँ, हाथ से लेता हूँ, नेत्रों से देखता हूँ आदि विभिन्न प्रतीति एक समय में न होती। यह कहना भी ठीक नहीं है कि आत्मा राजा की तरह एक जगह रहकर विभिन्न इन्द्रियों रूपी नौकरों से इष्ट-अनिष्ट को जान कर सुख-दुःख को एक साथ प्राप्त करता है क्योंकि जिस प्रकार राजा के नौकर

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४०९। प्रमेयरत्नमाला, पृ० २९५। और भी देखें—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, २।३।२९।

२. प्रमेयरत्नमाला, पृ० २९५। श्रावकाचार (अमितगति) ४।२९।

३. समीरणस्वभावोऽयं सुंदरा नेति भारती।
सुखज्ञानादयो भावाः संति नाचेतने यतः।—श्रावकाचार, अमितगति ४।३०।

सचेतन होते हैं उस प्रकार इन्द्रियादि सचेतन नहीं होती, इसलिए वे आत्मा को इष्ट-अनिष्ट विषयों का समाचार नहीं दे सकते हैं। यदि कहा जाए कि इन्द्रियादि सचेतन हैं तो एक शरीर में अनेक चेतनों (आत्माओं) को मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। दूसरा दोष यह आयेगा कि एक शरीर में अनेक जीव एक साथ विभिन्न क्रिया करेंगे, जिसके कारण शरीर नष्ट ही हो जायेगा अथवा शरीर निष्क्रिय हो जायेगा। इन्द्रियादि समस्त अंगोपांगों को सचेतन मानने से आत्मा देह-परिमाण वाला सिद्ध हो जायेगा।[1] यदि उपर्युक्त दोषों से बचने के लिए कहा जाये कि इन्द्रियाँ सचेतन नहीं अचेतन हैं तो वे आत्मा को इष्ट-अनिष्ट विषयों का ज्ञान उसी प्रकार नहीं करा सकती हैं जिस प्रकार अचेतन नख, बाल इष्टादि का ज्ञान नहीं कराते हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ अपना प्रदेश छोड़कर जीव के प्रदेशों तक नहीं जाती हैं। जीव स्वयं इन्द्रिय-प्रदेश तक पहुँच कर इष्ट-अनिष्ट का ज्ञान करता है ऐसा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से समस्त शरीर में एक साथ सुख-दुःख का अनुभव न हो सकेगा जब कि सब शरीर में एक साथ सुखादि का अनुभव होता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। अतः आत्मा को अणु परिमाण मानना ठीक नहीं है।[2]

स्वामी कार्तिकेय ने अणु परिमाण की समीक्षा में कहा है कि "आत्मा को अणु रूप मानने पर आत्मा निरंश हो जायेगी, और ऐसा होने पर दो अंशों के पूर्वोत्तर में सम्बन्ध न होने के कारण कोई भी कार्य सिद्ध न हो सकेगा[3]।" इसलिए आत्मा को अणु रूप मानना व्यर्थ है। कर्मोदय से प्राप्त शरीर के बराबर ही आत्मा का आकार होता है, यही मानना उचित है।

आत्मा व्यापक नहीं है : न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा एवं अद्वैत वेदान्त में आत्मा को सर्वव्यापक माना गया है। गीता में भी आत्मा को व्यापक प्रतिपादित किया है।[4] उनका सिद्धान्त है कि आत्मा आकाश की तरह अमूर्त द्रव्य है इसलिए वह आकाश की तरह विभु अर्थात् महापरिमाण वाला है।[5] आत्मा को व्यापक मानने में न्याय-वैशेषिक की युक्ति है कि अदृष्ट सर्वव्यापी है और वह आत्मा का गुण है। इसलिए आत्मा भी व्यापक परिमाण वाला है।

---

१. विश्वतत्त्वप्रकाश (भावसेन), पृ० २०६।
२. वही, पृ० २०७।
३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २३५।
४. गीता, २।२०।
५. पंचदशी, ६।८६।

वह न तो अणु परिमाण है और न देह परिमाण है। अतः आत्मा को व्यापक ही मानना चाहिए।[1]

समीक्षा : रामानुजाचार्य तथा जैन दार्शनिकों ने आत्मा को विभु परिमाण वाला नहीं माना इसलिए उन्होंने इस सिद्धान्त का तार्किक रूप से खण्डन किया है। आत्मा अमूर्त है इसलिए उसे व्यापक मानना ठीक नहीं है क्योंकि अमूर्त का अर्थ रूपादि से रहित होना है। न्याय-वैशेषिक मत में मन अमूर्त माना गया है लेकिन उसे वे व्यापक नहीं मानते हैं।[2] अतः या तो मन की तरह आत्मा को व्यापक नहीं मानना चाहिए, या आत्मा की तरह मन को व्यापक मानना चाहिए, क्योंकि मन और आत्मा दोनों अमूर्त हैं। अतः आकाश की तरह अमूर्त होने से आत्मा को व्यापक मानना ठीक नहीं है।[3]

न्याय-वैशेषिक : न्याय-वैशेषिक आदि आचार्यों का कहना है कि आत्मा व्यापक है, क्योंकि व्यापक आकाश की तरह वह नित्य है।

जैन : जैन दार्शनिक प्रत्युत्तर में कहते हैं कि यह कोई व्याप्ति-नियम नहीं है कि जो नित्य हो, वह व्यापक भी हो। परमाणु आदि नित्य हैं किन्तु व्यापक नहीं हैं। आत्मा नित्य है इसलिए वह व्यापक है, यह कहना ठीक नहीं है। इसी प्रकार यह भी कहना उचित नहीं है कि आत्मा अमूर्त एवं नित्य है इसलिए व्यापक है, क्योंकि परमाणुओं के रूपादि गुण अमूर्त और नित्य होते हुए भी व्यापक नहीं हैं।[4] आत्मा को कथंचित् नित्य मानने पर भी वह घट की तरह व्यापक नहीं हो सकता है। कूटस्थ नित्य आत्मा नहीं है, यह लिखा जा चुका है।[5]

न्यायवैशेषिक : आत्मा आकाश की तरह स्पर्शादि से रहित है, इसलिए आकाश की तरह आत्मा व्यापक है।

जैन : न्याय-वैशेषिक का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि गुण और क्रिया भी स्पर्श-विहीन होती है किन्तु वह व्यापक नहीं मानी गयी है।[6] इसी प्रकार न्याय-वैशेषिक घट, पट आदि कार्य द्रव्यों को उत्पत्ति के प्रथम क्षण में

---

१. (क) तर्कभाषा (केशव मिश्र), पृ० १४९। (ख) प्रकरणपंजिका, पृ० १५७-५८।

२. विश्वतत्त्वप्रकाश, (भावसेन) ५६।

३. वही, पृ० १९३।

४. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २६४, २६६।

५. गुणक्रियाभिर्हेतोर्व्यभिचारात्। विश्वतत्त्व प्रकाश, पृ० १९३।

स्पर्शरहित मानते हैं किन्तु व्यापक नहीं मानते हैं। अतः स्पर्शादि से रहित होने के कारण आत्मा को व्यापक मानने से गुण-क्रिया एवं उत्पत्ति के प्रथम क्षण में घटादि कार्य द्रव्यों को व्यापक मानना पड़ेगा। अतः आत्मा विभु नहीं है।[1]

प्रभाचन्द्र का कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से अपने-अपने शरीर में ही सुखादि स्वभाव वाले आत्मा की प्रतीति सभी को होती है। दूसरे के शरीर में और अन्तराल में उसकी प्रतीति नहीं होती है। इसलिए आत्मा को विभु अथवा व्यापक मानना ठीक नहीं है। यदि ऐसा न माना जाए तो सभी सर्वज्ञ बन जाएँगे क्योंकि सभी को सर्वत्र अपनी आत्मा की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त विभु आत्मवाद में भोजनादि व्यवहार में संकर (मिश्रण) दोष भी आता है[2] क्योंकि आत्मा व्यापक है इसलिए एक खायेगा तो सबको उसका रसास्वादन होगा। जो किसी को भी मान्य नहीं है, इसलिए आत्मा व्यापक नहीं है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि आत्मा व्यापक अथवा परम-परिमाण वाला नहीं है क्योंकि दूसरे द्रव्यों की अपेक्षा उसमें घटादि की तरह असाधारण सामान्य रहता है तथा वह अनेक है। 'आत्मा व्यापक नहीं है क्योंकि आत्मा दिशा, काल और आकाश से भिन्न द्रव्य है, जैसे घट। आत्मा व्यापक नहीं है क्योंकि बाणादि की तरह आत्मा सक्रिय है। 'आत्मा व्यापक एवं अणुरूप नहीं है क्योंकि वह चेतन है, जो व्यापक या अणुरूप होते हैं वे चेतन नहीं होते हैं, जैसे आकाश एवं परमाणु।' उपर्युक्त अनुमानों से सिद्ध है कि आत्मा व्यापक नहीं है।[3] न्याय-वैशेषिकों का कथन है कि आत्मा अणु परिमाण नहीं है क्योंकि वह नित्य द्रव्य है, जैसे आकाश। किन्तु उनका यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उपर्युक्त अनुमान में आत्मा के अणु परिमाण का निषेध का तात्पर्य है क्या? क्या उपर्युक्त प्रतिषेध प्रसज्य रूप है या पर्युदासरूप? यदि आत्मा में अणुपरिमाण के निषेध का तात्पर्य पर्युदास[4] रूप अभाव है तो अणुपरिमाण के अभाव होने से आत्मा

---

१. अथ तद्व्यवच्छेदार्थं स्पर्शरहितद्रव्यत्वादित्युच्यत इति चेन्न। घटपटादि-कार्यद्रव्याणामुत्पन्नप्रथमसमये स्पर्शादिरहितत्वेन हेतोर्व्यभिचारात्। —विश्वतत्त्वप्रकाश, पृ० १९३।

२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५७०। न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २९१।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५७०, ५७१। न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २९२। प्रमेयरत्नमाला, पृ० २९२।

४. एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का सद्भाव ग्रहण करना पर्युदास कहलाता है। प्रत्यक्षादन्यो प्रत्यक्ष इति पर्युदासः। राजवार्तिक, २।८।१८।

या तो महापरिमाण हो सकता है अथवा मध्य परिमाण। यदि आत्मा में अणु-परिमाण के निषेध का तात्पर्य यह माना जाता है कि आत्मा महापरिमाण का अधिकरण है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि अनधिकरणत्व हेतु और महापरिमाण साध्य दोनों समान हो जायेंगे। और यदि 'आत्मा अणुपरिमाण का अधिकरण नहीं है' इस पर्युदास रूप अभाव का तात्पर्य अवान्तर परिमाण रूप आत्मा है यह माना जाता है तो नैयायिकों का यह अनुमान, 'आत्मा व्यापक है अणुपरिमाण का अनधिकरण होने से' मिथ्या है क्योंकि इस अनुमान में दिया गया हेतु अनधिकरणत्व आत्मा को व्यापक सिद्ध न करके मध्यम-परिमाण सिद्ध करता है।[1] अतः यह कहना कि आत्मा व्यापक है, ठीक नहीं है।

यदि अणुपरिमाण के निषेध का तात्पर्य प्रसज्य[2] रूप अभाव माना जाए तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रसज्य अभाव तुच्छाभाव होता है इसलिए हेतु असिद्ध होने से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। तुच्छाभाव किसी प्रमाण का विषय भी नहीं है इसीलिए इससे साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह है कि यदि तुच्छाभाव को सिद्ध मान भी लिया जाय तो प्रश्न होता है कि यह साध्य (महापरिमाण अर्थात् व्यापक) का स्वभाव है अथवा कार्य? तुच्छाभाव को साध्य का स्वभाव तो माना नहीं जा सकता है अन्यथा हेतु की तरह साध्य भी तुच्छाभाव रूप हो जाएगा। इसी प्रकार तुच्छाभाव को साध्य का कार्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तुच्छाभाव में कार्यत्व नहीं बन सकता है। अतः 'आत्मा व्यापक है' इस साध्य की सिद्धि के लिए दिया गया हेतु 'अणुपरिमाण का अनधिकरण होने से' सदोष होने के कारण आत्मा को व्यापक मानना ठीक नहीं है।[3]

इसी प्रकार नैयायिकादि का यह कथन भी ठीक नहीं है कि आत्मा आकाश की तरह व्यापक है क्योंकि सर्वत्र उसके गुणों की उपलब्धि होती है, यहाँ प्रश्न होता है कि 'सर्वत्र' से क्या तात्पर्य है? क्या सर्वत्र का अर्थ अपने सम्पूर्ण शरीर में गुणों की उपलब्धि होना या पर-शरीर में भी गुणों की उपलब्धि होना है

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५१७। न्यायकुमुदचन्द्र पृ० २६२। प्रमेयरत्नमाला, पृ० २९२।

२. वस्तु का अभाव मात्र प्रकट करना अर्थात् मात्र अभाव समझना प्रसज्य अभाव कहलाता है जैसे इस भूतल पर घट का अभाव। न्यायविनिश्चय वृत्ति, २।१२३।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५७१। प्रमेयरत्नमाला, पृ० २९७।

अथवा अन्तराल में भी गुणों की उपलब्धि होना है।[1] प्रथम पक्ष मानने से हेतु विरुद्ध होने से अनुमान विरुद्ध हेत्वाभास से दूषित है। क्योंकि स्वशरीर में सर्वत्र गुणों की उपलब्धि होने से आत्मा स्व-शरीर में ही सिद्ध होगी।[2] यदि यह माना जाय कि पर-शरीर में भी गुणों की उपलब्धि होती है तो हेतु असिद्ध हो जाएगा क्योंकि यह लिखा जा चुका है कि पर-शरीर में बुद्ध्यादि गुणों की उपलब्धि नहीं होती हैं अन्यथा सभी प्राणी सर्वज्ञ बन जायेंगे। गुणों की उपलब्धि शरीर के अलावा अन्तराल में अर्थात् शरीर के बाहर नहीं हो सकती है।

न्याय-वैशेषिकादि दार्शनिकों ने आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिए यह उदाहरण दिया था कि आकाश के गुणों की जिस प्रकार सर्वत्र उपलब्धि होती है उसी प्रकार आत्मा के गुणों की सर्वत्र उपलब्धि होती है। अतः यहाँ प्रश्न होता है कि आकाश के कौन से गुण की सर्वत्र उपलब्धि होती है: शब्द गुण की अथवा महत् गुण की? शब्द आकाश का गुण ही नहीं, वह तो पुद्गल है, इसलिए उसकी सर्वत्र उपलब्धि से आकाश को व्यापक मानना व्यर्थ ही है। इसी प्रकार महत् गुण की सर्वत्र उपलब्धि न होने से आकाश को व्यापक मानना ठीक नहीं है क्योंकि महत् गुण अतीन्द्रिय है।[3] अतः उदाहरण ही ठीक नहीं है इसलिए आत्मा को व्यापक सिद्ध करना अतार्किक है।

अदृष्ट आत्मा का गुण नहीं है:

न्याय-वैशेषिका ने अदृष्ट को आत्मा का गुण माना है और उस गुण को व्यापक बतलाकर आत्मा को व्यापक सिद्ध किया है, लेकिन उनका यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि अदृष्ट आत्मा का गुण नहीं बल्कि कर्म है। हवा का तिरछा चलना, अग्नि का ऊँचे जाना स्वभाव से ही सिद्ध है। यदि अग्नि की दहन शक्ति का कारण अदृष्ट माना जाये तो ठीक नहीं है अन्यथा तीनों लोकों की रचना का कारण अदृष्ट को मानना होगा, ईश्वर को नहीं।[4] अतः आत्मा के गुण सर्वत्र नहीं पाये जाते हैं। इसलिए आत्मा व्यापक नहीं है। इसके विपरीत आत्मा के गुण शरीर में पाये जाते हैं इसलिए आत्मा को शरीर प्रमाण मानना चाहिए। अमितगति ने ब्रह्माद्वैत की समीक्षा में कहा भी है "आत्मा को सर्वव्यापी कहना ठीक नहीं है क्योंकि शरीर के बाहर आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होती है। (दूसरी बात यह है कि) शरीर के बाहर आत्मा का गुण ज्ञान रहता है

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५६९।
२. वही।
३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ५६९।
४. स्याद्वादमंजरी, ९।

तो वहाँ पर कृत-अकृत बुद्धि होना चाहिए लेकिन होती नहीं हैं। इसलिए सिद्ध है कि ज्ञान शरीर के बाहर नहीं रहता है। जब आत्मा का गुण ज्ञान शरीर के बाहर नहीं है तो शरीर के बाहर आत्मा कैसे रह सकती है अर्थात् नहीं रह सकती है। क्योंकि गुण के विना गुणी नहीं रहता है।[१]" स्वामी कार्तिकेय ने भी कहा है : "आत्मा सर्वगत नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है। शरीर में सुख-दुःख का अनुभव होने के कारण आत्मा देह परिमाण है।[२] अतः घट की तरह आत्मा अव्यापक है। हेमचन्द्र ने भी यही कहा है।[३]

आत्मा व्यापक मानने से एक दोष यह भी आता है कि सभी आत्माओं के शुभ-अशुभ कर्मों का मिश्रण हो जाएगा। अतः एक के दुःखी होने से सभी दुःखी और एक के सुखी होने पर सभी सुखी हो जायेंगे।[४]

आत्मा व्यापक मानने से आत्मा को संसार का कर्ता मानना होगा क्योंकि आत्मा और ईश्वर दोनों को न्याय-वैशेषिक व्यापक मानते हैं इसलिए दोनों परस्पर दूध-पानी की तरह मिल जायेंगे इसलिए दोनों सृष्टिकर्ता होंगे या दोनों नहीं होंगे।[५]

आत्मा को व्यापक मानने पर एक दोष यह भी आता है कि सभी व्यापक आत्माओं को स्वर्ग, नरक आदि समस्त पर्यायों का एक साथ अनुभव होने लगेगा।[६] यह कहना उचित नहीं है कि आत्मा अपने शरीर में रह कर किसी एक पर्याय का उपभोग करता है क्योंकि देह प्रमाण आत्मा न्याय-वैशेषिकादि दार्शनिकों को मान्य नहीं है। आत्मा को एक देश रूप से शरीर में व्यापक मानने पर आत्मा को सावयव या अणुरूप मानना होगा, ऐसी हालत में वह आत्मा सम्पूर्ण शरीर का भोग नहीं कर सकेगी।[७]

व्यापक परिमाण आत्मा मानने पर आत्मा के संसार आदि असम्भव हो जायेंगे।[८] अतः एकान्त रूप से आत्मा को व्यापक मानना ठीक नहीं है।

---

१. श्रावकाचार (अमितगति) ४।२५-७।

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १७७।

३. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, ९।

४. स्याद्वादमंजरी, ९।

५. वही, पृ० ७०।

६. विश्वतत्त्वप्रकाश, पृ० १९७।

७. स्याद्वादमंजरी, पृ० ७०।

८. तत्त्वार्थवार्तिक, २।२९।३। विशेषावश्यक भाष्य १३७९।

न्याय-वैशेषिक चिन्तकों का कहना है कि आत्मा को व्यापक न मानने से परमाणुओं के साथ उसका सम्बन्ध न होने से अपने शरीर के योग्य परमाणुओं को एकत्र नहीं कर सकेगी और शरीर के अभाव में सभी आत्माओं का मोक्ष मानना पड़ेगा। जैन दार्शनिक कहते हैं कि नैयायिकों का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि यह कोई निश्चित नियम नहीं है कि संयुक्त होने पर ही आकर्षण होता है। चुम्बक लोहे के साथ संयुक्त नहीं होता है फिर भी लोहे को आकर्षित कर लेता है। इसी प्रकार आत्मा का परमाणु के साथ संयोग न होने पर भी अपने शरीर के योग्य परमाणुओं को आकर्षित कर सकता है। अतः आत्मा को व्यापक मानना उचित नहीं है।[1]

जीव कथंचित् सर्वव्यापी है : जैन-दर्शन में आत्मा को कथंचित् सर्वव्यापी माना गया है। आत्मा ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञान-प्रमाण है। और ज्ञान समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने से ज्ञेय-प्रमाण है तथा ज्ञेय समस्त लोकालोक है इसलिए ज्ञान सर्वगत है। ज्ञान सर्वगत होने से आत्मा सर्वगत सिद्ध होता है।[2] यदि आत्मा को ज्ञान प्रमाण न माना जाय तो या तो वह ज्ञान से कम होगा या अधिक ? यदि ज्ञान को आत्मा से छोटा माना जाएगा तो चैतन्य के साथ ज्ञान का सम्बन्ध न होने से ज्ञान अचेतन हो जाएगा अतः पदार्थों को नहीं जान सकेगा। यदि आत्मा ज्ञान से बड़ा है तो ज्ञान के बिना आत्मा पदार्थों को नहीं जान सकेगा।[3] अतः आत्मा ज्ञान प्रमाण ही है इसलिए आत्मा व्यापक है।[4] कर्मरहित केवली भगवान् अपने अव्याबाध केवलज्ञान से लोक और अलोक को जानते हैं इसलिए वे सर्वगत हैं।[5]

आत्मा शरीर प्रमाण है : उपनिषदों में आत्मा को देह प्रमाण भी निरूपित किया गया है। वहाँ कहा गया है कि आत्मा नख से शिख तक व्याप्त है। जैन

---

१. स्याद्वादमंजरी, पृ० ७० ।

२. आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।—प्रवचनसार, १।२३, तथा पंचास्तिकाय, ८।५ ।

३. प्रवचनसार, १। २४-२५ ।

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २५४-२५५ ।

५. अप्पा कम्मविवज्जियउ केवल णाणेण जेण ।
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ।।—परमात्मप्रकाश, १।५२ ।

दर्शन ने आरम्भ से आत्मा को देह-प्रमाण प्रतिपादित किया है।[1] देह-प्रमाण कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा को अपने संचित कर्म के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर मिलता है उस पूरे शरीर में व्याप्त हो कर वह रहता है। शरीर का कोई भी अंश ऐसा नहीं होता है जहाँ जीव न हो। जीव में संकोच-विस्तार करने की शक्ति होती है। यही कारण है कि जीव प्रदेश, धर्म, अधर्म और लोकाकाश के बराबर होते हुए भी कर्मार्जित शरीर में व्याप्त हो कर अर्थात्—यदि शरीर छोटा होता है तो अपने प्रदेशों का संकोच कर लेता है और यदि शरीर बड़ा होता है तो अपने प्रदेशों को फैला कर उसमें व्याप्त हो जाता है।[2] उदाहरणार्थ—जब पद्मराग रत्न को छोटे बर्तन में रखे हुए दूध में डाला जाता है तो वह उस सम्पूर्ण दूध को प्रकाशित करता है और जब उसी रत्न को बड़े बर्तन में रखे हुए दूध में डाला जाता है तो वह उस बड़े बर्तन के दूध को प्रकाशित करता है। इस प्रकार आत्मा शरीर में रहता हुआ सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है। कहा भी है—'अमूर्त आत्मा के संकोच-विस्तार की सिद्धि अपने अनुभव से सिद्ध होती है क्योंकि जीव स्थूल तथा कृश शरीर में तथा बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है।[3] अनगारधर्मामृत में भी कहा है कि ज्ञान दर्शन सुखादि गुणों से युक्त अपनी आत्मा का अपने अनुभव से अपने शरीर के भीतर सभी जीवों को ज्ञान होता है। इस प्रकार सिद्ध है कि आत्मा शरीर-प्रमाण है।[4] मल्लिषेण ने स्पष्ट लिखा है कि आत्मा मध्यम परिमाण वाला है, क्योंकि उसके ज्ञानादि गुण शरीर में दृष्टिगोचर होते हैं, शरीर के बाहर नहीं। जिसके गुण जहाँ होते हैं वह वस्तु वहीं पर होती है, जैसे घट के रूप रंगादि जहाँ होते हैं वहीं पर घट होता है। इसी प्रकार आत्मा के गुण चैतन्य पूरे शरीर में रहते हैं इसलिए सिद्ध है कि आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। जिस वस्तु के गुण जहाँ उपलब्ध नहीं होते हैं वह वस्तु वहाँ नहीं होती है।

---

१. देहमात्रपरिच्छिन्नो मध्यमो जिनसम्मतः।—तर्कभाषा : केशवमिश्र, पृ० १५३। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ७६।
सर्वत्र देहमध्ये जीवोऽस्ति न चैकदेशे।—पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, पृ० ७२। पंचदशी, ६।८२।

२. सर्वार्थसिद्धि, ५।८। तत्त्वार्थवार्तिक, ५।८।४।

३. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका टीका, गा० १३७।

४. स्वांग एव स्वसंवित्त्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान्।
यतः संवेद्यते सर्वैः स्वदेहप्रमितिस्ततः॥—अनगारधर्मामृत, २।३१

उदाहरणार्थ अग्नि के गुण जल में नहीं होते हैं, इसलिए अग्नि जल में नहीं होती है।[1]

आत्मा के देह प्रमाण मानने का एक कारण यह भी है कि शरीर के किसी भी भाग में होने वाली वेदना की अनुभूति आत्मा को होती है।[2] मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, ये प्रतीतियाँ शरीर में ही दृष्टिगोचर होती हैं। किसी प्रसन्न व्यक्ति का चेहरा खिल जाता है, शरीर में उत्साह आ जाता है और दुःखी होने पर उदासी मुख पर छा जाती है अतः सुख-दुःख का प्रभाव आत्मा के साथ ही शरीर पर पड़ने से सिद्ध है कि आत्मा देह प्रमाण है।[3]

आत्मा का देह प्रमाण होने का कारण उसमें प्राप्त संकोच-विस्तार शक्ति भी है। असंख्यात प्रदेशी अनन्तानन्त जीव लोक के असंख्यातवें भाग में किस प्रकार रहता है? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि आत्मा में दीपक की तरह संकोच-विस्तार शक्ति पाई जाती है।[4] आत्मा अपने कर्म के अनुसार जब हाथी की योनि छोड़कर चींटी के शरीर में प्रवेश करता है तो अपनी संकोच शक्ति के कारण अपने प्रदेशों को संकुचित करके उसमें रहता है और चींटी का जीव मर कर जब हाथी का शरीर पाता है तो जल में तेल की बूंद की तरह फैलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है। यदि शरीर के अनुसार आत्मा संकोच-विस्तार न करे तो बचपन की आत्मा दूसरी और युवावस्था की दूसरी माननी पड़ेगी और ऐसा मानने से बचपन की स्मृति युवावस्था में न होना चाहिए। लेकिन बचपन की स्मृति युवावस्था में होती है इसलिए सिद्ध है कि आत्मा देहप्रमाण है।[5]

अब प्रश्न यह होता है कि आत्माओं के संकोच-विस्तार का कारण क्या है? जैन चिन्तक इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि आत्मा के संकोच-विस्तार की शक्ति का कारण कार्मण शरीर है।[6] कार्मण शरीर जब तक आत्मा के साथ रहता है तभी तक आत्मा में संकोच-विस्तार की शक्ति पाई जाती है। जिस समय आत्मा समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त हो जाता है उस समय उसमें संकोच-विस्तार की शक्ति नष्ट हो जाती है। अतः संसारी आत्मा संकोच-विस्तार

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, १५८६; स्याद्वादमंजरी, ९, पृ० ६७।

२. तर्कभाषा पृ० ५२।

३. विस्तार से द्रष्टव्य—आत्मरहस्य, पृ० ६०।

४. तत्त्वार्थसूत्र, ५।१६। योगसार प्राभृत, २।१४; तत्त्वार्थवार्तिक, ५।१६।१।

५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४०९। राजप्रश्नीय सूत्र १५२।

६. तत्त्वार्थसार, २३२।

शक्ति के कारण देह प्रमाण है।[1] आचार्य रामानुज ने ज्ञान को संकोच-विस्तार वाला माना है। अतः आत्मा शरीर परिमाण है।[2]

देहप्रमाण आत्मा मानने पर आक्षेप और परिहार : (१) जिन भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा को देहप्रमाण नहीं माना है उन्होंने इसकी समीक्षा की है। यदि आत्मा संकोच-विस्तार वाला है तो संकुचित होकर इतना छोटा क्यों नहीं हो जाता है कि आकाश के एक देश में एक जीव रह सके? इसी प्रकार विस्तार शक्ति के कारण सम्पूर्ण लोक में क्यों नहीं फैल जाता है? जैन दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा के संकोच का कारण कार्मण शरीर है, इसलिए जीव कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर हो सकता है, इससे छोटा शरीर वाला जीव नहीं हो सकता है। सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव ही सबसे छोटा है।[3] इसी प्रकार विस्तरण शक्ति के कारण जीव अधिक से अधिक लोकाकाश के बराबर हो सकता है। आगमों में ऐसा उल्लेख है कि स्वयंभूरमण समुद्र के मध्य में रहने वाला महामत्स्य, जो हजार योजन लम्बा, पांच सौ योजन चौड़ा और ढाई सौ योजन मोटा है[4], सबसे बड़ा जीव है।

(क) जैनेतर दार्शनिक कहते हैं कि मध्यम परिमाण होने से आत्मा सावयव हो जायेगी और सावयव होने के कारण उसे अनित्य मानना पड़ेगा, जो जैनों को मान्य नहीं है।

उपर्युक्त दोष का निराकरण करते हुए जैन दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा अनित्य हो सकता था जब उसके अवयव किसी अन्य द्रव्य के संघात से बने होते। क्योंकि सकारण बने हुए वस्तु के अवयव विनाशशील होते हैं। जिस पदार्थ के अवयव कारण रहित होते हैं उसके अवयव नष्ट नहीं होते हैं। जैसे परमाणु के अवयव विश्लेषण करने पर भी नष्ट नहीं होते हैं। इसी प्रकार अविभागी द्रव्य स्वरूप आत्मा के अवयव अकारण होने के कारण विश्लेषण करने पर नष्ट नहीं होते हैं। अतः द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा नित्य एवं अविनाशी है। दूसरी बात यह है कि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा को कथंचित् अनित्य भी माना गया है। क्योंकि पहले जो आत्मप्रदेश शरीर सम्बद्ध थे, वे शरीर के नाश होने पर शरीर रहित प्रदेश में अवस्थित हो जाते हैं। उनका शरीर से छेद

---

१. पंचास्तिकाय, ३२।३३। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४००।

२. प्रमेयरत्नमाला, पृ० २९७।

३. तत्त्वार्थवार्तिक; ५।१६; ४-५। गोम्मटसार जीवकाण्ड, ९४।

४. वही, ९५। भगवतीआराधना विजयोदयाटीका, १६४९।

हो जाने के कारण आत्मा का भी छेद मानने में कोई दोष नहीं है। यदि ऐसा न माना जाए तो कटे हुए अंग में कम्पन क्रिया की उपलब्धि नहीं होनी चाहिए। कटे हुए शरीर के भाग के आत्मप्रदेश पुनः पहले वाले आत्मप्रदेशों में आ कर मिल जाते हैं।[१] इस बात को कमल की नाल का उदाहरण देकर मल्लिषेण ने समझाया है।[२] अतः आत्मा को देह प्रमाण मानने पर भी आत्मा में पुनर्जन्म और मोक्षादि का अभाव नहीं आता है। इसलिए आत्मा को देह प्रमाण ही मानना चाहिए। मुक्त जीव भी अन्तिम शरीर के आकार के ही होते हैं और वे उसी आकार में विद्यमान रहते हैं।

केवलीसमुद्घात की अपेक्षा आत्मा का आकार : सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकांड में समुद्घात के स्वरूप विवेचन में कहा है कि "मूल शरीर को त्यागे बिना उत्तर शरीर अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर के साथ-साथ आत्म प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है।[३]" समुद्घात के सात भेदों में केवलीसमुद्घात भी एक भेद है।[४] छह माह की आयु बाकी रहने पर जिन्हें केवलज्ञान होता है[५] वे केवली नियमतः अन्तर्मुहूर्त आयु कर्म के बाकी बचने पर और वेदनीय, गोत्र और नाम कर्म की स्थिति अधिक होने पर उनसे आयु कर्म को बराबर करने के लिए समुद्घात करते हैं।[६] भगवती आराधना में उदाहरण द्वारा केवलीसमुद्घात को स्पष्ट किया गया है।[७]

केवलीसमुद्घात में आत्मा चौदह रज्जु चौड़े तीन लोकों में व्याप्त हो जाता है। इसलिए समुद्घात की अपेक्षा आत्मा व्यापक है।[८] आचार्य पूज्यपाद ने कहा भी है "केवली समुद्घात के समय जब जीव जीवलोक में व्यापक होता है उस समय जीव के मध्य के आठ प्रदेश मेरु पर्वत के नीचे चित्रा पृथिवी के वज्रपटल

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।१६। ४-६। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४०९।
२. स्याद्वादमंजरी, ९।
३. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गा० ६६८।
४. स सप्तविधः वेदनाकषायमारणान्तिकतेजोविक्रयाऽऽहारे केवलिविषयभेदात्। —तत्त्वार्थवार्तिक, १।२०।१२।
५. (क) भगवतीआराधना, का० २१०९।
 (ख) धवला १।१।१, सूत्र ६०।
६. धवला १।१।१। सूत्र ६०, पृ० ३०२।
७. भगवतीआराधना, २११३-१६।
८. सर्वार्थसिद्धि, ५।८।

के मध्य में स्थित हो जाते हैं और शेष प्रदेश ऊपर-नीचे और तिरछे सम्पूर्ण लोक को व्याप्त कर लेते हैं।[1] "इस प्रकार केवलीसमुद्घात की अपेक्षा आत्मा व्यापक भी है, लेकिन यह कभी-कभी होता है इसलिए आत्मा को कथंचित् व्यापक मानना तो सम्भव है, लेकिन सर्वथा नहीं।

आत्मा सक्रिय है : जैन दार्शनिक आत्मा और पुद्गल को सक्रिय मान कर शेष द्रव्यों को निष्क्रिय मानते हैं।[2] तत्त्वार्थसूत्र के पांचवें अध्याय में एक सूत्र है :

"निष्क्रियाणि च"

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए पूज्यपाद ने लिखा है "धर्म-अधर्म और आकाश द्रव्य को निष्क्रिय मानने से सिद्ध होता है कि जीव और पुद्गल सक्रिय हैं[3]।" अकलंकदेव आदि आचार्यों ने भी पूज्यपाद का अनुकरण करते हुए आत्मा को सक्रिय बतलाया है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन करना क्रिया कहलाती है। जिसके कारण आत्म-प्रदेशों में कम्पन अर्थात् परिस्पन्दन या हलन-चलन होता है वह क्रिया कहलाती है।[4] कहा भी है 'अन्तरंग और बहिरंग के कारण उत्पन्न होने वाली जो पर्याय द्रव्य को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में ले जाती है वह क्रिया कहलाती है।[5] जीव द्रव्य में गति, स्थिति और अवगाहन रूप क्रिया होती है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि संसारी जीवों में ही उपर्युक्त विभाव क्रिया होती है, मुक्त जीवों में स्वाभाविक क्रिया होती है।[6] अतः आत्मा सक्रिय एवं परिणामी है।

आत्मा को सक्रिय एवं परिणामी मानना जैन दार्शनिकों की अपनी विशेषता है। आत्मा को व्यापक एवं कूटस्थ नित्य माने जाने के कारण वैदिक दार्शनिकों ने उसे निष्क्रिय तथा अपरिणामी माना है। सांख्य दार्शनिकों ने आत्मा को निष्क्रिय सिद्ध करने के लिए एक तर्क यह भी दिया है कि सत्, रज और तम गुणों के कारण ही क्रिया सम्भव है और पुरुष में ये गुण नहीं होते हैं इसलिए वह निष्क्रिय है। पुरुष को निष्क्रिय मान कर उन्होंने प्रकृति को सक्रिय माना है।

---

१. (क) वही, ५।८। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक ५।८।४।

२. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका, (ख) तत्त्वार्थवार्तिक १।८।२।

३. सर्वार्थसिद्धि, ५।७।

४. धवला, १।१।१, १।

५. सर्वार्थसिद्धि, ५।७। तत्त्वार्थवार्तिक, ५।२२।१९।

६. नियमसार, तात्पर्यवृत्तिटीका, १८४। गदिठाणोग्गहकिरिया जीवाणं पोग्गलाणमेव हवे।—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ५९९।

न्याय-वैशेपिक एवं मीमांसक दार्शनिक शरीर के समवाय सम्बन्ध से आत्मा में क्रिया मानते हैं।

आत्मा निष्क्रिय नहीं है : जैन दार्शनिक आत्मा को निष्क्रिय नहीं मानते हैं, इसलिए उन्होंने निष्क्रिय आत्मवादियों की समीक्षा करते हुए कहा है कि आत्मा को निष्क्रिय मानने से शरीर में किसी प्रकार की क्रिया न हो सकेगी। विद्यानन्द आचार्य ने कहा भी है : 'आत्मा क्रियाशील है, क्योंकि जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य के कारण अन्य द्रव्यों में क्रिया होती है इसी प्रकार आत्म द्रव्य के कारण भी अन्य पदार्थों में क्रिया होती है इसलिए आत्मा सक्रिय है।[1] 'भट्टाकलंकदेव ने भी कहा है : 'आत्मा को निष्क्रिय मानने से आत्मा शरीर की क्रिया में कारण उसी प्रकार नहीं हो सकेगी जिस प्रकार आकाश के प्रदेश निष्क्रिय होने से शरीर की क्रिया में कारण नहीं है[2]।' दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा को सर्वथा निष्क्रिय तथा अमूर्त मान लिया जाय तो आत्मा और शरीर में सम्बन्ध न होने के कारण परस्पर उपकारादि करना असम्भव हो जाएगा।[3] विद्यानन्द एवं भट्टाकलंक देव का कहना है कि जिस प्रकार वायु में क्रियाशीलता दृष्टिगोचर न होने पर भी तृणादि के हिलने-उड़ने से अनुमान किया जाता है कि वायु सक्रिय है, उसी प्रकार क्रियाशीलता दृष्टिगोचर न होने पर भी क्रिया स्वभाव आत्मा के वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय या क्षयोपशम से, अंगोपांग नामक नामकर्म के उदय और विहायोगति नामक नामकर्म से विशेष शक्ति मिलने पर आत्मा के गतिशील होने पर हाथ पैरादि में क्रिया होती है। फलतः शरीरादि क्रिया देख कर आत्मा सक्रिय है, यह सिद्ध हो जाता है।[4]

आत्मा को निष्क्रिय मानने वाले वैशेपिक आदि दार्शनिकों का कहना है कि शरीरादि द्रव्यों में प्रयत्न, धर्म, अधर्म आत्मगुणों के कारण क्रिया होती है। यदि आत्मा को सक्रिय स्वभाव वाला माना जाये तो मुक्त आत्मा को भी सक्रिय मानना पड़ेगा।

इसके प्रत्युत्तर में जैन चिन्तक कहते हैं कि : वैशेषिकों का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार निष्क्रिय आकाश के साथ घट का संयोग होने

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५।७।
सर्वथा निष्क्रियस्यापि स्वयंमानविरोधतः।
आत्मा हि प्रेरको हेतुरिष्टः कायादि कर्मणि ॥—वही, ५।७।१७।

२. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।७।१४।

३. वही।

४. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५।७।१८-१९; तत्त्वार्थवार्तिक, ५।७।७।

पर घट में क्रिया नहीं होती है उसी प्रकार निष्क्रिय आत्मा का संयोग और प्रयत्न से शरीरादि में क्रिया नहीं हो सकती है।[1]

दूसरी बात यह है कि न्याय-वैशेषिक मत में गुण और कर्म निष्क्रिय माने गये हैं।[2] अतः संयोग और गुण के निष्क्रिय होने के कारण इनके सम्बन्ध से शरीरादि में क्रिया उसी प्रकार नहीं हो सकती जिस प्रकार दो जन्मान्धों के मिलने से दर्शन-शक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती है।[3] तीसरी बात यह है कि धर्म, अधर्म पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं इसलिए उन्हें आत्मा के गुण मानना ठीक नहीं है।[4]

निष्क्रिय-आत्मवादी वैशेषिकों का कहना है कि जिस प्रकार अग्नि संयोग उष्ण गुण की अपेक्षा से घटादि में पाकज रूपादि उत्पन्न करता है स्वयं अग्नि में नहीं, इसी प्रकार अदृष्ट की अपेक्षा से आत्मा संयोग और प्रयत्न शरीरादि में क्रिया उत्पन्न कर देंगे। अतः आत्मा को सक्रिय मानना व्यर्थ है।

जैन दार्शनिक प्रत्युत्तर में कहते हैं कि अग्नि उष्ण स्वभाव वाली है इसलिए घटादि में पाकादि क्रिया हो जाती है। इसी प्रकार क्रिया परिणामी द्रव्य आत्म संयोग और प्रयत्न हाथ आदि में क्रिया कर सकता है। जिस प्रकार से अनुष्ण, अप्रेरक, अनुपघाती और अप्राप्त संयोग रूपादि की उत्पत्ति नहीं कर सकता उसी प्रकार निष्क्रिय द्रव्य किसी दूसरे निष्क्रिय द्रव्य में संयोग से क्रिया नहीं उत्पन्न कर सकेगा।[5]

वैशेषिकों का यह कथन कि संसारी आत्मा की तरह मुक्तात्मा भी सक्रिय हो जायगी, ठीक नहीं है। क्योंकि यह पहले लिखा जा चुका है कि आत्मा में दो प्रकार की स्वाभाविक और वैभाविक क्रियाएँ होती हैं। संसारी आत्मा में दोनों प्रकार की क्रियाएँ होती हैं और कर्म-विमुक्त जीव के वैभाविक क्रिया का विनाश हो जाता है किन्तु स्वाभाविक क्रिया उनमें होती है। अनन्त ज्ञानादि परिणमन रूप क्रिया मुक्तात्मा में सदैव होती रहती है। अतः सिद्ध है कि मुक्तात्मा संसारी आत्मा की तरह सक्रिय न होने पर भी निष्क्रिय नहीं है।[6]

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।७।८।
२ वैशेषिक सूत्र, ५।२।२१-२२।
३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ५।७।
४. वही।
५. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।७।९-१३।
६. तत्त्वार्थवार्तिक ५।७।९-१३।

आत्मा के क्रियाशील होने पर भी उसे सर्वथा अनित्य कहना ठीक नहीं है क्योंकि सांख्य दार्शनिकों ने अहंकारादि तथा परमाणु आदि को क्रियावान् मान कर नित्य माना है। नैयायिकों ने परमाणु और मन को सक्रिय मान कर भी अनित्य नहीं माना है। दूसरी बात यह है कि जैन दार्शनिकों ने पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा को अनित्य और निश्चय नय की दृष्टि से निष्क्रिय तथा नित्य माना है। सर्वथा नित्य तो घट भी नहीं, तब आत्मा कैसे हो सकता है।[1] आत्मा व्यापक है इसलिए निष्क्रिय है, निष्क्रिय-आत्मवादियों का यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा व्यापक नहीं है, इसका तार्किक परिशीलन आगे किया जाएगा। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से पत्थर सक्रिय होता है उसी प्रकार स्वाभाविक क्रियाशील आत्मा शरीर परिणाम वाला होकर शरीर कृत क्रियाओं के अनुसार स्वयं सक्रिय हो जाता है और शरीर के अभाव में दीपक की शिखा के समान स्वाभाविक क्रियायुक्त ही रहता है।[2] यदि आत्मा को निष्क्रिय माना जाए तो बन्ध-मोक्ष न हो सकेगा।[3] अतः कहा जा सकता है कि आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि वह अव्यापक है। जो-जो अव्यापक द्रव्य होते हैं वे सक्रिय होते हैं जैसे पृथ्वी आदि। आत्मा भी अव्यापक है इसलिए सक्रिय है। इस प्रकार अनुमान से भी आत्मा सक्रिय सिद्ध होता है।[4]

आत्मा नित्य है :

जैन-दर्शन में अन्य द्रव्यों की तरह आत्मा भी परिणामी एवं नित्य माना गया है। वह भी उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य स्वभाव वाला है। अपने स्वभाव में अवस्थित रहना परिणाम कहलाता है।[5] आत्मा में इस प्रकार का परिणाम पाया जाता है इसलिए आत्मा परिणामी कहलाता है। परिणाम का अर्थ परिवर्तन होता है। अतः स्वद्रव्यत्व जाति को छोड़े बिना द्रव्य का स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक परिवर्तन परिणाम कहलाता है।[6] परिवर्तन या परिणाम को पर्याय भी कहा

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ५।७।४५-४६।

२. तत्त्वार्थवार्तिक ५।७।२४-२५। न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २६६।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, २।२९।२।

४. वही, २।२९।३। न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० २६६।

५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।४।४५।

६. प्रवचनसार, ९९। तद्भावः परिणामः।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।४२।

७. तत्त्वार्थवार्तिक ५।२२।१०।

परिणामो विवर्तः।—न्यायविनिश्चय टीका, १।१०।

जाता है। व्यंजन पर्याय[1] और अर्थपर्याय[2] ये दो पर्याय द्रव्यों में पाई जाती हैं जिनके कारण वे द्रव्य परिणामी कहलाते हैं। जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य दोनों में इस प्रकार की पर्यायें पाई जाती हैं इसलिए जीव और पुद्गल परिणामी द्रव्य कहलाते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों में अर्थपर्यायें ही होती हैं इसलिए ये अर्थपर्याय की अपेक्षा से तो परिणामी हैं। किन्तु इनमें व्यंजन पर्यायों का अभाव होता है इसलिए व्यन्जन पर्याय की अपेक्षा से ये अपरिणामी कहलाते हैं। जीव द्रव्य परिणमन अपेक्षा से अनित्य है। किन्तु अनित्य का तात्पर्य यह नहीं है कि उसका सर्वथा विनाश हो जाता है। उसे अनित्य कहने का तात्पर्य यही है कि उसकी वर्तमान पर्याय भविष्यत्कालीन पर्याय में बदल जाती है। किन्तु दोनों पर्यायों में रहने वाला वही जीव आत्मा होता है। दूसरे शब्दों में, द्रव्य स्व की अपेक्षा से आत्म-द्रव्य नित्य एवं अपरिणामी तथा पर्याय की अपेक्षा से अनित्य तथा परिणामी है।[3] हरिवंशपुराण में कहा भी है :

द्रव्यपर्यायरूपत्वान्नित्यानित्योभयात्मका: ।[4]

बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से जरावस्था प्राप्त करना तथा कर्मों के अनुसार मनुष्यगति, नरकगति, तिर्यंचगति और देवगति को प्राप्त करना आत्मा का परिणाम कहलाता है। यदि आत्मा को परिणामी न माना जाए तो बन्धन तथा मोक्ष असम्भव हो जाएँगे। इसलिए स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि : "जीव पुण्य-पापादि रूप से परिणत होता रहता है। यद्यपि जीव अनादिनिधन है तो भी नवीन-नवीन पर्यायों में परिणत होता रहता है।[5]" वसुनन्दि ने भी कहा है : "जीव परिणामी है क्योंकि वह स्वर्गादि गतियों में गमन करता है।[6]" आ० कुन्दकुन्द ने भी यही कहा है।[7]

भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, प्रभाकर मीमांसा एव

---

१. व्यंजन पर्याय स्थूल एवं शब्दगोचर होती है। शरीर के आकार रूप आत्म प्रदेशों का अवस्थान व्यंजन पर्याय होती है। नर नारकादि व्यंजन पर्यायें संसारी जीवों के ही होती हैं।

२. अगुरुलघुगुण की षट्वृद्धि और हानि रूप प्रतिक्षण बदलने वाली अर्थपर्याय कहलाती हैं। मुक्त जीव इसी पर्याय की अपेक्षा परिणामी है।

३. पंचास्तिकाय, तात्पर्य वृत्ति टीका २७। द्रव्यसंग्रह टीका, ७६-७७।

४. हरिवंश पुराण, ३।१०८।

५. कार्तिकेयानुपेक्षा, १९०।२३१-२३२।

६. श्रावकाचार (वसुनन्दि), २६।

७. भावपाहुड़, ११६।

वेदान्त दार्शनिक आत्मा को अपरिणामी कूटस्थ नित्य मानते हैं। लेकिन कुमारिल भट्ट आत्मा को जैन दार्शनिकों की तरह परिणामी ही मानते हैं। सांख्य दर्शन ने आत्मा को अपरिणामी मान कर भी उसे औपचारिक रूप से भोक्ता माना है। अपरिणामी-कूटस्थ-नित्य आत्मवाद एवं सर्वथा क्षणिक-आत्मवाद की जैन दार्शनिकों ने तीव्र आलोचना की है।[१] आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि यदि आत्मा कर्मों से न स्वयं बंधा है और न क्रोधादि रूप स्वयं परिणमन करता है, तो वह अपरिणामी हो जाएगा। साथ ही क्रोधादि भाव रूप स्वयं परिणमन न करने के कारण संसार का अभाव हो जाएगा। आत्मा के अपरिणामी होने पर पुद्गलकर्म रूप क्रोध जीव को क्रोध रूप से परिणमित नहीं कर सकेगा।[२]

आत्मा को सर्वथा कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी मानने से उसमें किसी भी प्रकार का विकार न होने के कारण कर्तकर्मादि, प्रमाण तथा उसके फल का अभाव मानना पड़ेगा जो अतार्किक है। इसके अलावा आत्मा को अपरिणामी मानने पर पुण्य-पाप की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि अपरिणामी आत्मा शुभाशुभ कर्म न करने के कारण शुभ-अशुभ कर्मों से बंध नहीं सकती है। भट्ट अकलंक देव ने कहा भी है। "यदि आत्मा कूटस्थ नित्य है तो उसमें न तो ज्ञानादि की उत्पत्ति हो सकती है और न हलचल रूप क्रिया ही हो सकेगी क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मवादियों ने आत्मा को व्यापक भी माना है। आत्मा में किसी भी प्रकार का परिणमन न होने से ज्ञान और वैराग्यरूप कारणों की सम्भावना भी नहीं है। ऐसी हालत में निर्विकारी आत्मा में आत्मा, मन, शरीर और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाला ज्ञान भी उत्पन्न न हो सकेगा। आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने पर उसमें आकाश की तरह मोक्षादि के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा अर्थात् आत्मा को मोक्षादि नहीं हो सकेगा।[३] गुणरत्न सूरि ने भी कहा है कि "यदि आत्मा नित्य अपरिवर्तनशील है तो ज्ञान के उत्पन्न हो जाने के बावजूद वह पहले की तरह मूर्ख रहेगा, वह कभी विद्वान् नहीं बन सकेगा। जब उसे ज्ञान न होगा तो तत्त्वों को न जानने के कारण मोक्ष न होगा।[४]

---

१. कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥—देवागम कारिका, ८।८।

२. समयसार, १२१-२३।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।५६, १।९।११।

४. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका, कारिका ४९।

समन्तभद्र[1] ने भी उपर्युक्त दोष दिखाये हैं।

कूटस्थ नित्य आत्मा में अर्थक्रिया न बनने के कारण आत्मा अवस्तु सिद्ध हो जायेगी।[2] क्योंकि सांख्यादि मत में "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्!" अर्थात्—उत्पत्ति, विनाश से रहित सदा एक रूप रहने को नित्य कहा है। जैन-सिद्धान्त में उपर्युक्त दोष नहीं आता है क्योंकि जैन-दर्शन के मतानुसार नित्य पदार्थ उत्पाद-व्यय वाला माना गया है।[3]

कूटस्थ नित्य आत्मा को स्वीकार करने पर आत्मा में हिंसा, संयम, नियम, दान, दया, सम्यग्दर्शनादि नहीं हो सकते हैं। क्योंकि यदि वह कुछ करेगा तो उसे अपनी पूर्व अवस्था छोड़कर अन्य अवस्था धारण करनी पड़ेगी जो कूटस्थ नित्यवाद में सम्भव नहीं है।[4] अतः आत्मा को अपरिणामी नहीं माना जा सकता है।

आत्मा अनित्य (क्षणिक) नहीं है : बौद्ध-दर्शन में आत्मा को क्षणिक माना गया है। उनके सिद्धान्त में विचार-क्षणों को आत्मा कहा गया है। सम्पूर्ण क्षणों में अन्वय रूप से रहने वाले आत्मा को बौद्ध दार्शनिक नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि "चैतन्य अपने पूर्वापर काल में होने वाले धाराप्रवाह रूप संतान की अपेक्षा से ही अनादि काल, अनन्त काल तक अनुयायी है। किसी एक ऐसे द्रव्य की सत्ता नहीं है जो विभिन्न क्षणों में अन्वित रहता हो।

जैन दार्शनिक आत्मा को सर्वथा क्षणिक नहीं मानते हैं क्योंकि वे उत्पत्ति और विनाश दोनों अन्वय रूप से रहने वाले द्रव्य की सत्ता मानते हैं। जिस प्रकार शिवक, स्थास, कोष, कुशूल, घट आदि समस्त पर्यायों में मिट्टी द्रव्य अन्वय रूप से रहता है। इसी प्रकार एक सन्तान चित्त रूप आत्मा को भी बालक, कुमारादि अवस्थाओं एवं अनेक जन्मान्तरों में अन्वय रूप से रहने वाला मानना चाहिए क्योंकि यह प्रत्यभिज्ञान से सिद्ध होता है।[5] जिस प्रकार एक

---

१. नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्॥
पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावफलं कुतः।
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः॥
—देवागम, ३।३७।४०।

२. स्याद्वादमंजरी, कारिका ५।

३. तत्त्वार्थसूत्र, ५।३१।

४. सिद्धान्तसार संग्रह, ४।२३-४।

५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।१५२।

डोरा अनेक मोतियों में अनुस्यूत रहता है उसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानधाराओं में आत्मा अन्वय से रहता है। आत्मा को क्षणिक मानने में निम्नांकित दोष आते हैं :—

(क) आत्मा को क्षणिक मानने से आत्मा अवस्तु सिद्ध होती है क्योंकि जिसमें अर्थ-क्रिया होती है वह वस्तु कहलाती है।[1] क्षणिक आत्मा में क्रम एवं अक्रम किसी भी प्रकार से अर्थक्रिया सम्भव नहीं है। क्योंकि क्षणिक पदार्थ में देशकृत, कालकृत क्रम असम्भव है। इसी प्रकार अक्रम से भी अर्थक्रिया सम्भव नहीं है।[2] इसलिए आत्मा को क्षणिक मानना ठीक नहीं है।

(ख) आत्मा को क्षणिक मानने पर किये गये कार्यों का विनाश हो जाता है अर्थात् जिस क्षण में कार्य किये थे वह नष्ट हो जाता है, उसे अपने किये गये कार्यों का फल नहीं प्राप्त होता है और जिस उत्तर आत्मक्षण ने कार्य नहीं किया उसको फल की प्राप्ति होती है। अतः आत्मा को क्षणिक मानने पर 'कृतप्रणाश' और 'अकृतकर्मभोग' नामक दोष आता है।[3]

(ग) क्षणिक आत्मवाद में हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा-फल नहीं बनेगा जिसने बंध किया वह मुक्त नहीं होगा। बँधेगा कोई, छूटेगा दूसरा।[4]

(घ) क्षणिक आत्मवाद में पुनर्जन्म तथा मोक्ष भी नहीं बनेगा। भट्टाकलंक देव ने भी कहा है[5]—'निरन्वय विनाशी अर्थात्—आत्मा को क्षणिक स्वीकार करने पर ज्ञान वैराग्यादि परिणमनों का आधार भूत पदार्थ न होने के कारण मोक्ष नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तथा लोक व्यवहार भी क्षणिकवाद में सम्भव नहीं हैं। समन्तभद्र ने भी यही दोष दिखाया है।[6] क्षणिकवाद में शुभ-अशुभ कर्म नहीं हो पाने के कारण उसके परिणाम स्वरूप पुण्य-

---

१. अर्थक्रियासमर्थयलक्षणत्वाद्वस्तुतः।—न्यायविनिश्चय, १।१५।

२. अष्टसहस्री कारिका, ८।

३. स्याद्वादमंजरी, १८। षड्दर्शनसमुच्चय टीका, कारिका, श्रावकाचार (अमितगति), ४।८७।

४. हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत्।
वध्यते तद्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥—देवागम, कारिका ५१। अष्टसहस्री, पृ० १९७।

५. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।५७।

६. क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः। न च तत्कार्यारम्भकत्वाभावे फलं पुण्यपापलक्षणं संभवति। तदभावे न प्रेत्यभावो न बन्धो न च मोक्षः स्यात्। अष्टसहस्री, पृ० १८२।

पापों के अभाव में बन्ध-मोक्ष किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जो क्षण अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन करेगा वह तो नष्ट हो जायेगा तब मोक्ष किसको प्राप्त होगा ? अतः क्षणिकवाद में पूर्व और उत्तर क्षणों में सम्बन्ध के अभाव में परलोकादि असम्भव है।

(ङ) क्षणिक आत्मा की परिकल्पना से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान असम्भव हो जाते हैं। जिस पूर्व क्षण में पदार्थ का अनुभव किया था वह तो नष्ट हो गया और उत्तर क्षण जिसने पदार्थ को नहीं देखा उसमें संस्कार के अभाव होने से स्मृति नहीं हो सकती है क्योंकि संस्कारों का उद्‌बोधन ही स्मृति कहलाती है। स्मृतिज्ञान के अभाव से प्रत्यभिज्ञान भी क्षणिक-आत्मवाद में असम्भव हो जाता है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान स्मृति और अनुभव पूर्वक ही होता है। जैसे 'यह वही पुरुष है।' जिसको स्मृति होती है उसी को अनुभव होने से प्रत्यभिज्ञान हो सकता है ? लेकिन निरन्वय ज्ञान क्षणों में स्मृति के अभाव से प्रत्यभिज्ञान कैसे बन सकता है ?[1] इसी प्रकार आत्मा को क्षणिक मानने से विभिन्न दोष आते हैं। इसलिए आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानना व्यर्थ है। अतः आत्मा पर्याय की अपेक्षा से क्षणिक और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है।

आत्मा कर्म-संयुक्त है : कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा को कर्म-संयुक्त विशेषण वाला बताया है। समस्त संसारी जीव अनादिकाल से कर्मों से संयुक्त हैं। अमृत-चन्द्राचार्य ने आत्मा के कर्म-संयुक्त विशेषण का विश्लेषण करते हुए कहा है कि संसारी आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा भावकर्मों (पुद्‌गल कर्मों के कारणभूत आत्म-परिणामों) के साथ संयुक्त होने से कर्म संयुक्त है और व्यवहार नय की अपेक्षा से द्रव्य कर्मो (चैतन्य परिणाम के अनुरूप पुद्‌गल परिणामात्मक कर्मो) के साथ संयुक्त होने से कर्म-संयुक्त है।[2] 'कर्म-संयुक्त' यह विशेषण शैव दार्शनिकों का खण्डन करने के लिए दिया गया है, क्योंकि वे समस्त आत्माओं को अनादि काल से शुद्ध मानते हैं।[3] संसारी आत्माओं को यदि अनादिकाल से शुद्ध माना जाये तो आत्माएँ कभी कर्म-बन्धन में नहीं बधेंगी। संसारी जीव को कर्म-संयुक्त न मानने पर मुक्त जीव के भी कर्मबंध होने लगेगा।[4] अतः सिद्ध है कि जिस

---

१. प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात्सन्तानान्तरचित्तवत्। तदभावश्च प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यान्वितस्याभावात्।—अष्टसहस्री, पृ० १८२। स्याद्वादमंजरी, कारिका, १८।

२. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका, २७।

३. संसारस्यन्याख्यानं सदाशिवं प्रति।—द्रव्यसंग्रह वृत्ति, ३।

४. सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृ० ९२।

प्रकार सोना अनादिकाल से किट्टकालिमा आदि से युक्त होता है उसी प्रकार संसारी जीव अनादिकाल से कर्म-संयुक्त होता है। कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं है जो कार्मण शरीर से रहित हो। आत्मा के कर्म-संयुक्तपने का विवेचन विस्तृत रूप से अगले अध्यायों में किया जायेगा।

जीव कथंचित् शुद्ध एवं अशुद्ध है : आत्मा स्वभाव से शुद्ध स्वरूप है। लेकिन संसारी आत्मा को कर्म-संसर्ग के कारण कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध मानना जैन दार्शनिकों की विशेषता है। जैन दार्शनिक शैव दर्शन के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं कि आत्मा सर्वथा शुद्ध रहता है। इसके विपरीत जैन दार्शनिक मानते हैं कि समस्त संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म के साथ उसी प्रकार संयुक्त हैं जिस प्रकार खान से निकाले गये सोने के साथ किट्टकालिमादि। इन्हीं कर्मो के संसर्ग के कारण आत्मा अच्छे-बुरे कर्म भोग कर विभिन्न पर्यायों, योनियों तथा गतियों में भ्रमण करता रहता है। आत्मा कर्मों का विनाश करके मुक्त हो जाती है। अतः निष्कर्ष यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से ही जीव कर्म सम्बद्ध होने के कारण अशुद्ध है लेकिन निश्चय नय की अपेक्षा से जीव द्रव्य शुद्ध है।[1] स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि "जीव एकान्त रूप से सर्वथा शुद्ध नहीं है अन्यथा तपादि आचरण करना व्यर्थ हो जायेगा।[2]" आत्मा को सर्वथा शुद्ध मानने पर प्रश्न होगा कि शुद्ध जीव शरीरादि क्यों धारण करता है? शुभ-अशुभ कर्म करने का क्या प्रयोजन है? सांसारिक सुख-दुःख में वैषम्यता क्यों है? उपर्युक्त शंकाओं से स्पष्ट है कि आत्मा सर्वथा शुद्ध नहीं है।[3] इसी प्रकार यदि आत्मा को सर्वथा कर्म-संयुक्त माना जाये तो जीव कभी भी मुक्त न हो सकेगा। अतः मानना चाहिए कि आत्मा कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध है। जीव में शुद्ध होने की विद्यमान शक्ति निमित्त कारण पा कर जीव शुद्ध हो जाता है।

आत्मा अमूर्तिक है : जैन-दर्शन में आत्मा को अमूर्तिक (अरूपी) द्रव्यों के वर्गीकरण में वर्गीकृत किया गया है।[4] आत्मा को अमूर्तिक कहने का तात्पर्य है पुद्गल के गुण रूपादि से रहित होना।[5] इसका उल्लेख पहले कर दिया गया

१. मग्गणगुणठाणेहिं य चउदसहिं तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ।।—द्रव्य संग्रह, १३।
पंचास्तिकाय, तात्पर्य वृत्ति, २७।

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, २००।

३. वही, गा० २०१-२०२, श्रावकाचार (अमितगति), ४।३३।

४. पंचास्तिकाय, ९७।

५. वण्णरस पंच गंधादो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे। णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो।।—द्रव्य संग्रह, ७।

है। यद्यपि स्वभाव से आत्मा अमूर्तिक है, लेकिन कर्म-संयुक्त संसारी आत्मा एकान्त रूप से अमूर्तिक नहीं बल्कि कथंचित् अमूर्तिक है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा भी है कि "आत्मा के अमूर्तत्व के विषय में अनेकान्त है। यह कोई एकान्त नहीं है कि आत्मा अमूर्तिक ही है। कर्म-बन्ध रूप पर्याय की अपेक्षा उससे युक्त होने के कारण कथंचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा कथंचित् अमूर्त है।[1]" ससारी आत्मा अमूर्तिक नहीं है क्योंकि संसारी आत्मा कर्म से सम्बद्ध रहती है किन्तु जिस समय उसके समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है उस समय मुक्त होने पर वह अमूर्त हो जाती है।[2] अतः यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा सर्वथा अमूर्तिक ही नहीं है, बल्कि कथंचित् मूर्तिक भी है। यदि आत्मा को आकाश की तरह अमूर्तिक माना जाये जो जिस प्रकार आकाश का कर्म-बन्ध नहीं होता है, उसी प्रकार मे आत्मा का भी कर्मबन्ध नहीं होना चाहिए। अतः आत्मा सर्वथा अमूर्तिक नहीं है।[3] यद्यपि आत्मा अनादि चैतन्य स्वरूप है तो भी अनादि कार्मण शरीर के साथ संयुक्त होने के कारण मूर्तिक भी है। मूर्तिक होते हुए भी अपने ज्ञानादि स्वभाव को न छोड़ने के कारण अमूर्तिक भी है।[4] कहा भी है: "बन्ध की अपेक्षा आत्मा और कर्म एक हो जाने पर लक्षण की दृष्टि से दोनों में भेद है। अतः आत्मा ऐकान्तिक रूप से अमूर्तिक नहीं है।[5]" अतः सिद्ध है कि निश्चय नय की अपेक्षा आत्मा अमूर्तिक है तथा व्यवहार नय की दृष्टि से अनादि-काल से दूध और पानी की तरह परस्पर आत्मा और कर्म के मिले रहने के कारण आत्मा अमूर्तिक भी है।[6] कहा भी है: "संसारी जीव मूर्त आठ कर्मों के द्वारा अनादिकालीन बन्धन से बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता है।[7]" इसी प्रकार विभिन्न जैन दार्शनिकों ने आत्मा को कथंचित् अमूर्त और कथंचित् मूर्त सिद्ध किया है।

१. सर्वार्थसिद्धि, २।७, तत्त्वार्थसार, ५।१६।

२. धवला, १३।५।३।१२।
कर्मबन्धव्यपगमव्यंजितसहजं स्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः।— समयसार, आत्मख्याति टीका शक्ति नंबर २०।

३. श्रावकाचार (आशाधर), ४।४४।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, २।७।२४।

५. वही, २।७।२७, (अमितगति) श्रावकाचार, ४।४५।

६. व्यवहारेण कर्मभिः सहैकत्वपरिणामान्मूर्तोऽपि निश्चयेन नीरूपस्वभावत्वान्नहि मूर्तः। पंचास्तिकाय, तत्त्वदीपिका टीका, २७।

७. धवला, १३।५।५।६३।

आत्मा कर्ता है : न्याय-वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिकों ने भी आत्मा को शुभ-अशुभ, द्रव्य-भाव कर्मों का कर्ता माना है। परन्तु अन्य भारतीय दार्शनिकों की अपेक्षा जैन दार्शनिकों की यह विशेपता है कि वे अपने मूलभूत सिद्धान्त स्याद्वाद के अनुसार आत्मा को कथंचित् कर्ता और कथंचित् अकर्ता मानते हैं। आत्मा को कर्ता कहने का तात्पर्य है कि वह परिणमनशील है।[1] पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति[2] में भी कहा है कि "अशुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से शुभाशुभ परिणामों का परिणमन होना ही आत्मा का कर्तृत्व है। जैन-दर्शन में नय शैली से आत्मा को कर्ता बतलाते हुए कहा गया है कि व्यवहार नय की अपेक्षा से आत्मा द्रव्य कर्म, नो-कर्म एवं घटपटादि पदार्थों का कर्ता है और अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा भाव कर्म का कर्ता है। कहा भी है—'व्यवहारनय से जीव ज्ञानावरणादि कर्मों, औदारिकादि शरीर, आहारादि पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल रूप नो-कर्मों और बाह्य पदार्थ घटपटादि का कर्ता है, किन्तु अशुद्ध निश्चय नय से राग द्वेषादि भाव कर्मों का तथा शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध चेतन ज्ञान दर्शन स्वरूप शुद्ध भावों का कर्ता है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।[4] स्वामी कार्तिकेय ने भी कहा है कि जीव कर्ता है क्योंकि कर्म, नोकर्म तथा अन्य समस्त कार्यों को करता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के अनुरूप सामग्री के अनुसार जीव संसार एवं मोक्ष स्वयं उपार्जित करता है।[5]

उपचार से ही आत्मा पुद्गल कर्म का कर्ता है : आत्मा व्यवहार नय की अपेक्षा या उपचार से ही ज्ञानावरणादि कर्म का कर्ता है। समयसार में कहा है : 'कर्मबन्ध का निमित्त होने के कारण उपचार से कहा जाता है कि जीव ने कर्म किये हैं। उदाहरणार्थ—सेना युद्ध करती है किन्तु उपचार से कहा जाता कि राजा युद्ध करता है, उसी प्रकार आत्मा व्यवहार दृष्टि से ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता कहलाता है।[6] प्रवचनसार की टीका में भी कहा है—'आत्मा अपने

---

१. यः परिणमति स कर्ता।—समयसार, आ० टीका गा० ८६, कलश ५१।

२. चूलिका, गा० ५७।

३. द्रव्य संग्रह, टीका, ८ ; श्रावकाचार (वसुनन्दि), ३५।

४. ववहारेण दु एवं करेदि घटपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि॥—समयसार, ९८,
अध्यात्मकमलमार्तण्ड, ३।१३।

५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १८८।

६. समयसार, १०४-७।

भाव कर्मो का कर्ता होने के कारण उपचार से द्रव्य कर्म का कर्ता कहलाता है।'[1] जिस प्रकार से लोक रूढ़ि है कि कुम्भकार घड़े का कर्ता एवं भोक्ता है उसी प्रकार रूढ़िवश आत्मा कर्मो का कर्ता एवं भोक्ता है।[2] आत्मा को पारमार्थिक रूप से पुद्गल कर्मों का कर्ता मानना मिथ्या है।[3] यदि चेतन पदार्थ को अचेतन द्रव्य का कर्ता माना जाए तो चेतन और अचेतन में भेद करना असम्भव हो जाएगा।[4] अतः जीव और पुद्गल में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण ही जीव ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता उसी प्रकार माना जा सकता है जिस प्रकार से कुम्भकार घट का कर्ता कहलाता है।[5]

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा पुद्गल द्रव्य का कर्ता नहीं है : आत्मा को पर पदार्थों का कर्ता मानने वालों को कुन्दकुन्दाचार्य ने मिथ्या दृष्टि, अज्ञानी, मोही कहा है। कहा भी है कि 'जो यह मानता है कि मैं दूसरे जीवों को मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है। जो यह मानता है कि मैं अपने द्वारा दूसरे जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ, वह मूढ़ है और अज्ञानी है। इसके विपरीत ज्ञानी है। क्यों कि सभी जीव कर्मोदय के द्वारा ही सुखी-दुःखी होते हैं।[6] अमृतचन्द्र सूरि ने भी यही कहा है।[7] आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। आत्मा कर्ता है, ऐसा मानना व्यवहारी जीवों का मोह है।[8] अज्ञानान्धकार से युक्त आत्मा को जो कर्ता मानते हैं मोक्ष के इच्छुक होते हुए सामान्य लोगों की तरह उनकी भी मुक्ति नहीं हो सकती।[9] जब आत्मा पुद्गल द्रव्य रूप मिथ्यात्वादि का भोक्ता ही नहीं है तब वह पुद्गल कर्म का कर्ता किस प्रकार हो सकता है। पंचाध्यायीकार ने भी कहा है कि निकृष्ट बुद्धि वाले, अन्य मिथ्या दृष्टि वाले यह मिथ्या कथन करते हैं कि जीव बन्ध को न होने वाला अन्य पदार्थ का कर्ता-भोक्ता है। यथा सातावेदनीय के उदय से प्राप्त होने वाला घर, धनधान्यादि और स्त्री-पुत्र आदि का

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वदीपिका टीका २९।
२. समयसार, आत्मख्याति टीका, ८४।
३. समयसार ११९।
४. योगसार (अमितगति), २।३०।
५. समयसार, आत्मख्याति टीका, २१४।
६. समयसार, २४७-२५८।
७. समयसार, आत्मख्याति टीका, ७९, कलश ५०।
८. वही, ९७, कलश ६२।
९. वही, ३२०, कलश १९९।

जीव स्वयं कर्ता एवं स्वयं ही उसका भोक्ता है।'[1] आत्मा को पर पदार्थ का कर्ता मानने वालों को कुन्दकुन्दाचार्य ने जैन सिद्धान्तों से अनभिज्ञ एवं अन्य सिद्धान्तों वाला कहा है।[2]

पारमार्थिक रूप से आत्मा निज भावों का कर्ता है : व्यवहार नय की अपेक्षा से ही आत्म परिणामों के निमित्त से कर्मों के करने के कारण आत्मा कर्ता कहलाता है।[3] किन्तु निश्चय नय की अपेक्षा कोई भी द्रव्य दूसरे के परिणामों को नहीं कर सकता है इसलिए आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है।[4] बल्कि अपने परिणामों का ही कर्ता है। कहा भी है : 'अपने भाव को करता हुआ आत्मा अपने भाव का कर्ता है, पुद्गल रूप द्रव्य कर्मों का नहीं।'[5] प्रवचनसार की टीका में भी कहा है—'आत्मा अपने परिणाम से अभिन्न होने के कारण वास्तव में अपने परिणाम रूप भाव कर्मों का ही कर्ता है, पुद्गल परिणामात्मक द्रव्य कर्म का नहीं।'[6] अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार की टीका में उदाहरण दे कर उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार कुम्भकार घट बनाते हुए घट रूप से परिणमित नहीं होने के कारण पारमार्थिक रूप से उसका कर्ता नहीं कहलाता है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानावरणादि रूप परिणमित न होने के कारण (अर्थात्-आत्मा अपना स्वभाव-द्रव्य और गुण छोड़कर ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल द्रव्य वाला न होने के कारण) आत्मा भी परमार्थ रूप से उनका कर्ता नहीं हो सकता है।[7] अतः उपर्युक्त मन्तव्य से सिद्ध है कि आत्मा अपने परिणाम का कर्ता है, पुद्गल रूप कर्मों का नहीं।

आत्मा के कर्तृत्व के विषय में सांख्य मत और उसकी समीक्षा :

भारतीय दर्शन में आत्मा के कर्तृत्व के विषय में सांख्य दर्शन विचित्र है। न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त और जैन-दार्शनिकों के अतिरिक सांख्य-योग दार्शनिक आत्मा को अकर्ता मानते हैं। उनका मत है कि पुरुष अपरिणामी एवं नित्य है इसलिए वह कर्ता नहीं हो सकता है। पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ कर्म प्रकृति ही

---

१. पंचाध्यायी, पूर्वार्ध, श्लोक ५८०, ५८१। योगसार (अमितगति), ४।१३।
२. समयसार, ८५, ११६-११७।
३. पंचास्तिकाय, तत्त्वदीपिका टीका, २७।
४. कषायपाहुड़, १ पृ० ३१८।
५. पंचास्तिकाय, ६१ ; प्रवचनसार ९२।
६. प्रवचनसार, ३०। समयसार, आत्मख्याति टीका ८६।
७. वही, कलश ७५, ८३।

करती है, इसलिए वह कर्ता है। अन्य दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिकों ने भी सांख्यों के इस सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए कहा है कि यदि पुरुष (आत्मा) अकर्ता है और प्रकृति द्वारा किये गये कर्मो का भोक्ता है तब पुरुष की परिकल्पना ही व्यर्थ है।[1] दूसरी बात यह है कि प्रकृति अचेतन है, इसलिए जिस प्रकार अचेतन घटपटादि पदार्थ पुण्य-पाप के कर्ता नहीं हैं उसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी कर्ता नहीं हो सकती है। यदि अचेतन प्रकृति को कर्ता माना जायेगा तो घटपटादि पदार्थो को भी कर्ता मानना पड़ेगा क्योंकि वे भी प्रधान की तरह अचेतन हैं।[2] इसलिए सिद्ध है कि प्रकृति कर्ता नहीं है।

आत्मा प्रकृति के द्वारा किये गये कार्यो का उपभोग करता है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहार में यही देखा जाता है कि जो काम करता है वही उसके फल का भोग करता है इसलिए यदि प्रकृति कर्ता है तो उसे ही भोक्ता मानना चाहिए।[3] यदि एक के द्वारा किये कार्यों का भोग दूसरा करेगा तब तो एक के भोजन करने से दूसरे को तृप्त होना चाहिए जो लोक व्यवहार के विरुद्ध है।[4]

अकलंक देव ने भी कहा है कि प्रकृति के द्वारा किये गये कार्यों से पुरुष को मुक्ति नहीं हो सकती है।[5] सांख्यों ने पुरुष को भोक्ता माना है,—जो भोग क्रिया करता है, भोक्ता कहलाता है। यदि पुरुष भोग क्रिया करता है इसलिए भोक्ता कहलाता है तब वह अन्य क्रियाओं का कर्ता क्यों नहीं हो सकता है।[6] आचार्य देवसेन ने कहा भी है : 'देहधारी जीव भोक्ता होता है और जो भोक्ता

१. श्रावकाचार (अमितगति), ४।३५।

२. अचेतनस्य पुण्यपापविषयकर्तृतानुपपत्तेर्घटादिवत् ।—तत्त्वार्थवार्तिक, २।१०।१।

३. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २४६।

४. प्रधानेन कृते धर्मे, मोक्षभागी न चेतनः। परेण विहिते भोगे तृप्तिभागी कुतः परः॥ उक्त्वा स्वयमकर्त्तारं, भोक्तारं चेतनं पुनः। भाषमाणस्य सांख्यस्य न ज्ञानं विद्यते स्फुटम्॥
—श्रावकाचार (अमितगति), ४।३४-३८।

५. तत्त्वार्थवार्तिक, २।१०।१।

६. भुजि क्रिया कुर्वन् भोक्ता···· । न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८१८।
अथ भुजिक्रियां करोति···· तदापराभिः क्रियाभिः किमपराद्धम।
समुच्चयटीका कारिका ४९।

होता है वह कर्ता भी होता है।'[1] प्रभाचन्द्र ने भी कहा है कि 'आत्मा को कर्ता मानने से उसके भोक्ता मानने में विरोध आता है।'[2] गुणरत्नाचार्य ने कहा है कि जो कर्मफल भोगता है वह कर्ता होता है, जैसे किसान अपनी खेती का भोक्ता होता है इसलिए वही फसल को काटता है।[3] यदि आत्मा अकर्ता हो पर प्रकृति के द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगता है तो किये गये कार्यों के फल का विनाश और न किये गये कार्यों के फल प्राप्ति होने का दोष आयेगा जो अनुचित एवं अतार्किक है।[4]

पुरुष को अकर्ता मानने से वह आकाश के फूल की तरह असत् (अवस्तु) बन जाएगा। जिस प्रकार संसारावस्था में पुरुष अकर्ता होकर भोक्ता स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार शुद्ध चेतन स्वरूप मुक्तात्मा को भी भोक्ता मानना चाहिए[5] जो सांख्य दर्शन के विरुद्ध है। यदि सांख्य दार्शनिक यह तर्क प्रस्तुत करें कि मुक्तात्मा अकर्ता होने पर भी कर्मफलों का उपभोग नहीं करती है, तब कहा जा सकता है कि प्रकृति भी कर्मों का कर्ता नहीं है क्योंकि मुक्तात्मा की तरह वह कर्मों का उपभोग नहीं करती है।[6]

सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि यदि द्रष्टा भोक्ता आत्मा को जैन दार्शनिक कर्ता मानते हैं तो मुक्तात्मा को भी कर्ता मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से उस आत्मा को कृतकृत्य कहना व्यर्थ हो जाएगा। अतः आत्मा को कर्ता मानना सदोष है।

जैन दार्शनिक उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि मुक्त जीव को अकर्ता हम मानते ही नहीं हैं। क्योंकि मुक्त जीव वस्तु सत् हैं इसलिए उनमें सुख, चैतन्य, सत्ता, वीर्य और क्षायिक दर्शन रूप अर्थ क्रिया करते रहते हैं। यदि मुक्त जीव को अर्थक्रिया-कारी-रूप कर्ता न माना जाएगा तो वे असत् हो जाएँगे।[7]

सांख्य : मुक्त जीव सुख-दुःखादि का कर्ता नही है क्योंकि उसमें सुख-

---

१. नयचक्रवृत्ति, १२४; विद्यानन्दि आप्तपरीक्षा ८१।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८१८।

३. षट्दर्शनसमुच्चय टीका, पृ० २३६।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, २।१०।१; षट्दर्शनसमुच्चय टीका, २३६। न्यायकुमुद-चन्द्र, पृ० ८१९।

५. वही, पृ० ८१९; आप्त-परीक्षा, पृ० ११४।

६. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८१९।

७. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २४९।

दुःखादि कारण पुण्य-पाप कर्मों का अभाव होता है। कारण कार्य सिद्धान्त के अनुसार कारण के विना कार्य नहीं हो सकता है।

जैन : जैन दार्शनिक प्रत्युत्तर में कहते हैं कि आपके उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि संसारी जीव सुख-दुःखादि के कारणभूत शुभ-अशुभ कर्मों को अवश्य करते हैं क्योंकि वह उनका भोक्ता है।

सांख्य : आत्मा सुखादि का भोक्ता तो है क्योंकि उसके भोक्तृत्व की सभी को अनुभूति होती है।

जैन : जैन दार्शनिक कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मा के भोक्तृत्व की सभी को अनुभूति होती है उसी प्रकार 'मैं शब्द सुनने वाला हूँ', 'गन्ध सूंघने वाला हूँ' इत्यादि वाक्यों से आत्मा के कर्तृत्व की सभी को प्रतीति होती है इसलिए भोक्ता की तरह पुरुष कर्ता भी हैं। यदि सांख्य दार्शनिक यह नहीं कह सकते हैं कि उपर्युक्त कर्तृत्व की प्रतीति प्रकृति के परिणाम अहंकार के कारण होती है। ऐसा मानने पर भोक्तृत्व प्रतीति भी प्रकृति में माननी पड़ेगी।[1] आत्मा भोक्ता की तरह कर्ता है, यह सिद्ध हो जाता है।

आत्मा भोक्ता है : आत्मा शुभ-अशुभ कर्मो का कर्ता है। सभी भारतीय दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिक भी आत्मा को उन कर्म फलों का भोक्ता मानते हैं। यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि सांख्य दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिक मात्र उपचार से कर्म फलों का भोक्ता[2] न मानकर वास्तविक रूप से भोक्ता मानते हैं।[3] जिस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता है उसी प्रकार वह व्यावहारिक दृष्टि से पौद्गलिक कर्मजन्य फल सुख-दुःख एवं वाह्य पदार्थो का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से चेतन के विकारभाव राग-द्वेषादि का तथा शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से शुद्ध चेतन भावों का भोक्ता है।[4] आदि पुराण में कहा गया है कि आत्मा परलोक सम्बन्धी पुण्य-पाप जन्य फलों का भोक्ता है। स्वामी कार्तिकेय ने भी आत्मा को कर्म विपाक जन्य सुख-दुःख का भोक्ता वतलाया है।[5]

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २४६।

२. एतेन विशेषणाद—उपचरितवृत्त्या भोक्तारं चात्मानं मन्यमानानां सांख्यानां निरासः।—षट्दर्शनसमुच्चय टीका, कारिका ४९।

३. तथा स्वकृतस्य कर्मणो यत्फलं सुखादिकं तस्य साक्षाद् भोक्ता च।—वही।

४. द्रव्यसंग्रह, गा० ९ एवं इसकी टीका। पंचास्तिकाय, तत्त्वदीपिकाटीका, ६८। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १०।

५. जीवो वि हवइ भुक्ता कम्मफलं सो वि भुंजदे जह्मा।
कम्म विवायं विविहं सो चिय भुंजेदि संसारे॥—कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १।८९।

सांख्य दार्शनिकों का मन्तव्य है कि आत्मा को भोक्ता कहने का तात्पर्य अनुभव करना है। अतः आत्मा विषयों का साक्षात् भोक्ता नहीं बल्कि उपचार से भोक्ता है।[१] उपचार से भोक्ता कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि पुरुष भोक्ता नहीं है लेकिन बुद्धि में झलकने वाले सुख-दुःख की छाया 'पुरुष' में पड़ने लगती है, यही उसका भोग कहलाता है और इसी भोग के कारण पुरुष भोक्ता कहलाता है। जिस प्रकार स्फटिक-मणि लाल फूल के संसर्ग के कारण लाल हो जाती है उसी प्रकार निर्मल स्वच्छ पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध से सुख-दुःखादि का भोक्ता बन जाता है। बुद्धि रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित पदार्थों का द्वितीय दर्पण पुरुष में झलकना ही पुरुष का भोक्तृत्व है। इस भोक्तृत्व के अतिरिक्त पुरुष में अन्य किसी प्रकार का भोक्तृत्व नहीं है।[२] अतः वास्तव में प्रकृति ही कर्ता—भोक्ता है, पुरुष तो उपचार से भोक्ता है।

जैन दार्शनिक सांख्यों के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। जैन दर्शन में उपचार से आत्मा को भोक्ता न मान कर वास्तविक रूप से भोक्ता स्वीकार किया है। हरिभद्र ने शास्त्रवार्तासमुच्चय[3] में कहा है कि पुरुष अमूर्त है इसलिए वह प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता है। अतः सांख्यों का यह कथन ठीक नहीं है कि पुरुष (आत्मा) उपचार से भोक्ता है।

दूसरी बात यह है कि यदि संसारी पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ने से पुरुष को भोक्ता माना जाता है तो मुक्त पुरुष को भी भोक्ता मानना पड़ेगा क्योंकि उसका प्रतिबिम्ब भी बुद्धि में पड़ने से सुख-दुःख का अनुभव करने वाला हो सकता है। यदि सांख्य दार्शनिक मुक्त पुरुष को भोक्ता नहीं स्वीकार करें तो इसका तात्पर्य होगा कि पुरुष ने अपने भोक्तृत्व स्वभाव को छोड़ दिया है। अतः ऐसा मानने से आत्मा परिणामी तत्त्व सिद्ध हो जाएगा।[४] मल्लिषेण ने उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त कहा है कि औपचारिक रूप से भोक्ता मानने पर सुख-दुःख का अनुभव निराधार हो जाएगा।[५] अतः आत्मा वास्तविक रूप से भोक्ता है, औपचारिक रूप से नहीं।

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय टीका, पृ० १५०, स्याद्वादमंजरी पृ० १३५।

२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १९०; षड्दर्शनसमुच्चय टीका, १५१।

३. प्रतिबिम्बोदयोऽप्यस्य नामूर्तत्वेन युज्यते।
मुक्तेरतिप्रसंगाच्च न वै भोगः कदाचन।—शास्त्रवार्तासमुच्चय तीसरा स्तवक, कारिका, २२३।

४. वही, तीसरा स्तवक, कारिका, २२४।

५. स्याद्वादमंजरी, १५।

आत्मा प्रभु है : आत्मा का स्वरूप-विमर्श करते हुए जैन दार्शनिकों ने एक यह भी बतलाया है कि सभी आत्मा प्रभु[1] और स्वयंभू हैं, वे किसी के वशीभूत नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का स्वयं मालिक है। दूसरे शब्दों में सभी जीव अपने अच्छे-बुरे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी हैं। जीव शुभ-कर्म पूर्वक अपना पूर्ण विकास करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर सकता है अथवा दुष्कर्मोंको करके अभव्य ही बना रह सकता है। प्रभु प्रवृत्ति के द्वारा ऐश्वर्यशाली बनना, शुभ पदार्थों को भोगना, अनन्त सुख का अनुभव करना अथवा दुष्प्रवृत्ति करते हुए दीन बनकर अनन्त दुःखों को भोगना, जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहने के लिए जीव में समर्थता होती है। अमृतचन्द्राचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में कहा भी है—"आत्मा निश्चय नय की अपेक्षा से भाव कर्मों का और व्यवहार-नय की अपेक्षा से द्रव्य कर्म आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष प्राप्त करने में स्वयं ईश (समर्थ) होने से प्रभु है[2]।" आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव के प्रभुत्व शक्ति का विवेचन करते हुए कहा है[3] :—

कर्म संयुक्त होने की अपेक्षा जीव के प्रभुत्व गुण के विषय में कहा है कि अनादि काल से कर्म-संयुक्त जीव भाव और द्रव्य कर्मों के उदय से शुभाशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता होता हुआ सांत अथवा अनन्त चतुर्गति रूप संसार में मोह से आच्छादित होकर भ्रमण करता रहता है। दूसरी गाथा में कर्म वियुक्त होने की अपेक्षा जीव के प्रभुत्व गुण की व्याख्या में कहा है कि जिनेन्द्र-देव द्वारा बतलाये गये मार्ग पर चलकर जीव समस्त कर्मों को उपशम और क्षीण करके विपरीत अभिप्राय को नष्ट करके प्रभुत्व-शक्तियुक्त होकर ज्ञान मार्ग में विचरण करता हुआ आत्मीय स्वरूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त करता है।[4] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आत्मा प्रभु है।

आत्मा के इस विशेषण के द्वारा इस मत का खण्डन किया गया है कि जीव ईश्वर की प्रेरणा से शुभ-अशुभ कर्म करता है और ईश्वर ही उसे बंधन में बांधता और मुक्त करता है।[5]

---

१. पंचास्तिकाय, २७।

२. पंचास्तिकाय तत्त्वदीपिका, २७।

३. वही, गा० ६९-७०।

४. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका, गा० ७०।

५. ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
अनयोर्जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः॥—स्याद्वादमंजरी, का० ६।
ईश्वर कर्तृत्व खण्डन के लिए द्रष्टव्य—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० १०१-१४।

आत्मा के भाव : उमास्वामी ने औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावों को आत्मा का स्वतत्त्व कहा है।[१] आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में ये भाव आत्मा के असाधारण हैं इसलिए ये स्वतत्त्व कहलाते हैं।[२] लेकिन इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि औपशमिक आदि भाव आत्मा के स्वभाव रूप हैं। यहाँ असाधारण या स्वतत्त्व का तात्पर्य केवल इतना है कि ये भाव आत्म-द्रव्य के अलावा अन्य द्रव्यों में नहीं होते हैं।[३]

१—औपशमिक भाव : कर्मों का उदय कुछ समय के लिए रोक देना या उनका प्रभाव शान्त हो जाना उपशम कहलाता है।[४] पूज्यपादाचार्य[५] ने उदाहरण देते हुए कहा है कि जैसे फिटकिरी को (कतक) मैले पानी में डालने से पानी का कीचड़ नीचे बैठ जाता है लेकिन नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार कर्म के विपक्षी कारणों के संयोग से कर्म के अपने प्रभाव से आत्मा को प्रभावित करना रुक जाना उपशम कहलाता है और कर्मों के उपशम से होने वाला भाव औपशमिक कहलाता है। यह भाव जीव को उसी समय तक होता है जब तक उसके कर्मों का पुनः उदय नही हो जाता है। उमास्वामी ने औपशमिक भाव के दो भेदों का उल्लेख किया है : औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र।[६] षट्खडागम, धवलादि ग्रन्थों में औपशमिक भाव के विस्तृत भेदों का विवेचन किया गया है।[७]

क्षायिक भाव : क्षय का अर्थ है नष्ट होना। अतः ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों का सदैव के लिए आत्मा से अलग हो जाना (कभी भी आत्मा को स्वाभाविक

(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र), पृ० २६६-२८५।
(ग) षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० १७१।
(घ) प्रमेयरत्नमाला (अनन्तवीर्य) पृ० २।१०, पृ० १०४-१२०।
(च) स्याद्वादमंजरी, कारिका ६।

१. तत्त्वार्थसूत्र, २।१।
२. सर्वार्थसिद्धि, २।१, पृ० १४९।
३. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—तत्त्वार्थसूत्र पर टीकाएँ।
४. अध्यात्मकमलमार्तण्ड, ३।८।
५. धवला, ९।४।१।४५।
६. सर्वार्थसिद्धि, २।१।
७. तत्त्वार्थसूत्र, २।३।
८. (क) षट्खण्डागम, १४।५।६।१७।
(ख) वही, ५।१।७।

शक्ति का घात न करना) क्षय कहलाता है।[1] जिस प्रकार फिटकरी के डालने से उपशान्त जल को किसी साफ बर्तन में निकाल लेने पर उस जल की गन्दगी पूर्णतया नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आत्मा से अष्ट कर्मों की अत्यन्त निवृत्ति होना या उसका उनसे सर्वथा दूर होना क्षय कहलाता है। आत्मा का कर्मों के क्षय से जो भाव होता है वह क्षायिक भाव कहलाता है।[2] तत्त्वार्थसूत्र में क्षायिक भाव के नौ भेद कहे गये हैं[3] : क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिका भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र। क्षायिक भाव मोक्ष का कारण है। मुक्तात्मा में उपर्युक्त नौ भावों में से केवल क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक वीर्य और सिद्धत्व के अलावा शेष समस्त कर्मों का अभाव होता है।[4]

क्षायोपशमिक भाव : क्षायोपशमिक भाव को मिश्रभाव भी कहते हैं। क्योंकि यह भाव कर्मों के अंश रूप क्षय से तथा अंश रूप उपशम से उत्पन्न होता है। न तो कर्मों का सर्वथा क्षय होता है और न सर्वथा उपशम।[5] भट्ट अकलंकदेव ने क्षायोपशमिक भाव को स्पष्ट रूप से समझाते हुए कहा है कि जिस प्रकार कोदो के धोने से उनमें से कुछ कोदों की मादकता नष्ट हो जाती है और कुछ की अक्षीण रहती है, उसी प्रकार कर्मों के क्षय करने वाले कारणों के होने से (परिणामों की निर्मलता से) कर्मो के एकदेश का क्षय और एकदेश का उपशम होना क्षायोपशमिक कहलाता है और कर्मों के क्षायोपशमिक से होने वाले आत्मा के भाव को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।[6]

विभिन्न कर्मों के क्षयोपशम होने पर आत्मा के जो भाव प्रकट होते हैं उनको उमास्वामी ने अट्ठारह भागों में विभाजित किया है : मतिज्ञान, श्रुत ज्ञान, मनः-पर्याय ज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षु दर्शन, अचक्षु

---

१. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) प्र०, टीका, गा० ८, पृ० २९।
(ख) धवला १।१।१।२७।

२. (क) सर्वार्थसिद्धि २।१।
(ख) —खीणम्मि खइयभावो दु।—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा० ८१४।

३. तत्त्वार्थ सूत्र, २।४। विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाएँ।

४. तत्त्वार्थसूत्र, १०।४।

५. तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुणःक्षायोपशमिक :।—धवला, १।१।१।८।

६. तत्त्वार्थवार्तिक, २।१।३।

दर्शन, अवधि ये तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य रूप पाँच लब्धियों, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ।[1]

औदयिक भाव : मन, वचन और काय की विभिन्न क्रियाओं के करने से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय आत्म प्रदेशों में होता रहता है। यह कर्मों की सत्त्व अवस्था कहलाती है। जब ये सत्त्व कर्म पक कर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जीव को अपना रस (फल) प्रदान करने लगते हैं तो यह उनकी उदय अवस्था कहलाती है।[2] कर्मों के उदय होने पर आत्मा की स्वाभाविक शक्ति आवृत हो जाती है और उसके परिणाम कर्म की प्रकृति की भाँति हो जाते हैं। अतः कर्मों के उदय से होने वाला आत्मा का भाव औदयिक भाव कहलाता है।[3]

आगमों में औदयिक भाव के इक्कीस भेद बतलाये गये हैं : नरकादि चार गति, क्रोधादि चार कषाय, स्त्री आदि तीन लिंग (वेद), मिथ्या दर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और कृष्णादि छह लेश्याएँ। इनका विस्तृत विवेचन आगे करेंगे। औदयिक भाव जीव का पराभव करते हैं इसलिए यह बंध का कारण है।

उपर्युक्त औपशमिकादि चारों भाव कर्मजन्य हैं।

पारिणामिक भाव : आत्मा का पारिणामिक भाव ही वह भाव है जो आत्मा को जड़ (अजीव) द्रव्यों से अलग करता है। यह आत्मा का स्वाभाविक परिणाम है क्योंकि औपशमिकादि भाव कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय से होते हैं किन्तु पारिणामिक भाव कर्मजन्य नहीं है।[4] पंचाध्यायी में कहा भी है—"कर्मों के उदय उपशमादि चारों अपेक्षाओं से रहित केवल आत्म-द्रव्य स्वरूप वाला पारिणामिक भाव होता है।"[5] पं० राजमल्ल ने पारिणामिक भाव की उपर्युक्त परिभाषा बतला कर पूज्यपाद और भट्टाकलंकदेव का अनुकरण ही किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, धवलादि में पारिणामिक भाव

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, २।५। (विस्तृत विवेचन विभिन्न अध्यायों में किया जा चुका है)

२. (क) द्रव्यादि निमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुदयः। सर्वार्थसिद्धि, २।१।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्त्व प्रदीपिका, ८।

३. (क) तत्त्वार्थवार्तिक, २।१।६।
(ख) कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणःऔदयिक :।—धवला १।१।१।८।

४. (क) सर्वार्थसिद्धि, २।७।
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक, २।७।२।

५. पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, कारिका ९७१।

का स्वरूप उपर्युक्त बतलाया है।[1] पारिणामिक भाव की विशेषता है कि यह अनादि, अनन्त, निरुपाधि, स्वाभाविक[2] और ज्ञायिक होता है।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—ये तीन भाव आत्मा के असाधारण पारिणामिक भाव हैं क्योंकि ये भाव अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं होते हैं। उपर्युक्त तीनों भावों को दो भावों में विभाजित किया गया है—(१) शुद्ध पारिणामिक भाव और (२) अशुद्ध पारिणामिक भाव।

शुद्ध पारिणामिक भाव : शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्ध पारिणामिक भाव एक जीवत्व ही है, क्योंकि यह शुद्ध आत्मद्रव्य का चैतन्य रूप परिणाम है।[3] पूज्यपाद ने जीवत्व का अर्थ चैतन्य किया है, इससे भी यही फलित होता है कि जीवत्व भाव शुद्ध आत्मा का परिणाम है।[4] अमृतचन्द्रसूरि[5] ने भी जीवत्व शक्ति का स्वरूप यही किया है। यह शुद्ध पारिणामिक भाव अविनाशी है और यह मुक्त जीव में पाया जाता है।

अशुद्ध पारिणामिक भाव : अशुद्ध पारिणामिक भाव पर्यायजन्य (आश्रित) होने के कारण विनाशशील होता है। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशुद्ध पारिणामिक भाव तीन प्रकार के होते हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। जीवत्व की व्युत्पत्ति "दश प्रकार के प्राणों से जीता है, जीता था और जीयेगा" इस प्रकार करने पर जीवत्व कर्म जनित दश प्रकार के प्राणों का रूप होने से यह अशुद्ध पारिणामिक भाव कहलाता है। तीनों अशुद्ध पारिणामिक भाव

---

१. (क) कारणणिरवेक्खभवो सभावियो होदि परिणामो ॥—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ८१५।
(ख) कम्मजभावातीदं जाणगभावं विसेस आहारं।
तं परिणामी जीवो अचेयणं पहुदि इयराणं ॥—नयचक्र, ३७४।

२. पंचास्तिकाय, तत्त्वदीपिका, ५८।

३. (क) अथवा, चैतन्यं जीवशब्देनाभिधीयते तच्चानादिद्रव्यभवननिमित्तत्वात् पारिणामिकम्।—तत्त्वार्थवार्तिक, २।७।६।
(ख) तथाहि...., तत्र शुद्धचैतन्यरूपजीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्याश्रितत्वाच्छूद्रद्रव्यार्थिकसंज्ञः शुद्धपारिणामिकभावो भण्यते।—द्रव्यसंग्रह, १३।

४. (क) सर्वार्थसिद्धि, २।७।

५. आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः।—समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट, शक्ति १।

संसारी जीव के व्यवहार नय की अपेक्षा से होते हैं, शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से नहीं। मुक्त जीव में एक भी अशुद्ध पारिणामिक भाव नहीं होता है।[१] वीरसेन ने भी कहा है कि जीवत्व पारिणामिक भाव (अशुद्ध पारिणामिक भाव) प्राणों को धारण करने की अपेक्षा होने वाला अयोगी के अन्तिम समय से आगे नहीं पाया जाता है क्योंकि सिद्धों में कारणभूत अष्ट कर्मों का अभाव होता है।[२]

उपर्युक्त पाँच भावों में से औदयिक भाव बन्ध का कारण है और औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव आत्मा के मोक्ष के कारण। पारिणामिक भाव[३] बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण नहीं है।

(ख) जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप सर्वज्ञता में पर्यवसित है :

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान स्वभाव वाला है। ज्ञ-स्वभाव वाला होने से समस्त पदार्थों को जानने की उसमें स्वाभाविक शक्ति होती है। लेकिन अनादि काल से आत्मा राग-द्वेष और ज्ञानावरणादि कर्मो के आवरण से मुक्त होने के कारण उसकी सकल पदार्थों को जानने की शक्ति आवृत हो जाती है। लेकिन जब कोई साधक तप और ध्यान के द्वारा इन आगन्तुक दोषों और आवरणों का समूल क्षय कर देता है तो तपे हुए सोने की तरह आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप चमकने लगता है। इस अवस्था में उसे अपने स्वाभाविक स्वरूप अनन्तज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इस अनन्तज्ञान को जैनदर्शन में केवलज्ञान कहा गया है। केवलज्ञान त्रिकालवर्ती तथा तीन लोक के समस्त द्रव्यों और उनकी सूक्ष्म-स्थूल, भूतकालीन, भावी और वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त पर्यायों को एक साथ युगपद् जानता है।[४] केवलज्ञान से युक्त आत्मा को केवली एवं सर्वज्ञ कहते हैं। इस प्रकार जैन-चिन्तकों ने आरम्भ से आत्मा के स्वरूप को सर्वज्ञता में पर्यवसित माना है। सर्वज्ञता के विषय में जैन दृष्टिकोण को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करने के पूर्व भारतीय दर्शन में उपलब्ध सर्वज्ञता सम्बन्धी मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक है।

---

१. द्रव्यसंग्रह टीका, १३।

२. धवला, १४।५।६।१६।

३. वही, ७।२।१।७।

४. (क) तत्त्वार्थसूत्र, १।२९। सर्वार्थसिद्धि टीका, १।२९। तत्त्वार्थवार्तिक, १।२९।९।

(ख) ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने।—अष्टसहस्री, पृ० ५०।

भारतीय दर्शन के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि चार्वाक और मीमांसक दर्शनों के अलावा शेष सभी दर्शन सर्वज्ञता की न केवल सम्भावना करते हैं बल्कि प्रखर तर्कों द्वारा उसकी स्थापना भी करते है।

चार्वाक दर्शन की मान्यता : इन्द्रिय प्रत्यक्षवादी होने के कारण चार्वाक किसी भी ऐसे पदार्थ की सत्ता नहीं मानते हैं जिसका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न होता हो। सर्वज्ञता अतीन्द्रिय पदार्थ है, उसका किसी को चक्षु इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः इस दर्शन में सर्वज्ञता की सम्भावना नहीं है।[1]

मीमांसक दर्शन का दृष्टिकोण : मीमांसक दर्शन मे वेद अपौरुषेय माना गया है। इस दर्शन की मान्यता है कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान वेद द्वारा ही संभव है।[2] अतः कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो धर्मज्ञ हो। इसका कारण यह बतलाया गया है कि मनुष्य रागी, द्वेषी एवं अल्पज्ञ होते हैं। ऐसा कोई मनुष्य नहीं हो सकता है जो राग-द्वेष से रहित होकर सर्वज्ञ बन जाए और धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार कर सके।[3] भट्ट कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में उन्हें धर्मज्ञत्व का निराकरण करना ही अभीष्ट रहा, सर्वज्ञता का नहीं।[4] बाद में उन्होंने सर्वज्ञता का भी खण्डन प्रबल युक्तियों से किया है। ये युक्तियाँ मीमांसाश्लोकवार्तिक[5] के अलावा पूर्व पक्ष के रूप में जैन[6]-बौद्ध[7] दर्शन शास्त्रों में भी उपलब्ध होती हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मीमांसा दर्शन में धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोपों का खण्डन किया गया है। पं० सुखलाल संघवी का भी यही मत है।[8]

---

१. अष्टसहस्री, पृ० ३५-३६।

२. (क) चोदनालक्षणो धर्मः।—जैमिनीसूत्र, १।१।२। (ख) शा० भा०, १।१।५

३. जैनद्रव्यसंग्रह, पृ० २ पर उद्धृत कारिका।

४. धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रापि युज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते॥
यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते।
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते॥
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते।
—न्यायविनिश्चय विवरण, (प्रस्तावना), पृ० २८, पर उद्धृत।

५. मीमांसाश्लोकवार्तिक, २ कारिका ११०-१४३।

६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० २४७-२५४।

७. तत्त्वसंग्रह, का० ३१२४-३२४६।

८. दर्शन और चिन्तन, पृ० १२८।

न्याय-वैशेषिक दर्शन का दृष्टिकोण : न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का ज्ञान नित्य माना गया है। इसलिए इस दर्शन में ईश्वर नित्य सर्वज्ञ है।[1] इसके अतिरिक्त जिन योगी आत्माओं ने योग के द्वारा वैसा सामर्थ्य प्राप्त कर लिया है उन आत्माओं में भी योगज सर्वज्ञता का होना न्याय-वैशेषिक दार्शनिक मानते हैं।[2] लेकिन न्याय-वैशेषिक दार्शनिक जैन दार्शनिकों की तरह यह नहीं मानते हैं कि सर्वज्ञ होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। योगियों का ज्ञान अनित्य होता है इसलिए मोक्ष-प्राप्ति के बाद उनका सर्वज्ञत्व नष्ट हो जाता है।[3] न्याय-वैशेषिक ईश्वर को सर्वज्ञ मान कर वेदों को ईश्वरकृत मानता है। अतः मीमांसकों की तरह इस दर्शन में भी धर्म के विषय में वेद को ही प्रमाण स्वीकार किया गया है।

सांख्य-योग दर्शन और सर्वज्ञता : सांख्य-योग दर्शन में सर्वज्ञता की सम्भावना न्याय-वैशेषिक दर्शन की तरह है। सांख्य-योग दार्शनिक भी न्याय-वैशेषिक की तरह योगज सर्वज्ञता को अणिमादि ऋद्धियों की भाँति योग विभूति मात्र मानता है, जो किसी-किसी साधक को प्राप्त हो सकती है। सांख्य दार्शनिक ज्ञान को पुरुष का गुण न मान कर बुद्धि का गुण मानते हैं। बुद्धि प्रकृतिजन्य महान् का परिणाम है। अतः इस मत के अनुसार प्रकृति ही सर्वज्ञ है। कैवल्य की प्राप्ति हो जाने पर यह सर्वज्ञता नष्ट हो जाती है। योग-दर्शन पुरुष-विशेष रूप ईश्वर को नित्य सर्वज्ञ मानता है[4] जैसा कि न्याय-वैशेषिक मानते हैं। योगज सर्वज्ञता विषय-वासना तारक विवेक ज्ञानरूप है,[5] यह अनित्य होने के कारण अपवर्ग के पश्चात् विनष्ट हो जाती है। सांख्य-योग दार्शनिक न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों से इस बात में भी सहमत हैं कि बौद्धिक या योगज सर्वज्ञता मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य शर्त नहीं है अर्थात् बिना सर्वज्ञता के भी कैवल्य की प्राप्ति हो सकती है।[6]

---

१. तर्कसंग्रह : अन्नम् भट्ट।

२. वैशेषिकसूत्र, ९।१।११-१३ एवं प्रशस्तपाद भाष्य।

३. द्रष्टव्य-न्यायभाष्य, अध्याय ५।

४. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

—योगसूत्र, १।२४।

५. तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।—योगसूत्र, ३।५४।

६. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।

—योगसूत्र, ३।५५।

वेदान्त दर्शन में सर्वज्ञता : वेदान्त दार्शनिक सर्वज्ञता को अन्तःकरणनिष्ठ मानते हैं। वेदान्तियों का मत है कि इस प्रकार की सर्वज्ञता जीवन-मुक्त दशा तक ही रहती है, अन्त में नष्ट हो जाती है। मुक्त दशा में ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप में मुक्त जीव विलीन हो जाता है।[1] इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि न्याय-वैशेषिक परम्परा में सर्वज्ञता अनादि अनन्त न होकर सादि और सान्त है।

श्रमण परम्परा में सर्वज्ञता : श्रमण परम्परा में जैन और बौद्ध—ये दो दर्शन प्रमुख हैं। इनकी मान्यता है कि कोई भी व्यक्ति धर्म-साधना के द्वारा वीतरागी तथा केवलज्ञानी बन सकता है और समस्त अतीन्द्रिय पदार्थों को जान सकता है। वीतरागी पुरुष के वचन ही प्रमाण होते हैं। वह साक्षात्कृत तत्त्वों का अर्थात् मोक्ष और उसके उपाय रूप धर्म का उपदेश देता है, जो आगम का रूप ले लेता है। जिस प्रकार धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार किसी ऋषभादि तीर्थंकर या बुद्ध ने किया, केवलज्ञान या बोधि के प्राप्त होने पर कोई भी साधक उनको प्रत्यक्ष कर सकता है। बौद्ध और जैन परम्परा में सर्वज्ञता विषयक विचार का अलग-अलग विवेचन निम्नांकित है :—

बौद्ध दर्शन में सर्वज्ञता : बौद्ध दर्शन में सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता की स्थापना की गयी है। बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता है कि बुद्धाचार्य आर्यसत्य के साक्षात्कर्ता होते हैं और इस चतुरार्यधर्म के विषय में वे ही प्रमाण होते हैं। बुद्ध अविद्या और तृष्णा से युक्त जीवों को सांसारिक दुःखों से मुक्त होने के लिए करुणापूर्वक धर्म का उपदेश देते हैं।[2] धर्मकीर्ति का यह भी मत है कि "पुरुष संसार के समस्त पदार्थों को जाने या नहीं, इस निरर्थक बात से हमें कोई मतलब नहीं है। मोक्षमार्ग (धर्म) में उपयोगी ज्ञान का हमें विचार करना चाहिए। अर्थात्—वह धर्मज्ञ है या नहीं ? यदि कोई (मोक्ष मार्ग में अनुपयोगी) जगत् के कीड़े-मकोड़ों की संख्या को जानता है तो उससे हमें क्या लाभ ?[3] अर्थात् धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जो हेय और उपादेय तथा उनके उपायों को जानता है वही हमारे लिए प्रमाण है, सबका जानने वाला नहीं।[4] वह दूर तक

१. न्यायविनिश्चय विवरण, (प्रस्तावना), पृ० २९।

२. तस्मात् प्रमाणं तयोर्वा चतुःसत्यप्रकाशनम्।—प्रमाणवार्तिक, १।१४७।

३. तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥—वही, १।३२।

४. हेयोपादेयतत्त्वस्य हान्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥—वही, १।३३।

देखता है या नहीं, यदि वह इष्ट तत्त्व अर्थात् धर्म का द्रष्टा है तो वह प्रमाण स्वरूप है। यदि दूर तक देखने वाले को सर्वज्ञ माना जाए तो गृद्ध को ही प्रमाण मान लेना चाहिए क्योंकि वह बहुत दूर तक देखता है।"[१] धर्मकीर्ति के इस विचार से स्पष्ट है कि वे सर्वज्ञता को निरर्थक मानते हैं और धर्मज्ञता का समर्थन करते हैं। धर्मकीर्ति का यह मत कुमारिल से बिलकुल विपरीत है। इस सम्बन्ध में डॉ० महेन्द्रकुमार ने कहा है "तात्पर्य यह है कि जहाँ कुमारिल ने प्रत्यक्ष से धर्मज्ञता का निषेध करके धर्म के विषय में वेद का ही अबाधित अधिकार स्वीकार किया है, वहाँ धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से ही धर्म मोक्षमार्ग का साक्षात्कार मान कर प्रत्यक्ष के द्वारा होने वाली सर्वज्ञता का जोरों से समर्थन किया।[२]" धर्मकीर्ति का कहना है कि ज्ञान प्रवाह से दोषों का निर्मूल विनाश हो जाने से और नैरात्म्य भावना का चिन्तन करने से धर्म का साक्षात्कार हो सकता है। धर्मकीर्ति के उत्तरवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने धर्मज्ञता के साथ सर्वज्ञता की सत्ता भी सिद्ध की है।[3] प्रज्ञाकर गुप्त और शान्तरक्षित मानते हैं कि सभी योगी या वीतरागी थोड़े से प्रयत्न करने पर सुगत की तरह सर्वज्ञ एवं धर्मज्ञ हो सकते हैं।[४]

यहाँ उल्लेखनीय है कि भगवान् बुद्ध अपने को कभी सर्वज्ञ नहीं मानते थे। यही कारण है कि अतीन्द्रिय पदार्थों को अव्याकृत कह कर मौन धारण कर लेते थे। वे अपने को धर्मज्ञ या मार्गज्ञ रूप में ही सर्वज्ञ मानते थे। उनका उपदेश था, धर्म का पूर्ण निर्मल साक्षात्कार हो सकता है। धर्म जानने के लिए किसी पुस्तक विशेष की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है।[५]

जैनदर्शन में सर्वज्ञता :

जैन दर्शन में सर्वज्ञता सम्बन्धी विचार अत्यन्त प्राचीन है। प्रारम्भ से ही जैन आचार्यों ने अपने तीर्थंकरों की सर्वज्ञता को स्वीकार किया है। ज्ञानस्वभाव आत्मा के निरावरण होने पर अनन्तज्ञान या सर्वज्ञता स्वाभाविक रूप से

---

१. प्रमाणवार्तिक, १।३५।

२. सिद्धिविनिश्चय टीका, प्रस्तावना, पृ० ११०।

३. (क) प्रमाणवार्तिक अलंकार, पृ० ५२ एवं ३२९।
   (ख) स्वर्गापवर्गसंप्राप्ति हेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते।
   साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥—तत्त्वसंग्रह, का० ३३०९।

४. (क) प्रमाणवार्तिक अलंकार, पृ० ३२९। (ख) तत्त्वसंग्रह का०, ३६२८-२९।

५. न्यायविनिश्चय विवरण, प्रस्तावना, पृ० ३०।

प्रकट हो जाती है। षट्खंडागम में कहा गया है कि "स्वयं उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शन से युक्त भगवान्......, सब लोकों, सब जीवों और समस्त पदार्थों को एक साथ (युगपत्) जानते हैं एवं देखते हैं।[1]" आचारांग सूत्र[2] में भी यही कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य[3], शिवार्य[4] एवं निर्युक्तिकार भद्रबाहु[5] ने वीतरागी केवलज्ञानी को समस्त पदार्थों का युगपत् द्रष्टा कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार के शुद्धोपयोगाधिकार[6] में कहा है कि "केवली भगवान् समस्त पदार्थों को जानते और देखते हैं, यह कथन व्यवहार नय की अपेक्षा से है लेकिन निश्चय नय की अपेक्षा से वे अपने आत्म-स्वरूप को जानते और देखते हैं।" इस पर डॉ० महेन्द्रकुमार ने सिद्धिविनिश्चय की प्रस्तावना में लिखा है कि "इससे स्पष्ट फलित होता है कि केवली की परपदार्थज्ञता व्यावहारिक है, नैश्चयिक नहीं। व्यवहार नय को अभूतार्थ और निश्चय नय को भूतार्थ-परमार्थ स्वीकार करने की मान्यता से सर्वज्ञता का पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञता से ही होता है।[7]"

तार्किक युग में समन्तभद्राचार्य, सिद्धसेन, भट्टाकलंकदेव, हरिभद्र, वीरसेन, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र प्रभृति जैन तर्कशास्त्रियों ने प्रबल युक्तियों से सर्वज्ञ की सत्ता स्थापित की है। समन्तभद्र स्वामी का तर्क है कि परमाणु और धर्म आदि सूक्ष्म पदार्थ, अतीत में हुए राम-रावणादि अन्तरित अर्थात् काल की दृष्टि से जिनका अन्तराल है ऐसे पदार्थ और हिमवान् आदि देश विप्रकृष्ट पदार्थ किसी पुरुष के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि। जिसको सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है वही सर्वज्ञ है।[8] इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध की गयी है। समन्तभद्राचार्य की इस

---

१. षड्खण्डागम, १३।५।५।८२।

२. आचारांग सूत्र, श्रु० २, चू० ३। दर्शन और चिन्तन, पृ० १२९ पर उद्धृत।

३. प्रवचनसार, १।४७। नियमसार, १६७।

४. भावे सगविसयत्थे सूरो जुगवं जहा पयासेइ।
सव्वं वि तहा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥—भगवती आराधना, २१४२।

५. संभिण्णं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
तं णत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च ॥—आवश्यक निर्युक्ति, का० १२७।

६. नियमसार, गा० १५९।

७. सिद्धिविनिश्चय टीका, प्रस्तावना, पृ० १११।

८. आप्तमीमांसा, कारिका, ५।

युक्ति का अकलंक देव, हरिभद्र एवं विद्यानन्द आदि आचार्यों ने अनुकरण किया है।[1]

उनकी दूसरी युक्ति है कि जिस प्रकार तपाने से सोने का बाह्य और आन्तरिक कीट-कालिमादि मल का पूर्ण क्षय (अभाव) हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या आदि से आत्मा के (सर्वज्ञता को रोकने वाले) दोष और आवरणों का पूर्ण क्षय अवश्य होता है। जिस आत्मा के समस्त दोष और आवरणों का समूल क्षय हो जाता है वही आत्मा सर्वज्ञ है।[2]

भट्टाकलंक देव ने सर्वज्ञता की स्थापना महत्त्वपूर्ण युक्तियों द्वारा की है। उनकी पहली युक्ति है कि आत्मा में सकल पदार्थों को जानने की शक्ति है। किन्तु संसारी दशा में ज्ञानावरणादि कर्मों के आवरणों से युक्त होने के कारण आत्मशक्ति पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हो पाती है। लेकिन जब समस्त आवरण नष्ट हो जाते हैं तो वही अतीन्द्रिय ज्ञान समस्त ज्ञेयों को क्यों नहीं जानेगा? अर्थात् बाधा के अभाव में अवश्य ही जानेगा[3]।

अकलंकदेव का दूसरा तर्क है कि यदि किसी को अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष-ग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यकालीन दशाओं का उपदेश कैसे हो सकेगा? ज्योतिर्ज्ञान मिथ्या न होकर अविसंवादी होता है। अतः सिद्ध है कि उनका उपदेश करने वाला त्रिकालदर्शी था[4] तथा जिस प्रकार सत्य स्वप्न दर्शन से इन्द्रियादि की सहायता की अपेक्षा किये बिना भावी राज्यादि लाभ का यथार्थ ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों में वैशद्य रूप होता है और सभी पदार्थ स्पष्ट प्रकाशित होते हैं।[5]

सर्वज्ञता सिद्ध करने के लिए उनका तीसरा तर्क है कि जिस प्रकार परिमाण,

---

१. (क) न्यायविनिश्चय, ३।२९। (ख) सिद्धिविनिश्चय, ८।३१।
(ग) शास्त्रवार्तासमुच्चय, १०।५९३। (घ) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।१। कारिका, १०। (ङ) आप्तपरीक्षा, कारिका, ८८।

२. आप्तमीमांसा, कारिका, ४।

३. ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते। अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्॥—न्यायविनिश्चय, ३।८०, ३।२४, २।१९२-९३।

४. (क) धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुतः पुनः।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत् साधनान्तरम्॥—सिद्धिविनिश्चय टीका, ८।२, पृ० ५२६। (ख) न्यायविनिश्चय, ३।२८।

५. न्यायविनिश्चय, ३।२१।

अतिशय युक्त होने से अणुपरिमाण से बढ़ते-बढ़ते आकाश में पूर्ण रूप से महा-परिमाण वाला हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान अतिशय वाला होने से उसके प्रकर्ष की पूर्णता भी किसी आत्मा में अवश्य होती है। जिस आत्मा में ज्ञान का पूर्ण प्रकर्ष होता है वही सर्वज्ञ कहलाता है।[1] जिस प्रकार मणि आदि की मलिनता विपक्षी साधनों के संयोग से अत्यन्त नष्ट हो जाती है उसी प्रकार किसी आत्मा में आवरणादि के प्रतिपक्षी ज्ञानादि का प्रकर्ष होने पर आवरणादि का अत्यन्ताभाव हो जाता है।[2] अतः सर्वज्ञता की सत्ता यथार्थ है। इसके अतिरिक्त सर्वज्ञ-सिद्धि में एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह भी दिया है कि उसकी सत्ता का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। "जिस प्रकार बाधकाभाव के विनिश्चय चक्षु आदि से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार बाधा के असम्भव का निर्णय होने से सर्वज्ञ के अस्तित्व को न मानना महान् साहस है।[3] "सर्वज्ञ है" यह ज्ञान उसी प्रकार स्वतः ही प्रमाण है तथा बाधक रहित है जैसे "मैं सुखी हूँ" यह ज्ञान निर्बाध है। विद्यानन्द ने अकलंक देव के इस युक्ति का अनुकरण करके अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षादि ग्रन्थों में इसका सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन किया है। इसी प्रकार अन्य आचार्यों ने भी अनेक तर्कों द्वारा सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध की है। उन तर्कों को यहाँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समस्त जैन तर्कशास्त्रियों ने त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती पदार्थों के ज्ञाता के रूप में एक स्वर से सर्वज्ञता की स्थापना तथा उसका समर्थन किया है। बौद्धों की तरह जैन तर्कशास्त्रियों ने धर्मज्ञता और सर्वज्ञता का भेद करके उनमें मुख्य और गौण रूप से विचार नहीं किया। जैन दार्शनिकों का विचार है कि जो सर्वज्ञ होता है उसमें धर्मज्ञता स्वतः निहित होती है। वैदिक दर्शन की अपेक्षा जैन दर्शन के सर्वज्ञता सम्बन्धी विचार में अन्तर यह है कि जैन दार्शनिक मोक्ष-प्राप्ति के लिए सर्वज्ञता को अनिवार्य मानते हैं। जीवन-मुक्ति (केवली) अवस्था में यह सर्वज्ञता प्राप्त होती है और मुक्त होने पर भी रहती है। क्योंकि जैन दर्शन समस्त मुक्त जीवों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। यहाँ सर्वज्ञता सादि और अनन्त मानी गयी है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि जैन दर्शन ही मुख्यतया सर्वज्ञवादी दर्शन है, क्योंकि ज्ञ-स्वभाव आत्मा का स्वरूप यहाँ सर्वज्ञता में पर्यवसित है।

---

१. ज्ञानस्यातिशयात् सिध्येद्विभुत्वं परिमाणवत् ।
वैशद्यं क्वचिद्दोषमलहानेस्तिमिराक्षवत् ॥—सिद्धिविनिश्चय टीका, कारिका ८।८, पृ० ५३९; ८।९, पृ० ५४०।

२. वही, कारिका, ८।६-७, पृ० ५३७-५३८।

३. आप्तपरीक्षा, ९६-११०।

(ग) आत्म विवेचन के प्रकार : जीवसमास तथा मार्गणाएं

जैन दर्शन में आत्मा के विवेचन के लिए विविध प्रकारों का आश्रय लिया गया है। मार्गणा, जीवसमास और गुणस्थान ऐसे प्रकार हैं जो जैन दर्शन में ही उपलब्ध हैं और जिन्हें जैन दर्शन की अपूर्व देन मानी जानी चाहिए। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने बीस प्ररूपणाओं द्वारा जीव का विवेचन किया है।[1] ये प्ररूपणाएँ इस प्रकार हैं[2] :—१. गुणस्थान, २. जीवसमास, ३. पर्याप्ति, ४. प्राण, ५. संज्ञा, ६–१९. चौदह मार्गणा और २०. उपयोग। गुणस्थान का विवेचन आगे करेंगे। प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम जीवसमास प्ररूपणा का दिग्दर्शन कराया गया है।

जीवसमास : जिन स्थानों में जीवों का सद्भाव पाया जाता है उन स्थानों का नाम जीवसमास है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने जीवसमास का विवेचन विस्तृत रूप से किया है। सामान्य की अपेक्षा आगम में जीवसमास के चौदह भेद किये गये हैं[3]—बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय। ये सातों प्रकार के जीव पर्याप्त और अपर्याप्त प्रकार के होते हैं। विस्तार से जीव समास के ५७ भेद हैं[4]—बादर पृथिवी, सूक्ष्म पृथिवी, बादर जल, सूक्ष्म जल, बादर तेज, सूक्ष्म तेज, बादर वायु, सूक्ष्म वायु, बादर नित्य निगोद, सूक्ष्म नित्य निगोद, बादर इतर निगोद, सूक्ष्म इतर निगोद, सप्रतिष्ठित वनस्पति और अप्रतिष्ठित वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संज्ञी एवं असंज्ञी पंचेन्द्रिय। ये उन्नीस प्रकार के जीव पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त होते हैं। इस प्रकार १९ × ३ = ५७ जीवसमास के विस्तृत भेद हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य नेमिचन्द्र ने स्थान, योनि, शरीर की अवगाहना और कुल—इन चार अधिकारों द्वारा जीव समास का निरूपण किया है।

स्थानाधिकार अपेक्षा से जीवसमासों का वर्णन : एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियादि जाति भेद स्थान कहलाता है। स्थान की अपेक्षा से जीव समास के ९८ भेद जीव-

---

१. (क) जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः।—धवला, १।१।१।८।
(ख) जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः। वही, १।१।१।२।

२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गा० २।

३. (क) षट्खंडागम, १।१।१।३३-३५।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ७४।

४. वही, ७४। बादरादि शब्दों का अर्थ तथा एकेन्द्रिय आदि जीवों का विवेचन इसी अध्याय में आगे करेंगे।

काण्ड में किये गये हैं। उपर्युक्त जीवों के ५७ भेदों में से पंचेन्द्रिय छह भेद (संज्ञी पर्याप्त, संज्ञी अपर्याप्त, संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त और इसी प्रकार असंज्ञी पर्याप्त आदि तीन) घटाने पर विकलेन्द्रिय जीव ५१ प्रकार के रहते हैं। इनमें कर्म भूमि तिर्यंच के तीस भेद और भोगभूमिज तिर्यञ्च के चार भेद मिलाने पर तिर्यग्गति सम्बन्धी जीव समास के ८५ भेद होते हैं।[1] पर्याप्त आर्य मनुष्य, निर्वृत्यपर्याप्त आर्य मनुष्य, लब्ध पर्याप्त आर्य मनुष्य, पर्याप्त मोक्ष मनुष्य, निर्वृत्यपर्याप्त म्लेच्छ मनुष्य, पर्याप्त भोगभूमिज मनुष्य, निर्वृत्यपर्याप्त भोगभूमिज मनुष्य, पर्याप्त कुभोगभूमिज मनुष्य और निर्वृत्यपर्याप्त कुभोगभूमिज मनुष्य—ये मनुष्यों के ९ भेद होते हैं। देवों के दो भेद हैं—पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त देव। नारकियों के दो भेद हैं—पर्याप्त नारकी और निर्वृत्यपर्याप्त नारकी। इस प्रकार (तिर्यग्गति के ८५ भेद, मनुष्य गति के ९ भेद, देवगति के २ भेद, नरकगति के २ भेद) जीव समास के ९८ भेद होते हैं।[2]

योनि अधिकार की अपेक्षा से जीव समास का वर्णन : जीवों के उत्पन्न होने के स्थान को पूज्यपाद आदि आचार्यों ने योनि कहा है।[3] योनि और जन्म में भेद करते हुए सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है कि योनि आधार है और जन्म आधेय है। क्योंकि सचित्त आदि योनि रूप आधार में सम्मूर्च्छन, गर्भज और उपपात जन्म के द्वारा आत्मा शरीर, आहार और इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकांड में योनि का दो प्रकार से विवेचन किया है। आकार अपेक्षा से योनि शंखावर्त, कूर्मोन्नत और

---

१. इगिवण्णं इगिविगले, असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं।
गब्भभवे सम्मुच्छे, दुतिगं भोगथलखेचरे दो दो ॥—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ७९। कर्मभूमिज और भोगभूमिज तिर्यञ्चों के विस्तृत भेद के लिए द्रष्टव्य—द्वितीय अध्याय।

२. वही, ८१

३. (क) योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयः।—सर्वार्थसिद्धि, २।३२।
(ख) यूयत इति योनिः।—तत्त्वार्थवार्तिक, २।३२।१०।
(अ) आधाराधेयभेदात्तद्भेदः।—वही, २।३२।
(आ)तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० १४२। जीवों का जन्म तीन प्रकार का है—गर्भज, सम्मूर्च्छनज व उपपादज। गर्भज जन्म तीन प्रकार का है—जरायुज, अंडज और पोतज। चारों ओर से परमाणु के मिश्रण से स्वयं उत्पन्न होना स्वतः उत्पन्न होना संमूर्च्छन है। इसमें तिर्यंच उत्पन्न होते हैं। देव और नारकियों का उत्पन्न होना उपपात जन्म कहलाता है।

वंशपत्र तीन प्रकार की होती है। शंखावर्त योनि में गर्भ नहीं रहता। कूर्मोन्नत (कछुआ की पीठ की तरह उठी हुई) योनि में तीर्थंकर, अर्धचक्रवर्ती, चक्रवर्ती, बलभद्र पुरुष उत्पन्न होते हैं और वंशपत्र योनि में साधारण जीव उत्पन्न होते हैं।[१] गुण की अपेक्षा योनि के नौ भेद हैं—सचित्त, शीत, संवृत (ढकी हुई) अचित्त, उष्ण, विवृत (खुली), सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत।[२] मूलाचार[३] में वट्टकेर ने बताया है कि एकेन्द्रिय, नारकी और देव के संवृत योनि होती है, दो इन्द्रिय से चतुरेन्द्रिय तक के जीवों के विवृत योनि होती है। गर्भजों के संवृत-विवृत मिश्र योनि होती है। देव नारकियों के अचित्त योनि और गर्भजों के सचित्ताचित्त रूप मिश्र योनि तथा शेष संमूर्छनों के सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीनों योनि होती हैं। देव नारकियों के शीत और उष्ण योनि, तेजकायिक जीव के उष्ण तथा शेष जीवों की तीनों प्रकार की योनि होती है।

विस्तार की अपेक्षा से योनि के भेद : वट्टकेर एवं नेमिचन्द्र आदि आचार्यों ने योनि के चौरासी लाख भेद किये हैं, नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथ्वी, जल, तेज, वायु की सात-सात लाख योनि, प्रत्येक वनस्पति की दस लाख, द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक प्रत्येक की दो-दो लाख, देव नारकी और पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक की प्रत्येक चार-चार लाख और मनुष्य की चौदह लाख योनि होती है।[४]

शरीर की अवगाहन की अपेक्षा से जीवसमास का निरूपण : शरीर के छोटे-बड़े भेद देहावगाहना हैं। पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि के दसवें अध्याय में कहा भी है 'प्राणी को जितना शरीर मिला है उतने में आत्म प्रदेशों को व्याप्त करके रहना जीव की अवगाहना कहलाती है। जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा से अवगाहना दो प्रकार की होती है।'[५] सर्वजघन्य अवगाहना उत्पत्ति के तीसरे समय में सूक्ष्म निगोदिया लब्ध पर्याप्तक जीव की अंगुली[६] के असंख्यातवें भाग प्रमाण

---

१. गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), ८२-८३।

२. तत्त्वार्थसूत्र, २।३२।

(ख) गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), ८४।

३. मूलाचार, १०९९-११०१।

४. (क) मूलाचार, गा० २२६।

(ख) गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), ९०।

५. सर्वार्थसिद्धि, १०।१।

६. एक हाथ में २४ अंगुल होते हैं।

की बतलाई गयी है ।[१] इस जीव की यह अवगाहना उत्पत्ति के तीसरे समय में ही इसलिए होती है कि तीसरे समय में सूक्ष्म निगोदिया लब्धक जीव गोलाकार होता है । शेष प्रथम और द्वितीय समय में यह जीव क्रमशः आयताकार और वर्गाकार होता है । इसलिए इन समयों में जघन्य अवगाहना नहीं होती है ।[२] उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्य की होती है । यह मत्स्य स्वयम्भूरमण समुद्र के मध्य में रहता है । इसका प्रमाण एक हजार योजन लम्बा, पांच सौ योजन चौड़ा और ढाई सौ योजन मोटा होता है । यह सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घन क्षेत्रफल की अपेक्षा से है ।[3]

इन्द्रियों की अपेक्षा से जघन्य अवगाहना : गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार द्वीन्द्रियों में जघन्य अवगाहना अनुंधरीजीव की घनांगुल के संख्यातवें भाग, त्रीन्द्रिय जीवों में कुंथु की जघन्य अवगाहना अनुंधरी से संख्यात गुणी, इससे संख्यात गुणी चतुरिन्द्रिय जीवों में काणमक्षिका की और इससे संख्यात गुणी पंचेन्द्रियों में सिक्थमत्स्य की जघन्य अवगाहना होती है ।[४]

इन्द्रियों की अपेक्षा से उत्कृष्ट अवगाहना : एकेन्द्रिय जीवों मे सबसे उत्कृष्ट कमल के शरीर की अवगाहना (लम्बाई की अपेक्षा) कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियों में शंख की बारह योजन, त्रीन्द्रिय जीवों में चींटी की तीन कोस, चतुरिन्द्रिय जीवों में भ्रमर की एक योजन और पंचेन्द्रिय जीवों मे महामत्स्य की एक हजार योजन उत्कृष्ट अवगाहना होती है ।[५]

कुलों की अपेक्षा जीवसमास का वर्णन : शरीर के भेद के कारणभूत नो कर्म वर्गणा के भेद को कुल कहते है ।[६] विभिन्न जीवों के कुलों की संख्या मूलाचार,[७] गोम्मटसार जीवकांड[८] आदि में निम्नांकित प्रतिपादित की गयी है[९]—

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ९५ ।
२. (क) गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), जीवतत्त्वप्रदीपिका, ९५ ।
   (ख) धवला, ११।४।२।२० ।
३. गोम्मटसार, (जीवकाण्ड), हिन्दी टीका, ९५-९६ ।
४. वही, ९६ संस्कृत एवं हिन्दी टीका ।
५, गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ९७ ।
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) हिन्दी भावार्थ, ११४ ।
७. मूलाचार, २२१-२२५ ।
८. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ११५-११७ ।
९. तत्त्वार्थसार, २।११२-११६ ।

पृथिवीकायिक जीवों के	२२ लाख करोड़ कुल
जलकायिक जीवों के	७ लाख करोड़ कुल
वायुकायिक जीवों के	७ लाख करोड़ कुल
तेजकायिक जीवों के	३ लाख करोड़ कुल
वनस्पति जीवों के	२८ लाख करोड़ कुल
द्वीन्द्रिय जीवों के	७ लाख करोड़ कुल
त्रीन्द्रिय जीवों के	८ लाख करोड़ कुल
चतुरिन्द्रिय जीवों के	९ लाख करोड़ कुल
पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर के	१२½ लाख करोड़ कुल
,, खेचर के	१२ लाख करोड़ कुल
पंचेन्द्रिय जीवों में भूचर के	१० लाख करोड़ कुल
पंचेन्द्रिय जीवों में भूचर (सर्पादि) के	९ लाख करोड़ कुल
पंचेन्द्रिय जीवों में नारकियों के	२५ लाख करोड़ कुल
मनुष्यों के	१२ लाख करोड़ कुल
देवों के	२९ लाख करोड़ कुल

समस्त जीवों के कुलों की संख्या एक कोड़ाकोड़ी सतानवे लाख तथा पचास हजार कोटि है लेकिन मूलाचार में वट्टकेर ने मनुष्यों के कुल चौदह लाख कोटि कहे हैं। अतः इस मत से कुलों की संख्या १९९½ लाख करोड़ है।[1]

इस तरह जैन शास्त्रों में जीवसमास का जो विवेचन उपलब्ध होता है उससे जीव विज्ञान पर पर्याप्त शोध सामग्री प्राप्त हो जाती है। जहाँ तक हमारा अध्ययन है इस तरह जीवों के स्थानों का विवेचन अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः जैन दर्शन की जीवसमास विषयक एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है।

पर्याप्ति-प्ररूपणा : आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन की निष्पत्ति या पूर्णता को आगम में पर्याप्ति कहते हैं।[2] पर्याप्ति का प्रमुख

---

१. छब्बीसं पणवीसं चउदसकुलकोडिसदसहस्साइं।
सुरणेरइयणराणं जहाकम्मं होइ णायव्वं ।। मूलाचार, २२४।

२. (क) आहार शरीर....निष्पत्तिः पर्याप्तिः।—धवला, १।१।१।७०।

(ख) आहार-सरीरींदियणिस्सासुस्सास भास मणसाणं।
परिणइ वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ ।।
तस्सेव कारणाणं पुग्गलखंधाण जाहु णिप्पत्ती।
सा पज्जत्ती भण्णदि—।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १३४-१३५।

कारण पर्याप्ति नाम-कर्म का उदय होना है।[1] मृत्यु के पश्चात् संसारी जीव दूसरा जन्म लेने के लिए योनि स्थान में प्रवेश करते ही अपने शरीर के योग्य कुछ पुद्गल वर्गणा को ग्रहण करता है इसी को आहार कहते हैं। इस आहार वर्गणा को खल, रसभाग आदि में परिणत करने की जीव की शक्ति का पूर्ण हो जाना पर्याप्ति है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छहों पर्याप्तियों का आरम्भ युगपत् होता है लेकिन उनकी पूर्णता क्रम से होती है।[2] आचार्य नेमिचन्द्र, वीरसेन आदि ने बताया है कि एकेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा पाँच तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के छहों प्रकार की पर्याप्तियाँ होती हैं।[3]

पर्याप्ति प्ररूपणा के अनुसार जीव के भेद : पर्याप्ति प्ररूपणा के अनुसार जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा दो प्रकार के कहे गये है। यद्यपि जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक, पर्याप्ति और अपर्याप्ति नामकर्म के उदय से होता है लेकिन प्रस्तुत में शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने (इन्द्रियादि अपूर्ण रहने पर भी) से जीव पर्याप्तक कहलाता है। अपर्याप्तक जीव दो प्रकार के होते हैं निर्वृत्ति और लब्ध अपर्याप्तक। जब तक शरीर पर्याप्ति की पूर्णता नहीं होती है तब तक वह निर्वृत्ति अपर्याप्त कहलाता है।[4] कुछ अपर्याप्त जीव शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये अन्तर्मुहूर्त काल में मर जाते हैं, एक अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ बार या एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करने वाले आगम में लब्ध अपर्याप्तक जीव कहलाते हैं।[5] यह लब्ध्यपर्याप्तक जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में होते हैं। निर्वृत्य-पर्याप्तक जीव सासादन, असंयत और प्रमत्त गुणस्थान में होते हैं और पर्याप्तक सभी गुणस्थानों में होते हैं।[6]

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ११८ का हिन्दी भावार्थ।

२. वही, १२०।

३. (क) षट्खंडागम, १।१।१।७१-७५। (ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ११९।

४. जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव ॥—वही, १२१।
शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते।—धवला, १।१।१।७६, १५।

५. उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि।
अंतोमुहुत्तमरणं लद्धि अपज्जत्तगो सो दु ॥—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १२३।

६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १२७।

१. आहार पर्याप्ति : मृत्यु के बाद नवीन शरीर के योग्य नोकर्मवर्गणा को ग्रहण करना आहार कहलाता है। अतः शरीर नामकर्म के उदय से आहार को खल, रसभाग रूप परिणमन करने की जीव की शक्ति का पूर्ण होना आहार पर्याप्ति कहलाती है।[1]

२. शरीर पर्याप्ति : जीव की वह शक्तिविशेष जिसके पूर्ण होने पर आहार पर्याप्ति के द्वारा परिणत खलभाग हड्डी आदि कठोर अवयवों में और रस भाग खून, वसा, और वीर्य आदि तरल अवयवों में परिणत हो जाता है शरीर पर्याप्ति कहलाती है।[2] शरीर पर्याप्ति के कारण ही औदारिकादि शरीरों की शक्ति से युक्त पुद्गल स्कन्धों की प्राप्ति होती है।

३. इन्द्रिय पर्याप्ति : इन्द्रियों की पूर्णता इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है। कहा भी है : "दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों को ग्रहण करने वाली शक्ति की उत्पत्ति के कारण-भूत पुद्गल प्रचय की प्राप्ति इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है।[3]"

४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति : आहार वर्गणा से ग्रहण किये गये पुद्गल स्कन्धों को उच्छ्वास-निःश्वास रूप से परिणत करने वाली शक्ति की पूर्णता श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहलाती है।[4]

५. भाषा पर्याप्ति : जिस शक्ति के पूर्ण होने से वचन रूप पुद्गल स्कन्ध वचनों में परिणमित होते हैं वह भाषा पर्याप्ति कहलाती है। कहा भी है : "स्वर नामकर्म के उदय से भाषा-वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्धों को सत्य, असत्य आदि भाषा रूपों में परिणत करने की शक्ति की निष्पत्ति (पूर्णता) भाषा पर्याप्ति कहलाती है।[5]

६. मनः पर्याप्ति : जिस शक्ति के पूर्ण होने से द्रव्यमन योग्य पुद्गल स्कन्ध द्रव्यमन के रूप में परिणत हो जाते हैं उसे मनः पर्याप्ति कहते हैं।[6]

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवतत्त्वप्रदीपिका, ११९; धवला, १।१।१।३४।
२. वही।
३. वही।
४. वही।
५. धवला, १।१।१।३४।
६. वही।

प्राण प्ररूपणा : जीव में जीवितपने का व्यवहार कराने वाला प्राण है। यह दो प्रकार का है, निश्चय (भाव) प्राण और व्यवहार (द्रव्य) प्राण।[१]

आगम में जीव की चेतनत्व शक्ति निश्चय प्राण[२] और पुद्गल द्रव्य से निर्मित स्पर्शनादि पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास तथा आयु व्यवहार प्राण कहलाते हैं।[३] पुद्गलात्मक प्राण जीव के स्वभाव नहीं हैं। प्राण प्ररूपणा में निश्चय प्राण ही अभिप्रेत हैं। स्थावर जीवों के स्पर्शनेन्द्रिय, काय, बल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रिय जीवों के स्पर्शन इन्द्रिय आदि चार प्राणों सहित रसनाप्राण और वचनप्राण भी होते हैं। तीन इन्द्रिय वाले जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण इन्द्रिय, प्राण, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये सात प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय के इन सात प्राणों में चक्षु प्राण के मिलाने पर आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के उपर्युक्त आठ तथा श्रोत्र प्राण मिलाकर नौ तथा मनोबल और उपर्युक्त नौ प्राण मिलाकर संज्ञी के दस प्राण होते हैं।[४] सयोग केवली के वचन, श्वासोच्छ्वास, आयु और काय ये चार प्राण होते हैं[५] और अयोगी के एक आयु प्राण होता है।[६] सिद्धों के दस प्राणों में से एक भी प्राण नहीं होता है, इसलिए वे प्राणातीत कहलाते हैं।

पर्याप्ति और प्राण में भेद : षट्खंडागम की टीका धवला में वीरसेन ने पर्याप्ति और प्राण में भेद करते हुए कहा है कि पर्याप्ति के कारण आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा और मन रूप शक्तियों की पूर्णता होती है और प्राणों के कारण आत्मा में जीवितपने का व्यवहार होता है। दूसरा अन्तर यह है कि पर्याप्ति कारण है और प्राण कार्य है।[७]

प्राण प्ररूपणा का विवेचन करके आचार्यों ने शुद्ध चैतन्यादि प्राणों से युक्त शुद्ध आत्मा की उपादेयता प्रतिपादित की है।

---

१. प्राणिति जीवति एभिरिति प्राणाः।—धवला, २।१।१।
जीवन्ति-प्राणति जीवितव्यवहारयोग्या भवन्ति जीवा यैस्ते प्राणाः।
—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवतत्त्वप्रदीपिका, २।

२. तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणाः।—पंचास्तिकाय, तत्त्वदीपिका, ३०।

३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १३०।

४. सर्वार्थसिद्धि, २।१४। गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १३२-३३। पंचसंग्रह, १५०।

५. धवला, २।१।१।

६. वही, पृ० ४४५।

७. धवला, १।१।१।३४।

संज्ञा-प्ररूपणा : संज्ञा प्ररूपणा के अन्तर्गत चार संज्ञाओं का विवेचन प्राप्त होता है जिनसे प्रत्येक संसारी पीड़ित है और जो सभी के अनुभवगम्य हैं।[1] वे चार संज्ञाएं आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह हैं।[2] संज्ञा के उत्पन्न होने का प्रमुख कारण स्व-स्व कर्म की उदीरणा होना है। गोम्मटसार (जीवकाण्ड)[3] में इनका स्वरूप विवेचन निम्नांकित है—

१. आहार संज्ञा : आहार संज्ञा असातावेदनीय कर्म की उदीरणा होने पर उत्पन्न होती है। इसको उत्तेजित करने वाले कारण—आहार को देखना, उसके उपयोग (पूर्व अनुभूत आहार का स्मरण करने) में मति रखना, पेट का खाली होना है। ये गौण कारण हैं।

२. भय संज्ञा : भय कर्म की उदीरणा होना भय संज्ञा का मूल कारण है। भयंकर पदार्थ देखना, अनुभूत भयंकर पदार्थ का स्मरण करना, हीन शक्ति का होना ये भय संज्ञा को उत्तेजित करने वाले कारण हैं।

३. मैथुन संज्ञा : वेद कर्म की उदीरणा होना मैथुन संज्ञा का कारण है। इसके अतिरिक्त तीन कारणों से मैथुन संज्ञा उत्तेजित होती है—स्वादिष्ट और गरिष्ठ युक्त भोजन करना, भोगे गये विषयों का स्मरण करना एवं कुशील का सेवन करना।

४. परिग्रह संज्ञा : लोभ कर्म की उदीरणा इसका प्रमुख कारण है। भोगोपभोग के कारणभूत उपकरणों को देखना, पहले अनुभूत पदार्थों को स्मरण करना तथा उनमें मूर्च्छाभाव रखना—ये तीन परिग्रह संज्ञा को उत्तेजित करने वाले गौण कारण हैं।

गुणस्थानों की अपेक्षा संज्ञा प्ररूपणा का विवेचन :

किस गुण-स्थान में कितनी और कौन-कौन संज्ञाएँ होती हैं, इसका आगम में सूक्ष्म विवेचन किया गया है। प्रथम गुण-स्थान (मिथ्यात्व) से प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थान तक जीवों के आहारादि चारों संज्ञाएं होती हैं। अप्रमत्त-विरत और अपूर्वकरण गुणस्थान में आहार संज्ञा के अलावा शेष तीन संज्ञाएँ

---

१. (क) इह जाहि बाहिया वि य, जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य उभये, ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० १३४।
(ख) आहारादि विषयाभिलाषः संज्ञेति।—सर्वार्थसिद्धि, २।२४।

२. धवला, २।१।१।

३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १३५-१३८।

होती हैं। अनिवृत्तकरण नामक गुणस्थान में मैथुन और परिग्रह संज्ञा होती है। दसवें सूक्ष्मसंपराय नामक गुणस्थानवर्ती जीवों में परिग्रह संज्ञा ही होती है, शेष नहीं। इसके ऊपर वाले उपशान्त आदि गुणस्थानों में कोई संज्ञा नहीं होती है।[१]

आहारादि चारों संज्ञाओं का स्वरूप जानकर उनके प्रति तृष्णा को घटाना ही संसारी जीवों के लिए श्रेयस्कर है।

मार्गणा : जीवों के सम्बन्ध में जैन शास्त्रकारों ने मार्गणाओं का भी प्रतिपादन किया है। जीव विवेचन में मार्गणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः यहाँ इनका विवेचन करना लाभप्रद होगा।

स्वरूप : षट्खंडागम तथा उसकी टीका धवला के अनुसार मार्गणा, गवेषणा, अन्वेषण, ईहा, ऊह, अपोह और मीमांसा पर्यायवाची शब्द हैं।[२] चौदह जीव समास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं।[३]

मार्गणा के चौदह भेद : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मार्गणा के चौदह भेद निम्नांकित बतलाये हैं— (१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) ज्ञान, (८) संयम, (९) दर्शन, (१०) लेश्या, (११) भव्य, (१२) सम्यक्त्व, (१३) संज्ञी और (१४) आहार।[४]

गति मार्गणा : गति नामकर्म नामक एक नामकर्म का भेद है। उसके कारण भवान्तर में आत्मा के जाने को पूज्यपाद ने गति कहा है।[५] षट्खण्डागम में आचार्य पुष्पदन्त और भूतबली ने गतिमार्गणा के नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और सिद्ध गति भेद किये हैं।[६] इनका विवेचन आगे किया जाएगा। सिद्धगति में नामकर्म का अभाव होता है, इसलिए उसे अगति कहते हैं। सिद्ध गति असंक्रांति रूप है।[७]

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवतत्त्वप्रदीपिका, ७०२।
२. (क) षट्खण्डागम, १३।५।५।३८। (ख) धवला, १।१।१।२।
३. (क) यकाभिः यासु वः जीवाः मृग्येत सा मार्गणाः—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्त्वप्रदीपिका, २।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १४१।
४. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) १४२।
५. यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः—सर्वार्थसिद्धि, ८।११।
६. षट्खण्डागम, १।१।१, २४।
७. गदिकम्मोदयाभावा सिद्धगदी अगदी। अथवा....असंक्रान्तिः सिद्धगतिः।.... धवला, ७।२।१, २।

इन्द्रिय मार्गणा : इन्द्र की तरह अपने-अपने विषयों में स्पर्शनादि इन्द्रियाँ स्वतन्त्र हैं।[1] इनकी अपेक्षा जीवों का विवेचन आगे करेंगे।

काय मार्गणा : काय का अर्थ शरीर है।[2] किन्तु यहाँ पर काय से तात्पर्य शरीर में वर्तमान आत्मा की पर्याय से है। अतः त्रस-स्थावर रूप जीव की पर्याय को काय कहते हैं। 'काय' का कारण जाति नामकर्म और त्रस-स्थावर नामकर्म का उदय है।[3]

काय मार्गणा के भेद : षट्खंडागम में काय मार्गणा के सात भेद बतलाये गये हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस और अकाय।[4] पृथ्वी आदि जीवों का विवेचन आगे करेंगे।

अकाय मार्गणा : गोम्मटसार जीवकाण्ड में अकाय मार्गणा का स्वरूप बतलाते हुए नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि में डालने से सोने की किट्टकालिमा नष्ट हो जाती है और सोने का शुद्ध स्वरूप चमकने लगता है, उसी प्रकार ध्यान के योग से शुद्ध और कायबन्धन से रहित (मुक्त) जीव अकायिक कहलाता है।[5] इनका कोई गुणस्थान नहीं होता है।

काय मार्गणा में गुणस्थान : पृथ्वी काय मार्गणा से वनस्पतिकाय मार्गणा के जीव मिथ्या दृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में और त्रस मार्गणा के जीव चौदह गुणस्थानों में होते हैं।[6]

योग मार्गणा : जिसके कारण कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, उसे योग कहते हैं।[7] यह योग का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है। पूज्यपादाचार्य ने मन, वचन और काय के कारण होने वाले आत्मप्रदेशों के हलन-चलन को योग कहा है।[8] उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में मन, वचन और काय की अपेक्षा योग तीन प्रकार का बताया गया है।[9] आचार्य नेमिचन्द्र ने जीवकाण्ड

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १६४।
२. कायः शरीरम्।—सर्वार्थसिद्धि, २।१३।
३. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १८१, जीवतत्त्वप्रदीपिका।
४. षट्खण्डागम, १।१।१। ३९-४२।
५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), २०३।
६. षट्खण्डागम १।१।१। ४३-४६।
७. योजनं योगः सम्बन्ध इति यावत्।—तत्त्वार्थवार्तिक ७।१३।४।
८. योग वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः।—सर्वार्थसिद्धि. २।२६।
९. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१।

में योग के पन्द्रह भेद बतलाये हैं :— १. सत्य मनोयोग, २. असत्य मनोयोग, ३. उभय मनोयोग, ४. अनुभय मनोयोग,[1] ५. सत्य वचन योग, ६. असत्य वचन योग, ७. उभय वचन योग, ८. अनुभय वचन योग,[2] ९. औदारिक काय योग, १०. औदारिक मिश्र काय योग,[3] ११. वैक्रियिक काय योग, १२. वैक्रियिक मिश्र काय योग,[4] १३. आहारक काय योग,[5] १४. आहारक मिश्र काय योग, १५. कार्मण काय योग। अष्ट कर्म समूह को कार्मण काय कहते हैं और इससे होने वाला योग कार्मण योग कहलाता है। यह योग एक, दो या तीन समय तक होता है। शुभ-अशुभ योग से रहित जीव अयोगी जिन कहलाते हैं।[6]

वेद मार्गणा : आत्मा में पाये जाने वाले स्त्रीत्व, पुरुषत्व और नपुंसकत्व भाव वेद कहलाते हैं। वेद का कारण वेदकर्म और आंगोपांग नामकर्म का उदय होना है।[7] वेद दो प्रकार का होता है—द्रव्य वेद और भाव वेद।[8] शरीर में आंगोपांग नामकर्म के उदय से योनि, मेहन (पुरुष लिङ्ग) आदि की रचनाविशेष द्रव्य वेद

---

१. सब्भावमणो सच्चो, जो जोगो तेण सच्चमणजोगो।
तव्विवरीओ मोसो, जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥
ण य सच्चमोसजुत्तो, जो दु मणो सो असच्चमोसमणो।
जो जोगो तेण हवे, असच्चमोसो दु मणजोगो ॥
—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), २१८-१९।

२. दसविहसच्चे वयणे, जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो।
तव्विवरीओ मोसो, जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥
जो णेव सच्चमोसो, सो जाण असच्चमोसवचिजोगो।
अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणी आदी ॥
—वही, २२०-२१

३. ओरालिय उत्तत्थं विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्स जोगो सो ॥
—वही, २३१।

४. वैक्रियिक शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तब तक वह वैक्रियिक मिश्र है और इसके द्वारा होने वाला योग वैक्रियिक मिश्र काययोग है।

५. वही, २३५-४०।

६. वही, २४३।

७. वही, २७१-२७२।

८. सर्वार्थसिद्धि, २।५२।

और नोकषाय के उदय से होने वाला आत्मपरिणाम भाववेद है।[1] वेद मार्गणा की अपेक्षा जीव स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी और अपगतवेदी होते हैं। जो स्त्री आदि तीन प्रकार के वेद रूप परिणाम से रहित आत्म-जन्य सुख के भोक्ता हैं, उन्हें परमागम में अपगतवेदी कहा गया है।[2]

कषाय मार्गणा : आत्मा के भीतरी कलुषित परिणाम कषाय हैं। क्योंकि ये परिणाम सम्यक्त्वादि चारित्र का घात करके आत्मा को कुगति में ले जाते हैं।[3] अकलंकदेव ने भी आत्मा के स्वभाव की हिंसा करने वाले क्रोधादि कलुषता को कषाय कहा है।[4] पूज्यपाद ने कषाय की उपमा गोंद से दी है। क्योंकि क्रोधादि रूप कषाय के कारण कर्म आत्मा से चिपकते हैं।[5] कर्मजन्य होने के कारण कषाय आत्मा का गुण नहीं है।[6] क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय बहुधा प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त आगम में अनेक प्रकार की कषायों का निर्देश मिलता है। दूसरी दृष्टि से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी एवं संज्वलन कषायों का भी निर्देश विषयों के प्रति आसक्ति की अपेक्षा से किया गया है। पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में बताया है कि इनमें से पहली कषाय सम्यक्त्व और चारित्र का घात करती है, दूसरी देश चारित्र का, तीसरी सकल चारित्र का, चौथी यथाख्यात चारित्र का घात करती है।[7] जैन आचार्यों ने इन चारों के क्रोधादि चार-चार भेद करके कषायों की संख्या सोलह की है। इनके अतिरिक्त हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद को उमास्वामी, पूज्यपाद आदि ने नोकषाय कहा है। क्योंकि नोकषाय कषाय के समान व्यक्त नहीं होती है और न आत्मा के स्वभाव का घात करती है।[8]

कषाय मार्गणा की अपेक्षा जीवों के भेद : इस मार्गणा की अपेक्षा जीव पाँच प्रकार के होते हैं—क्रोध कषायी, मान कषायी, माया कषायी, लोभ

१. तत्त्वार्थवार्तिक, २।६।३, पृ० १०९।
२. धवला, १।१।१।१०१।
३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), २८२।
४. तत्त्वार्थवार्तिक, २।२, ६।४२, ९।७–११।
५. यथा—क्रोधादिर्ह्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते। —सर्वार्थसिद्धि, ६।४।
६. ण कसाओ जीवस्स लक्खणं कम्मजणिदस्स। धवला, ५।१।७।४४।
७. सर्वार्थसिद्धि, ८।९।
८. वही, ८।९, तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ५७४।

कषायी और कषाय रहित जीव ।[1] किसी को बाधा देने, बंध करने और असंयम के आचरण में निमित्तभूत क्रोधादि कषायों का जिनमें अभाव है और बाह्य और आभ्यन्तर मल जिनमें नहीं हैं, उन जीवों को आचार्य नेमिचन्द्र ने अकषाय आत्मा कहा है ।[2]

ज्ञान मार्गणा : ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। यह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है 'जो जानता है वह ज्ञान है अथवा जिसके द्वारा जाना जाए वह ज्ञान है अथवा जानना मात्र ज्ञान है' ।[3] उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान के पाँच भेद किये हैं : मति ज्ञान, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान ।[4]

(१) मतिज्ञान

मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है ।[5] अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार मुख्य भेद हैं ।[6]

अवग्रह : षट्खण्डागम एवं नन्दिसूत्र में अवग्रह को अवधान, सान, आलम्बना और मेधा भी कहा गया है ।[7] विषय और विषयी का सम्बन्ध होने के बाद पदार्थ का सामान्य ज्ञान होना अवग्रह है ।[8] अवग्रह से केवल यही ज्ञात होता है कि 'यह कुछ है' ।[9] अवग्रह दो प्रकार का होता है--व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह ।[10] सर्वार्थसिद्धि में बताया गया है कि अव्यक्त ग्रहण का नाम व्यंजनावग्रह है और व्यक्त ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है ।[11] इस अन्तर को पूज्यपाद ने एक रूपक द्वारा समझाया है। जिस प्रकार मिट्टी के नये सकोरे पर पानी की दो-तीन बूदें

---

१. षट्खण्डागम, १।१।१।१११ ।
२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), २८९ ।
३. सर्वार्थसिद्धि, १।१ ।
४. तत्त्वार्थसूत्र, १।९ ।
५. तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निमित्तम् । वही, १।१४ ।
६. वही, १।१५ ।
७. (क) षट्खण्डागम, १३।५।५।३७ ।
   (ख) नन्दिसूत्र, ५१ ।
८. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ३०८ ।
९. सर्वार्थसिद्धि, १।१५ ।
१०. धवला, १।१।१।११५ ।
११. सर्वार्थसिद्धि, १।१८ ।

डालने पर वह गीला नहीं होता है, किन्तु बार-बार सींचने पर अन्त में अवश्य ही गीला हो जाता है। इसी प्रकार स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों के विषय का स्पर्श होकर भी वह दो तीन समयों तक व्यक्त नहीं होता है, लेकिन पुनः-पुनः विषय का स्पर्श होते रहने से विषय का ज्ञान व्यक्त हो जाता है।[१] अतः अर्थावग्रह के पहले होने वाला अव्यक्तज्ञान व्यंजनावग्रह और व्यंजनावग्रह के बाद होने वाला व्यक्तज्ञान अर्थावग्रह है। व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह में दूसरा अन्तर यह है कि व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों से होता है[२] और अर्थावग्रह पांचों इन्द्रियों और मन से होता है। गोम्मटसार, जीवकाण्ड और उसकी टीकाओं तथा धवला आदि में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।[३]

ईहा : ईहा को ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा एवं मीमांसा भी कहते हैं।[४] अवग्रह द्वारा जाने गये पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा को पूज्यपाद आदि आचार्यों ने ईहा कहा है।[५] उदाहरणार्थ अवग्रह से ज्ञान हुआ 'यह पुरुष है', इसके बाद यह उत्तरी है या दक्षिणी, इस प्रकार की शंका होने पर उसकी वेश-भूषा तथा भाषा के द्वारा यह दक्षिणी होना चाहिए, ऐसा चिन्तन ईहा ज्ञान कहलाता है। ईहा ज्ञान संशय नहीं है क्योंकि संशय की तरह ईहा उभय कोटि स्पर्शी नहीं है। ईहा का एक कोटि की ओर झुकाव होता है। भट्टाकलंक देव ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।[६]

अवाय : यह मतिज्ञान का तीसरा भेद है। षट्खण्डागम में अवाय को व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, अमुण्डा, प्रत्यामुण्डा भी कहा है।[७] नन्दिसूत्र में अवाय को आवर्तनता, प्रत्यावर्तनता और विज्ञान कहा गया है।[८] तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वामी ने अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध और अपनुत

१. सर्वार्थसिद्धि, १।१८।
२. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ३०६, ३०७।
(ख) धवला, ९।४।१।४५।
३. न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्, तत्त्वार्थसूत्र, १।१९।
४. (क) षट्खण्डागम, १३।५।५।३८।
(ख) नन्दिसूत्र, सूत्र ५२। (ग) तर्कभाषा, १।१५।
५. (क) सर्वार्थसिद्धि, १।१५,। (ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ३०८।
६. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१५,। धवला, १३।५।५।२३-२४।
७. षट्खण्डागम, १३।५।५।३९।
८. नन्दिसूत्र, ५३।

अवाय के पर्यायवाची नाम बतलाये हैं ।[1] ईहा द्वारा गृहीत अर्थ का भाषादि के द्वारा निर्णय करना अवाय ज्ञान कहलाता है । जैसे 'यह पुरुष दक्षिणी ही होना चाहिए' ऐसा ईहा ज्ञान होने पर 'यह दक्षिणी है' यह निश्चयात्मक ज्ञान अवाय है ।[2]

धारणा : षट्खण्डागम में धारणा के लिए धरणी, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा शब्दों का प्रयोग हुआ है ।[3] नन्दिसूत्र[4] में उपर्युक्त शब्दों के अलावा धारणा शब्द का भी प्रयोग हुआ है । उमास्वामी ने धारणा को प्रतिपत्ति, अवधारणा, अवस्थान, निश्चय, अवगम, अवबोध कहा है ।[5] पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में धारणा का स्वरूप बताया है कि अवाय द्वारा जानी गयी वस्तु को कालान्तर में कभी नहीं भूलना धारणा है ।[6] धारणा कारण और स्मृति कार्य है । तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में मतिज्ञान के ३३६ भेदों का विवेचन उपलब्ध होता है ।[7]

(२) श्रुतज्ञान

मतिज्ञान के बाद होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है ।[8] श्रुतज्ञान के लिए श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होना आवश्यक है । अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये श्रुतज्ञान के दो भेद हैं । इनके भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में उपलब्ध है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी द्रव्यों और उनकी कुछ पर्यायों को जानता है ।[9]

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर : मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही परोक्ष ज्ञान एवं सहभावी हैं । इन दोनों का विषय भी समान है । जहाँ मतिज्ञान है वहाँ श्रुतज्ञान है और जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ मतिज्ञान है ।[10] भट्टाकलंक देव ने उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दोनों नारद (चोटी) और पर्वत की तरह

---

१. तर्कभाषा, १।१५ ।
२. (क) सर्वार्थसिद्धि, १।१५, तत्त्वार्थवार्तिक, १।१५।१३ ।
३. षट्खण्डागम, १३।५।५।४० ।
४. नन्दिसूत्र, ५४ ।
५. तर्कभाषा, १।१५ ।
६. सर्वार्थसिद्धि, १।१५ ।
७. वही, १।१६ ।
८. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।—तत्त्वार्थसूत्र, १।२० ।
९. वही, १।२६ ।
१०. तत्त्वार्थवार्तिक, १।९।१६ ।

सदैव एक दूसरे के साथ रहते हैं, अतः एक के ग्रहण करने से दूसरे का भी ग्रहण हो जाता है।[1] इस प्रकार इन दोनों ज्ञानों में समानताएँ होते हुए भी दोनों में पर्याप्त अन्तर भी है।

पूज्यपादाचार्य ने दोनों ज्ञानों में भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान का निमित्त कारण है। मतिज्ञान होने पर भी श्रुतज्ञान का होना निश्चित नहीं होता है।[2] दूसरी बात यह है कि मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है।[3] किन्तु मतिज्ञान श्रुतपूर्वक नहीं होता है। तीसरा अन्तर यह है कि मतिज्ञान वर्तमान कालवर्ती पदार्थों को जानता है और श्रुतज्ञान त्रिकालवर्ती पदार्थों को ग्रहण करता है।[4] चौथी विशेषता यह है कि मतिज्ञान के विषय की अपेक्षा श्रुतज्ञान का विषय महान् है।[5] मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में पाँचवाँ अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान की अपेक्षा विशुद्ध होता है।[6] छठवीं विशेषता यह है कि इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तक मतिज्ञान आत्मा की ज्ञ-स्वभावता के कारण पारिणामिक है किन्तु श्रुतज्ञान पारिणामिक नहीं है क्योंकि श्रुतज्ञान आप्त के उपदेश से मतिपूर्वक होता है।[7]

(३) अवधिज्ञान :

अवधि का अर्थ है—सीमा। अतः जो ज्ञान अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर केवल पुद्गल द्रव्य को जानता है, वह अवधिज्ञान कहलाता है।[8] यह ज्ञान पुद्गल की कुछ पर्यायों को जानता है।[9] अवधिज्ञान दो प्रकार का है : भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। प्रत्यय का अर्थ है—कारण। भव का अर्थ जन्म है। जिस अवधिज्ञान का कारण जन्म है, वह भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान देव और नारकियों के ही होता है।[10] जिस अवधिज्ञान के होने में

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १।३०।४।
२. सर्वार्थसिद्धि, १।२०।
३. तत्त्वार्थवार्तिक, १।९।२१-२६।
४. तत्त्वानुशासन भाष्य, १।२०।
५. वही।
६. वही।
७. वही।
८. तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वामी, १।२७।
९. सर्वार्थसिद्धि, १।२७ की टीका।
१०. भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्।—तत्त्वार्थसूत्र १।२१।

सम्यक्त्वादि गुण निमित्त कारण होते हैं, वह गुण प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्चों को ही होता है।[1] गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित स्वामी के गुण की दृष्टि से किये गये हैं।[2] आचार्य पुष्पदन्त, भूतवली तथा अकलंकदेव ने क्षेत्र की अपेक्षा तीन भेद किये हैं :—देशावधि, परमावधि और सर्वावधि[3]।

१. देशावधि : यह मनुष्य और तिर्यञ्चों के होता है। यह ज्ञान प्रतिपाति होता है अर्थात् होकर नष्ट हो सकता है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये देशावधि के तीन भेद हैं। इसका जघन्य क्षेत्र उत्सेधांगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट क्षेत्र सम्पूर्ण लोक है।[4]

२. परमावधि : चरम शरीरी संयतों को ही यह ज्ञान होता है। इसका जघन्य क्षेत्र एक प्रदेश से अधिक लोक तथा उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण है। परमावधिज्ञान अप्रतिपाति होता है।

३. सर्वावधि : परमावधि की तरह सर्वावधि चरम शरीरी संयतों के होता है और अप्रतिपाति होता है। इसका क्षेत्र गोम्मटसारादि में उत्कृष्ट परमावधि के बाहर असंख्यात लोक क्षेत्र प्रमाण है। यह सबसे व्यापक अवधिज्ञान है।

(४) मनःपर्ययज्ञान :

मनःपर्ययज्ञान का अर्थ है—किसी के मन की बात बिना पूछे प्रत्यक्ष जानना। मनःपर्ययज्ञान का स्वरूप दो प्रकार से बतलाया गया है। कुछ आचार्यों ने परकीय मनोगत पदार्थ के जानने को मनःपर्ययज्ञान कहा है। पूज्यपाद, भट्टाकलंक देव आदि आचार्यों ने यही स्वरूप माना है। कहा भी है "दूसरे के मन में स्थित पदार्थ मन कहलाता है। उस मन के सम्बन्ध से मन की पर्यायें मनःपर्यय कहलाती हैं। मन के सम्बन्ध से उस पदार्थ को जानना मनःपर्ययज्ञान कहलाता है।[5]"

धवला में वीरसेनाचार्य ने पदार्थ के चिन्तनयुक्त मन या ज्ञान के जानने को

---

१. क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।—तत्त्वार्थसूत्र, १।२२।

२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ३७२।

३. (क) षट्खण्डागम १३।५।५।५६। गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ३७३। तत्त्वार्थवार्तिक, १।२२।४।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, १।२२।४ में अकलंकदेव ने विस्तृत विवेचन किया है, और भी द्रष्टव्य—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ३७४-४३७ तक।

५. सर्वार्थसिद्धि, १।९। तत्त्वार्थवार्तिक, १।९।४; गोम्मटसार (जीवकाण्ड); ४३८। धवला, ६।१।९।१४।

मनःपर्ययज्ञान कहा है। वे कहते हैं—"जो दूसरों के मनोगत मूर्तिक द्रव्यों को उसके मन के साथ प्रत्यक्ष जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान कहलाता है।[१] अथवा मनःपर्यय यह संज्ञा रूढ़िजन्य है। इसलिए चिन्तित व अचिन्तित दोनों प्रकार के अर्थ में विद्यमान ज्ञान को विषय करने वाली यह संज्ञा है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।[२]" मनःपर्ययज्ञान की यह परिभाषा पूज्यपादाचार्य की परिभाषा से भिन्न है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने कहा है कि मनःपर्ययज्ञान द्रव्यमन से, जिसका आकार शास्त्रों में अष्ट पंखुड़ी वाले कमल के समान बतलाया है, उत्पन्न होता है।[3] षट्खंडागम और गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है कि यह ज्ञान समस्त जीवों को नहीं होता बल्कि केवल मनुष्यों को होता है, देवादि शेष तीन गति वालों को नहीं होता है। समस्त मनुष्यों को न हो कर केवल कर्मभूमिज, गर्भज, पर्याप्तक, सम्यग्दृष्टि, संयत अर्थात् प्रमत्त गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त के वर्धमान चरित्र वाले तथा सात ऋद्धियों में से किसी ऋद्धि प्राप्त होने वाले किसी-किसी मनुष्य के होता है।[४] इस ज्ञान का विषय सर्वावधिज्ञान से सूक्ष्म है।[५] गोम्मटसार जीवकाण्ड में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मनः-पर्ययज्ञान के विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है।[६]

मनःपर्ययज्ञान के दो भेद : उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र[७] में मनःपर्ययज्ञान के दो भेद किये हैं—ऋजुमति और विपुलमति। सरल मन वचन और काय से विचारे गये पदार्थ को जानने वाला ज्ञान ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहा जाता है। विपुलमतिज्ञान सरल तथा कुटिल दोनों प्रकार से चिन्तित पदार्थ को जानता है।[८] उमास्वामी ने इन दोनों में विशुद्धि और अप्रतिपाति की अपेक्षा अन्तर किया है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति-ज्ञान होकर छूट जाता है लेकिन विपुलमति ज्ञान एक बार होने पर केवलज्ञान पर्यन्त रहता है।[९] अकलंक देव ने तत्त्वार्थवार्तिक में बताया है कि ऋजुमतिज्ञान

---

१. धवला, १।१।१।९४।
२. वही, १३।५।५।२१।
३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ४४२-४४।
४. (क) षट्खण्डागम, १।१।१।१२१, गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ४४५।
५. तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य।—तत्त्वार्थसूत्र, १।२८।
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ४५०-४५८।
७. तत्त्वार्थसूत्र, १।२३।
८. सर्वार्थसिद्धि, १।२३।
९. तत्त्वार्थसूत्र, १।२४।

सिर्फ वर्तमान में चिन्तित मनोगत पदार्थ को जानता है, किन्तु विपुलमतिज्ञान त्रिकालसम्बन्धी चिन्तित पदार्थ को जानता है।[१]

(५) केवलज्ञान

केवलज्ञान क्षायिकज्ञान है। इस की पुष्टि उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के दसवें अध्याय के पहले सूत्र से होती है।[२] धवला में केवलज्ञान को असहाय ज्ञान कहा गया है क्योंकि यह इन्द्रिय और प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है।[३] यह ज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। उमास्वामी ने केवलज्ञान का विषय समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायों को बताया है।[४] जैन परम्परा में केवलज्ञान का अर्थ सर्वज्ञता है। केवलज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान भी कहलाता है।

उपर्युक्त पाँच ज्ञानों में से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्या भी होते हैं[५], इन्हें क्रमशः कुमति, कुश्रुत और विभंग ज्ञान कहते हैं। षट्खण्डागम में ज्ञानमार्गणा की अपेक्षा आठ प्रकार के जीव बतलाये गये हैं[६]—१. मति-अज्ञानी २. श्रुतअज्ञानी, ३. विभंग-ज्ञानी, ४. आभिनिबोधिक-ज्ञानी, ५. श्रुतज्ञानी, ६. अवधिज्ञानी, ७. मनःपर्ययज्ञानी और ८. केवलज्ञानी। ज्ञान मार्गणा के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दार्शनिकों ने ज्ञानवाद का जितना सूक्ष्म, स्पष्ट और तार्किक विवेचन किया है, उतना अन्य किसी सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने नहीं किया है।

संयम मार्गणा : विधिपूर्वक अतिचार-रहित व्रतादि का पालन करना संयम है।[७] आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा भी है—'अहिंसादि पाँच महाव्रतों और ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग इन पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधाग्नि कषायों का निग्रह, मन, वचन और काययोग का त्याग और स्पर्शनादि इन्द्रियों को जीतना संयम है।'[८]

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १।२३।७।

२. मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।—तत्त्वार्थसूत्र, १०।१।

३. धवला, १३।५।५।२१।

४. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।—तत्त्वार्थसूत्र, १।२९।

५. मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च।—वही, १।३१।

६. षट्खण्डागम, १।१।१।११५।

७. सम्यक् प्रकारेण यमनं संयमः।—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), टीका, गाथा ४६५।

८. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ४६५।

संयम-मार्गणा की अपेक्षा आत्मा के भेद : आचार्य भूतबली एवं पुष्पदन्त ने संयम-मार्गणा की अपेक्षा से आत्मा के निम्नांकित भेद किये हैं[1]—

१. सामायिक शुद्धि संयत आत्मा : सम्पूर्ण सावद्य का त्याग करने वाला जीव ।

२. छेदोपस्थापना शुद्धि संयत आत्मा : व्रतों से च्युत होने पर पुनः आत्मा को व्रतों में स्थापित करने वाला जीव ।

३. परिहार शुद्धि संयत आत्मा : समस्त प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग करने से और समितियों एवं गुप्तियों के पालन करने से उत्पन्न विशुद्धि वाला जीव ।

४. सूक्ष्म सम्पराय शुद्धि संयत आत्मा : मात्र सूक्ष्म लोभ-कषाय से युक्त दसवें गुणस्थानवर्ती जीव ।

५. यथाख्यात शुद्धि संयत आत्मा : मोहनीय कर्म का पूर्ण रूप से उपशम या क्षय होने से ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव ।

६. संयतासंयत आत्मा : अहिंसादि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत—दिग्व्रत, देश-व्रत और अनर्थदण्डव्रत तथा चार शिक्षाव्रत—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य का पालन करने वाला जीव ।

७. असंयत आत्मा : संयम से रहित जीव असंयत कहलाता है ।[2] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) के अन्तर्गत संयम-मार्गणा में जीव-संख्या का विवेचन विवरण सहित किया गया है ।[3]

दर्शन मार्गणा : वस्तु के सामान्य विशेषात्मक स्वरूप का विकल्प किये विना होने वाले वस्तु-बोध (संवेदन) को गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में दर्शन कहा गया है ।[4] इसमें पदार्थों की स्व-पर सत्ता का आभास होता है । षट्खण्डागम में दर्शन-मार्गणा की अपेक्षा से आत्मा के चार भेद किये गये हैं[5]—चक्षुदर्शन-आत्मा, अचक्षु-दर्शन-आत्मा, अवधिदर्शन-आत्मा और केवलदर्शन-आत्मा । गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है कि जो चक्षु इन्द्रिय से वस्तु को सामान्य रूप से देखता है, उसे चक्षुदर्शनआत्मा कहते हैं । चक्षु इन्द्रिय के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों

---

१. षट्खण्डागम, १।१।१।१२३ ।

२. विस्तृत स्वरूप के लिए द्रष्टव्य गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ४७०-७९ ।

३. वही, ४८०-८१ ।

४. जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णये समये ॥—वही, ४८२।४८३ ।

५. षट्खण्डागम, १।१।१।१३१ ।

और मन से वस्तु को सामान्य रूप से देखने वाला अचक्षुदर्शनी-आत्मा है। इन्द्रियों की सहायता के बिना परमाणु से महान् स्कंध तक समस्त मूर्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष देखने वाला अवधिदर्शनी-आत्मा कहलाता है। समस्त लोक और अलोक का सामान्यतः अववोध करने वाला केवलदर्शनी-आत्मा कहलाता है।[1]

दर्शन मार्गणा में गुणस्थानों का स्वामित्व : षट्खण्डागम में कहा है कि चक्षुदर्शनी जीव चतुरिन्द्रिय से ले कर क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं। अचक्षुदर्शनी जीव एकेन्द्रिय प्रभृति क्षीण कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान पर्यन्त होते हैं। अवधिदर्शनी जीव असंयत सम्यग्दृष्टि से क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान पर्यन्त होते हैं। केवलदर्शनी जीव सयोगि केवली, अयोगि केवली और सिद्ध इन तीन स्थानों में होते हैं।[2] दर्शन-मार्गणा की जीव संख्या के प्रमाण का विवेचन गोम्मटसार (जीवकाण्ड) आदि में किया गया है।[3]

लेश्या मार्गणा : आत्मा और कर्म का सम्बन्ध जिसके कारण होता है, वह शुभ-अशुभ मानसिक परिणाम लेश्या कहलाता है।[4] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है कि जिसके द्वारा आत्मा अपने को पुण्य-पाप से लिप्त करता है, उसे लेश्या कहते हैं।[5] आचार्य पूज्यपाद ने लेश्या के दो भेद किये हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या।[6]

द्रव्यलेश्या : शरीर की प्रभा को परमागम में द्रव्यलेश्या कहा गया है। इसका कारण वर्ण नामकर्म का उदय होना है। इसके छह भेद होते हैं, जिनका निर्देश आगम में कृष्णादि छह रंगों द्वारा किया गया है।[7] कृष्णलेश्या भौंरे के रंग के समान, नीललेश्या नीलमणि के रंग के समान, कापोतलेश्या कबूतर के रंग के समान, पीतलेश्या सुवर्ण के समान, पद्मलेश्या कमल वर्ण के समान और शुक्ललेश्या कांस के फूल के समान श्वेत वर्ण वाली होती है। यह द्रव्यलेश्या आयुपर्यन्त तक एकसी रहती है।

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ४८४-८६।
२. षट्खण्डागम, १।१।१।१३२-३५।
३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ४८७-८८।
४. जीवकम्माणं संसिलेसयणयरी, मिच्छत्तासंजमकसायजोगा त्ति भणिदं होदि। धवला, ८।३।२७६।
५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ४८९।
६. सर्वार्थसिद्धि, २।६।
७. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ४९४–९५।

भावलेश्या : कषाय से अनुरंजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को पूज्यपाद आदि आचार्यों ने भावलेश्या कहा है।[1] केवल कषाय या योग मात्र लेश्या नहीं है, अपितु इन दोनों के जोड़ का नाम लेश्या है।[2] भावलेश्या के भी छह भेद आगम में कहे गये हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल। आदि की तीन लेश्याएँ अशुभ और अन्त की तीन लेश्याएँ शुभ होती हैं। भावलेश्या आत्मा के परिणामों के अनुसार बदलती रहती है।

लेश्या-मार्गणा की अपेक्षा आत्मा के भेद :

षट्खंडागम[3] में कहा है कि लेश्या-मार्गणा के अनुसार जीव कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या, पीत-लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या तथा अलेश्या वाले होते हैं। तिलोयपण्णत्ति और गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में इन लेश्याओं का विस्तृत स्वरूप बतलाया गया है।[4] कृष्ण-लेश्या वाले जीव क्रोधी, नास्तिक, दुष्ट, विषयों में लिप्त, मानी, मायावी, भीरु और आलसी होते हैं। नील लेश्या वाले जीव निद्रालु, ठग, परिग्रही, विवेक-बुद्धि विहीन, कायर, तृष्णा युक्त, चपल तथा अतिलोभी होते हैं। कापोत लेश्या वाले जीव मात्सर्य, पैशुन्य, शोक एवं भय से युक्त, आत्म-प्रशंसक तथा प्रशंसक को धन देने वाले होते हैं। पीत लेश्या वाले जीव दृढ़-निश्चयी, मित्र, दयालु, सत्यवादी, दानशील, विवेकवान, मृदु-स्वभावी तथा ज्ञानी होते हैं। पद्म लेश्या वाले जीव त्यागी, भद्र, क्षमा-भाव वाले, सात्त्विक, दानी एवं साधुजनों के गुणों के पुजारी होते हैं। शुक्ल लेश्या वाले जीव निर्वैरी, वीतरागी, निष्पक्षी, समदृष्टि, पाप कार्यों से उदासीन एवं श्रेयो-मार्ग में रुचि रखने वाले होते हैं। कृष्णादि छहों लेश्याओं से रहित, संसार से विनिर्गत, अनन्तसुखी, सिद्धपुरी को प्राप्त अयोगकेवली और सिद्धजीव अलेश्यी होते हैं।[5]

परमागम में लेश्या का विवेचन, निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व द्वारा किया गया है।[6]

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि, २।६। गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ५३६।

२. धवला, १।१।१।४। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्त्वप्रदीपिका, ७०४, पृ० ११४१।

३. षट्खंडागम, १।१।१।१३६।

४. (क) तिलोयपण्णत्ति, २।२९५–३०१। (ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ५०९–५१७। (ग) तत्त्वार्थवार्तिक, ४।२२।

५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ५५६।

६. वही, ४९१–९२।

भव्य मार्गणा : भव्य-मार्गणा के अनुसार आत्मा के दो भेद हैं—भव्य और अभव्य।[1] मुक्त होने की योग्यता रखने वाले जीव भव्य और ऐसी योग्यता से रहित जीव अभव्य कहलाते हैं।[2] इनके अतिरिक्त अतीत भव्य भी होते हैं। नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है कि जो न भव्य हैं और न अभव्य हैं और जो मुक्त हो गये हैं तथा जिन्होंने ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर लिया है, उन्हें अतीत भव्य कहते हैं।[3]

सम्यक्त्व मार्गणा : उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों का जैसा स्वरूप है, उनका उसी प्रकार से दुरभिनिवेश रहित श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहा है।[4] कुन्दकुन्दाचार्य ने भूतार्थ नय से ज्ञात जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष को सम्यक्त्व कहा है। संक्षेप में शुद्धात्मा की उपादेयता ही सम्यक्त्व का प्रयोजन है। अकलंकदेव ने सम्यक्त्व को आत्मा का परिणाम कहा है। किन्हीं पुरुषों को स्वभाव से और किन्हीं को उपदेशादि के निमित्त से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

सम्यक्त्व-मार्गणा के भेद : षट्खंडागम में सामान्य की अपेक्षा से एक भेद और विशेष की अपेक्षा से इसके निम्नांकित भेदों का उल्लेख किया गया है[5]—१. क्षायिक-सम्यग्दृष्टि, २. वेदक-सम्यग्दृष्टि, ३. उपशम-सम्यग्दृष्टि, ४. सासादन-सम्यग्दृष्टि, ५. सम्यग्मिथ्यादृष्टि और ६. मिथ्यादृष्टि।

क्षायिक-सम्यग्दृष्टि : दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने पर प्रकट होने वाला निर्मल श्रद्धान क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव सभी स्थितियों में उदासीन रहता है[6]। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के सम्बन्ध में आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है कि दर्शनावरणीय कर्म का क्षय कर्मभूमिज मनुष्य ही करता है, लेकिन उसकी समाप्ति किसी भी गति में हो सकती है[7]। षट्खंडागम में गुणस्थान की अपेक्षा

---

१. षट्खण्डागम, १।१।१।१४१।
२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ५५७-५८।
३. वही, गा० ५५९। विस्तृत विवेचन इसी अध्याय में आगे देखें।
४. तत्त्वार्थसूत्र : १।२ और भी देखें १।४।
५. षट्खण्डागम, १।१।१।१४४।
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), ५४६; धवला, १।१।१।१२; सर्वार्थसिद्धि, २।४।
७. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवतत्त्वप्रदीपिका, गा० ५५०।

क्षायिक सम्यक्त्व का स्वामी असंयत से अयोग-केवली गुणस्थानवर्ती जीवों को बतलाया है।[१]

वेदक-सम्यक्त्व : वेदक-सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाते हुए नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है कि सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का चल[२], मलिन[३] और अगाढ़[४] रूप श्रद्धान होना वेदक-सम्यक्त्व है।[५] सम्यक्त्व प्रकृति का वेदन करने वाले जीव को वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इसकी बुद्धि सुखानुबंधी होती है। शुचि कर्म में रति उत्पन्न हो जाती है। वेदक-सम्यक्त्व के कारण धर्म में अनुराग और संसार से निर्वेद, श्रुत में संवेग एवं तत्त्वार्थों में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।[६]

उपशम-सम्यक्त्व : सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी क्रोधादि सात प्रकृतियों के उपशम से जीव के उपशम-सम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार कीचड़ युक्त पानी में फिटकरी डालने से कीचड़ नीचे बैठ जाता है और ऊपर निर्मल जल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शन मोहनीय के उपशान्त होने से पदार्थों में निर्मल श्रद्धान उत्पन्न हो जाता है।[७] इसके दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यक्त्व एवं द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। यह सम्यक्त्व सातवें से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के होता है।[८]

सासादन-सम्यक्त्व : सम्यक्त्व से भ्रष्ट लेकिन मिथ्यात्व को अप्राप्त जीव को सासादन-सम्यक्त्व होता है।[९] इसमें सम्यग्दर्शन अव्यक्त रहता है। सासादन-सम्यक्त्व द्वितीय गुणस्थान में होता है।

---

१. षट्खण्डागम, १।१।१।१४५।
२. किसी विशेष तीर्थङ्कर में किसी विशेष शक्ति का होना मानना।
३. जिस सम्यग्दर्शन में पूर्ण निर्मलता न हो।
४. सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने द्वारा बनवाये गये मन्दिर में 'यह मेरा मन्दिर है' दूसरे के बनवाये मन्दिर में 'यह दूसरे का मन्दिर' इस प्रकार का भ्रम रखना, तत्त्वार्थ-ग्रहण में शिथिल होना।
५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० २५, ६४९; धवला, १।१।१।१२।
६. पंचसंग्रह (प्राकृत), १।१६३-६४।
७. सर्वार्थसिद्धि, २।३, पंचसंग्रह (प्राकृत), १।१६५-६६।
८. षट्खण्डागम, १।१।१।१४७।
९. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ६५४।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि : जीवादि सत्त्वों में श्रद्धा एवं अश्रद्धा रखना सम्यग्मिथ्यात्व है।[1] यह चतुर्थ गुणस्थान में पाया जाता है।

मिथ्यादृष्टि : मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से आप्त-प्रणीत पदार्थों में श्रद्धा न रखना मिथ्यादृष्टि है।[2] मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानवर्ती होता है।

आगमों में सम्यक्त्व-मार्गणा के प्रसङ्ग में जीवों की संख्या का प्रमाण विस्तार से किया गया है।

संज्ञी-मार्गणा : मन को संज्ञा कहते हैं। इसका कारण नो-इन्द्रिय आवरण कर्म का क्षयोपशम होना है। जिन जीवों में मन के सद्भाव के कारण शिक्षा, उपदेश ग्रहण करने, विचार, तर्क तथा हिताहित का निर्णय करने की शक्ति विशेष होती है, उसे संज्ञी और इस प्रकार की शक्ति से रहित जीवों को असंज्ञी कहते हैं।[3] संज्ञी जीवों के प्रथम गुणस्थान से क्षीण कषायपर्यन्त बारह गुण-स्थान और असंज्ञी जीव के प्रथम गुणस्थान ही होता है। गति की अपेक्षा एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय जीव तथा कुछ पंचेन्द्रिय तिर्यंच असंज्ञी ही होते हैं और शेष पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, देव, मनुष्य और नारकी संज्ञी होते हैं।[4]

आहार-मार्गणा : शरीर, मन और वचन बनने के योग्य नो-कर्मवर्गणा के ग्रहण करने को आचार्य नेमिचन्द्र ने आहार कहा है। इसके लिए शरीर नामकर्म का उदय होना अनिवार्य है। जो जीव इस प्रकार का आहार ग्रहण करते हैं, उन्हें आहारक कहते हैं और इसके विपरीत अनाहारक कहलाते हैं।[5] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में विग्रहगतिवर्ती जीव, सयोग और अयोगकेवली एवं समस्त सिद्धों को अनाहारक तथा शेष को आहारक जीव कहा है।[6]

उपयोग प्ररूपणा : उपयोग प्ररूपणा का अन्तर्भाव ज्ञान और दर्शन मार्गणा में हो जाता है। इसलिए यहाँ उसका अलग से विवेचन नहीं किया गया है।

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ६५५।

२. वही, गा० ६५६।

३. वही, गा० ६६०–६६२।

४. द्रव्यसंग्रह, टीका, १२।३०।

५. आहरदि सरीराणं तिण्हं एयदरवग्गणाओ य।
भासामणाण णियदं तम्हा आहारयो भणिदो॥—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ६६५, ६६४।

६. विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो, समुग्घदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारया जीवा॥—वही, गा० ६६६।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गति आदि मार्गणाओं के द्वारा समस्त जीव-राशि का परिज्ञान कर सकते हैं और इस दिशा में जैन दार्शनिकों की यह भी अपूर्व उपलब्धि कही जानी चाहिए।

(घ) आत्मा के भेद और उनका विश्लेषण :

जैन दार्शनिकों ने आत्मा के भेद अनेक दृष्टियों से किये हैं। आत्मा के वर्गीकरण की जितनी विभिन्नता जैनदर्शन में दृष्टिगोचर होती है, उतनी अन्य किसी दर्शन में नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्रसूरि, शुभचन्द्राचार्य आदि जैन विद्वानों ने आत्मा के सामान्य की अपेक्षा से एक भेद और विस्तार की अपेक्षा से दस भेदों का उल्लेख किया है।[1]

आत्मा के मूलतः दो भेद : संसारी और मुक्त अथवा अशुद्ध और शुद्ध :

उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में आत्मा के मूलतः दो भेद किये हैं : संसारी और मुक्त।[2] इन्हें क्रमशः अशुद्ध-शुद्ध, समल-विमल भी कहते हैं।[3] भगवती-सूत्र[4] (व्याख्याप्रज्ञप्ति) और जीवाजीवाभिगम सूत्र[5] में संसारी आत्मा को संसार-समापन्नक और मुक्तात्मा को असंसार-समापन्नक कहा है। जो आत्माएँ कर्म-संयुक्त हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव परिवर्तन से युक्त होकर अनेक योनियों और गतियों में संसरण अर्थात् परिभ्रमण करती रहती हैं, वे संसारी आत्माएँ कहलाती हैं।[6] संसारी आत्माएँ सशरीरी होती हैं। ये आत्माएँ नित्य नवीन कर्म बांधकर विभिन्न पर्यायों में फल भोगती हैं। नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त-

---

१. (क) एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो त्ति लक्खणो होदि।
चदु चंकमणो भणिदो पंचग्गगुणप्पधाणो य॥
छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभङ्गसब्भावो।
अट्ठासओ णवत्थो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो॥
—पंचास्तिकाय, गा० ७१-७२।

(ख) तत्त्वार्थसार, २।२३४—२४७।

(ग) ज्ञानार्णव, ६।१८।

२. संसारिणो मुक्ताश्च, —तत्त्वार्थसूत्र, २।१०।

३. अध्यात्मकमलमार्तण्ड, ३।९।

४. भगवतीसूत्र, १।१।२४।

५. जीवाजीवाभिगमसूत्र, १।७।

६. संसरणं संसारः—एषामस्ति ते संसारिणः, —सर्वार्थसिद्धि, २।१०, पृ० ११६, २।१०।

चक्रवर्ती ने कहा भी है कि—जिस प्रकार कावटिका के द्वारा बोझा ढोया जाता है, उसी प्रकार शरीररूपी कावटिका के द्वारा संसारी आत्मा अनेक कष्टों को सहती हुई, कर्मरूपी भार को विभिन्न गतियों में ढोती हुई भ्रमण करती रहती है।[1] गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीव-समास संसारी आत्मा के ही होते हैं।[2] जो आत्मा संसार के आवागमन से मुक्त हो गयी है, उसे मुक्त आत्मा कहते हैं।[3] मुक्त आत्मा के समस्त कर्मो का समूल विनाश हो जाने के कारण शुद्ध-स्वाभाविक स्वरूप प्रकट हो जाता है।[4] पाँचवें अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

संसारी आत्मा के भेद-प्रभेद :

संसारी आत्मा का विभाग अनेक दृष्टिकोणों से किया गया है। जैन चिन्तकों ने चैतन्य गुण की व्यक्तता अपेक्षा से संसारी आत्मा के दो भेद किये हैं[5]—(क) त्रस और (ख) स्थावर।

त्रस आत्मा : त्रस आत्मा में चैतन्य व्यक्त होता है और स्थावर आत्मा में अव्यक्त। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में बताया है कि जिनके त्रस नामकर्म का उदय होता है, वे त्रस आत्माएँ हैं।[6]

त्रस आत्मा के निम्नांकित चार भेद हैं[7]—(क) द्वीन्द्रिय, (ख) त्रीन्द्रिय, (ग) चतुरिन्द्रिय, (घ) पंचेन्द्रिय। इनका विस्तृत विवेचन इसी प्रकरण में आगे किया गया है।

जो गमन करती हैं, वे त्रस आत्माएँ हैं—इस व्युत्पत्ति के अनुसार उत्तराध्ययनसूत्र में अग्नि और वायु को भी त्रस मानकर त्रस आत्मा के छह भेद बतलाये गये हैं।[8]

स्थावर आत्मा : जो स्थिर रहें अर्थात् जिस आत्मा में गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, उसे स्थावर आत्मा कहते हैं। इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के अनु-

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० २०२।
२. नयचक्र, गा० १०९।
३. सर्वार्थसिद्धि, २।१०।
४. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० २०३।
५. संसारिणस्त्रसस्थावराः,—तत्त्वार्थसूत्र, २।१२।
६. त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसाः,—सर्वार्थसिद्धि, २।१२।
७. द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः,—तत्त्वार्थसूत्र, २।१४।
८. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।६९-७२।

सार स्थावर आत्मा के तीन भेद हैं—पृथिवी, जल और वनस्पति।[1] जिनके स्थावर नामकर्म का उदय रहता है, वे स्थावर जीव कहलाते हैं।[2] स्थावर की इस परिभाषा के अनुसार उमास्वामी ने स्थावर आत्मा के पांच भेद कहे हैं—

१. पृथ्वीकायिक
२. जलकायिक
३. अग्निकायिक
४. वायुकायिक
५. वनस्पतिकायिक[3]

इन पांच स्थावर आत्माओं के भी अनेक भेद-प्रभेद होते हैं।

शुद्धि-अशुद्धि की अपेक्षा से संसारी आत्मा के भेद :

शुद्धि-अशुद्धि की अपेक्षा से संसारी आत्मा के निम्नांकित दो भेद हैं—भव्य-आत्मा और अभव्य-आत्मा।

भव्यात्मा : जिस आत्मा में मुक्त होने की शक्ति होती है, उसे भव्यात्मा कहते हैं। जिस प्रकार सीझने (पकने) योग्य मूंग आदि की दाल अनुकूल साधन मिलने पर सीझ जाती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि निमित्त सामग्री के मिलने पर समस्त कर्मों का समूल क्षय करके शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्राप्त करने (सिद्ध होने) की शक्ति जिन संसारी आत्माओं में होती है, उन्हें भव्यात्मा कहते हैं।[4] ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों में भी यही कहा गया है।[5]

अभव्यात्मा : अभव्य-आत्मा कभी भी नहीं सीझने (पकने) वाली मूंग की दाल या अन्धपाषाण की तरह होता है। अभव्य-आत्मा में सम्यग्दर्शनादि निमित्तों को प्राप्त करने एवं मुक्त होने की शक्ति नहीं होती है। इस प्रकार का आत्मा सदैव संसार में भ्रमण करता रहता है।[6]

मन की अपेक्षा से संसारी आत्मा के भेद :

उमास्वामी आदि आचार्यों ने मन की अपेक्षा से संसारी आत्मा के निम्नांकित दो भेद किये हैं[7]— (क) संज्ञी आत्मा और (ख) असंज्ञी आत्मा।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।७०।
२. (क) सर्वार्थसिद्धि, २।१२। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, २।१२,३।५।
३. तत्त्वार्थसूत्र, २।१३।
४. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ५५६।
५. ज्ञानार्णव, ६।२०, ६।२२।
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ५५६-५५७।
७. समनस्काऽमनस्काः,—तत्त्वार्थसूत्र, २।११।

जिन आत्माओं के मन होता है, उन्हें संज्ञी आत्मा और जिनके मन नहीं होता है, उन्हें असंज्ञी आत्मा कहते हैं ।[1] संज्ञी आत्मा शिक्षा, क्रिया, उपदेश आदि का ग्रहण तथा कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार कर सकते हैं और निर्णय कर सकते हैं ।[2] लेकिन असंज्ञी आत्मा में इस प्रकार की शक्ति नहीं होती है । नारकी, मनुष्य और देव गति वाले जीव संज्ञी ही होते हैं । इसी प्रकार एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त तिर्यंच गति वाले जीव असंज्ञी ही होते हैं । लेकिन पंचेन्द्रिय में तिर्यञ्चों में कुछ संज्ञी और कुछ असंज्ञी होते हैं ।[3]

इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारी आत्मा के भेद :

आत्मा का लिंग इन्द्रिय है । जैन दर्शन में स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियाँ मानी गयी हैं । अतः इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारी आत्मा के पाँच भेद हैं :

एकेन्द्रिय आत्मा : जिनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, उसे एकेन्द्रिय जीव (आत्मा) कहते हैं । एकेन्द्रिय जीव पाँच प्रकार के होते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति ।[4] उपर्युक्त पांचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से दो-दो प्रकार के होते हैं । बादर नामकर्म के उदय से बादर (स्थूल) शरीर जिनके होता है, वे बादरकायिक जीव कहलाते हैं । बादरकायिक जीव दूसरे मूर्त पदार्थों को रोकता भी है और उनसे स्वयं रुकता भी है ।[5] जिन जीवों के सूक्ष्म नामकर्म का उदय होने पर सूक्ष्म शरीर होता है, वे सूक्ष्मकायिक जीव कहलाते हैं । सूक्ष्मकायिक जीव न किसी से रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं, वे सम्पूर्ण लोक में व्याप्त रहते हैं ।

१. पृथ्वीकायिक जीव : पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय जीव वे कहलाते हैं, जो पृथ्वीकाय नामक नामकर्म के उदय से पृथ्वीकाय में उत्पन्न होते हैं ।[6] इन जीवों के शरीर का आकार मसूर के समान होता है ।[7] उत्तराध्ययनसूत्र, प्रज्ञापना,

---

१. सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः तदस्यास्तीति संज्ञी ।—धवला, १।१।१।३५ ।

२. (क) सर्वार्थसिद्धि, २।२४ ।
   (ख) शिक्षाक्रियाकलापग्राही संज्ञी ।—तत्त्वार्थवार्तिक, ९।७।११ ।

३. द्रव्यसंग्रह टीका, गा० १२ ।

४. वनस्पत्यन्तानामेकम्, —तत्त्वार्थसूत्र, २।२२ ।

५. धवला, १।१।१।४५ ।

६. तत्त्वार्थवार्तिक, २।१३, पृ० १२७ ।

७. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), २०१ ।

वट्टकेर के मूलाचार और वीरसेन की धवला में पृथ्वीकायिक जीव के विस्तृत भेद बतलाये गये हैं।[1]

२. जलकायिक एकेन्द्रिय जीव : जलकाय स्थावर नामकर्म के उदय से जलकाय वाले जीव जलकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इनका आकार जल की बिन्दु की तरह होता है। ओस, हिमग, महिग (कुहरा) हरिद, अणु (ओला), शुद्ध जल, (शुद्धोदक) और घनोदक की अपेक्षा जलकायिक जीव आठ प्रकार के बतलाये गये हैं।[2]

३. अग्निकायिक एकेन्द्रिय जीव : अग्निकाय स्थावर नाम-कर्म के उदय से जिन जीवों की अग्निकाय में उत्पत्ति होती है, वे अग्निकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। सूई की नोक की तरह इनका शरीर होता है।[3] मूलाचार में[4] अग्निकायिक जीवों के निम्नांकित भेद बतलाये हैं—अंगार, ज्वाला, अर्चि, मुर्मर, शुद्ध अग्नि (विद्युत् एवं सूर्यकान्त मणि आदि से उत्पन्न अग्नि) और सामान्य अग्नि। उत्तराध्ययनसूत्र एवं प्रज्ञापना आदि में भी अग्निकायिक जीव के उपर्युक्त भेद किये गये हैं।[5]

४. वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव : वायुकाय स्थावर नामकर्म के उदय से वायुकाययुक्त जीव वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। वायुकायिक जीव के भेद मूलाचारादि में इस प्रकार कहे गये हैं—सामान्य वायु, उद्भ्राम (घूमता हुआ ऊपर जाने वाला), उत्कलि, मण्डलि, गुंजावात, महावात, घनवात, तनुवात।[6]

५. वनस्पतिकायिक जीव : वनस्पति स्थावर नामकर्म के उदय से वनस्पतिकाययुक्त जीव वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव कहलाते हैं।[7] ये जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रत्येक शरीरी और (२) साधारण शरीरी।[8] वीरसेनाचार्य ने

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।७३-७६। प्रज्ञापना, १।८; मूलाचार, २०६-२०९। धवला, १।१।१।४२।

२. (क) मूलाचार, ५।१४। (ख) जीवाजीवाभिगमसूत्र, १।१६।

३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० २०१।

४. मूलाचार, ५।१५।

५. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।११०-१११। (ख) प्रज्ञापना, १।२३।

६. (क) मूलाचार, ५।१६। (ख) उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।११९-१२०। (ग) प्रज्ञापना, १।२६। (घ) धवला, १।१।१।४२।

७. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० १८५।

८. षट्खण्डागम, १।१।१।४१।

धवला में बतलाया है कि जिन वनस्पतिकायिक जीवों का (प्रत्येक का) पृथक्-पृथक् शरीर होता है, वे प्रत्येक-शरीर-वनस्पतिकायिक जीव कहलाते हैं।[१] केशव वर्णी ने भी एक शरीर में एक जीव के रहने वाले को प्रत्येक-शरीरी वनस्पति कहा है।[२] ये जीव बादर ही होते हैं। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित की अपेक्षा से प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीव के दो भेद किये गये हैं।[३] दोनों में प्रमुख अंतर यह है कि प्रतिष्ठित प्रत्येक-वनस्पतिकायिक जीव के आश्रित अन्य अनेक साधारण जीव रहते हैं, लेकिन अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पतिकायिक जीव के आश्रित अन्य निगोदिया जीव नहीं रहते हैं।[४] स्कन्ध में जितने शरीर होंगे, उतने ही जीव होंगे। उत्तराध्ययनसूत्र में प्रत्येकशरीरीवनस्पति के बारह भेद किये गये हैं : वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृण, लतावलय, पर्वग, कुहुण, जलज, औषधि और हरितकाय।[५]

साधारण शरीर नामकर्म के उदय से जिन अनेक जीवों का एक ही शरीर होता है, उन्हें साधारणवनस्पतिकायिक जीव कहते हैं।[६] इन जीवों के विषय में षट्खंडागम में कहा है कि साधारण शरीरी जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास, उत्पत्ति, शरीर की निष्पत्ति, अनुग्रह, साधारण ही होते हैं।[७] एक की उत्पत्ति से सबकी उत्पत्ति और एक के मरण से सब का मरण होता है। साधारण शरीरीवनस्पतिजीव निगोदिया जीव भी कहलाते हैं।[८] निगोदिया जीव अनन्त हैं। स्कन्ध, अण्डर (स्कन्धों के अवयव), आवास (अण्डर के भीतर रहने वाला भाग), पुलविका (भीतरी भाग) द्वारा निगोदिया जीवों का उल्लेख किया जाता है।[९]

द्वीन्द्रिय आत्मा : द्वीन्द्रिय आत्मा के स्पर्शन और रसन ये दो इन्द्रियाँ होती

---

१. धवला, १।१।१।४१।
२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्त्वप्रदीपिका, १८५।
३. वही, १८५।
४. प्रतिष्ठितं साधारण शरीरैराश्रितं प्रत्येकशरीरं येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः- तैरनाश्रितशरीरा अप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः स्युः ।—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, गा० १८६।
५. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।९५-९६।
६. सर्वार्थसिद्धि, ८।११; धवला, १३।५।५।१०१।
७. षट्खण्डागम, १४।५।६।१२२-२५।
८. कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, गा० १२५।
९. धवला, १४।५।६।९३।

हैं। स्पर्शन, रसन, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास—ये छह प्राण होते हैं। ये सभी आत्माएँ असंज्ञी और नपुंसक होते हैं। इनकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष होती है। क्रोधादि चारों कषायें एवं आहारादि चारों संज्ञाएँ होती हैं। द्वीन्द्रिय आत्माएँ सम्मूर्च्छनज होती हैं। ये पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार की होती हैं।

द्वीन्द्रिय आत्माओं के कुछ नाम : जीवाजीवाभिगमसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, मूलाचार आदि में कुक्षि कृमि, अपायुज, सीप, शंख, गण्डोला, अरिष्ट, चन्दनक, क्षुल्लक, कौड़ी, शंबुक, मातृवाह, णेउर, सोमंगलम, वंशीमुख, सूत्रिमुख, गौजलौका, धुल्ल, खुल्ल आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं।[1]

त्रीन्द्रिय आत्मा : त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से जिनके स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें त्रीन्द्रिय आत्मा कहते हैं। आगमों में जूं, कुंभी, खटमल, कुन्थु, पिपीलिका, चींटा, इन्द्रगोप, चीलर, दीमक, तृणाहार, काष्ठाहार, झींगुर, पिसुआ, किल्ली, लीख, इल्ली आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं।[2]

चतुरिन्द्रिय आत्मा : जिनके स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं। ये पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा से दो प्रकार के होते हैं। पंचास्तिकायादि में मकड़ी, पतंगा, दंश, भौंरा, बर्रे, मधुमक्खी, गोमक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया, कुर्कुट आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं।[3]

पंचेन्द्रिय आत्मा : पंचेन्द्रिय आत्मा के स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।[4] पंचेन्द्रिय जातिनामकर्म के उदय से ही इन इन्द्रियों की प्राप्ति होती है। पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। ये दोनों प्रकार के पंचेन्द्रिय जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं।[5] देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च की अपेक्षा से पंचेन्द्रिय आत्मा के चार भेद हैं।

---

१. जीवाजीवाभिगमसूत्र, १।२२। पन्नगसुत्त, १।२०। प्रज्ञापना, १।४४। मूलाचार, ५।२८।

२. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—मूलाचार, १।२८; जीवाजीवाभिगमसूत्र, १।२९; उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।१३७-१३९; धवला, १।१।१।३३।

३. (क) पंचास्तिकाय, गा० ११६; प्रज्ञापना, १।२२; उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।१४६-१४९।

४. पंच इन्द्रियाणि येषां ते पंचेन्द्रियाः—धवला, १।१।१।३३।

५. षट्खण्डागम, १।१।१।३५।

गति की अपेक्षा से आत्मा के भेद :

गति नामकर्म के उदय से मृत्यु के बाद एक भव को छोड़कर दूसरे भव या पर्याय को प्राप्त करना गति है।[1] गतियाँ चार होती हैं—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक। इन गतियों की अपेक्षा से आत्मा के चार भेद होते हैं।

(क) देव आत्मा : देवगति के नामकर्म के कारण देव गति में उत्पन्न होने वाले आत्मा को देव कहते हैं। देव अणिमादि ऋद्धियों से युक्त तथा देदीप्यमान होते हैं।[2]

देव-आत्मा के भेद : जैनागमों में देवों को चार समूहों में विभाजित किया गया है, जिसे निकाय कहते हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—ये निकायों के नाम हैं।[3] इनका विस्तृत विवेचन तत्त्वार्थसूत्र के चौथे अध्याय और उसकी टीकाओं में किया गया है।[4]

(ख) मनुष्य पंचेन्द्रिय आत्मा : मनुष्यगति नामकर्म के उदय से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होने वाला आत्मा मनुष्य कहलाता है।[5]

(ग) तिर्यञ्च आत्मा : आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में तिर्यञ्चगति नामकर्म के उदय से तिर्यञ्च पर्याय में उत्पन्न होने वाले को तिर्यञ्च कहा है।[6] तिर्यञ्च के निम्नांकित भेद हैं :

१. एकेन्द्रिय सूक्ष्म
२. एकेन्द्रिय बादर
३. द्वीन्द्रिय
४. त्रीन्द्रिय
५. चतुरिन्द्रिय
६. असंज्ञी पंचेन्द्रिय
७. संज्ञी पंचेन्द्रिय

इनके विस्तार से चौदह भेद होते हैं।[7]

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० १४६।
२. (क) सर्वार्थसिद्धि, ४।१; धवला, १।१।१।२४ पु० १, खं० १।
३. तत्त्वार्थसूत्र, ४।१।
४. (क) सर्वार्थसिद्धि, चतुर्थ अध्याय। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, चतुर्थ अध्याय।
५. धवला, १।१।१।२४।
६. सर्वार्थसिद्धि, ३।३९।
७. नियमसार, १।१७। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में तिर्यञ्चों के ८५ भेदों का उल्लेख है।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तिर्यञ्चों का विवेचन किया जा चुका है। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च का संक्षिप्त विवेचन निम्नांकित है—

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च : नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के दो भेद किये हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज।[1] कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के आचार्य वट्टकेर ने तीन भेद बतलाये हैं : १. जलचर, २. स्थलचर और ३. नभचर।[2]

उत्तराध्ययनसूत्र में जलचर के मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मगर और शिशुमार ये भेद किये हैं।[3] स्थलचर के दो भेद हैं—(क) चतुष्पद और (ख) परिसर्प।[4] चतुष्पद के प्रज्ञापना[5] आदि में चार प्रकार बतलाये गये हैं—

१. एक खुर वाले : घोड़ा आदि
२. दो खुर वाले : ऊंट, गाय, बकरी, भेड़ आदि
३. गंडी पद (गोल पैर वाले) : हाथी आदि
४. सनख पद तिर्यञ्च : सिंह, व्याघ्र, बिल्ली आदि

परिसर्प दो प्रकार के होते हैं[6]—भुजपरिसर्प और उरपरिसर्प। नकुल, सरह, छिपकली आदि भुजाओं से चलने वाले भुजपरिसर्प हैं और छाती के बल चलने वाले सर्प आदि उरपरिसर्प हैं।

खेचर की उत्तराध्ययनसूत्र में चार जातियाँ बतलाई गयी हैं[7]—चर्म पक्षी, रोम पक्षी, समुद्र पक्षी और वितत पक्षी।

(घ) नारकी आत्मा : मध्य लोक की तरह अधोलोक भी है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी ने कहा है कि रत्नप्रभा (धम्मा), शर्करा प्रभा (वंशा), बालुका प्रभा (मेघा), पंक प्रभा (अंजना), धूम प्रभा (अरिष्टा), तम प्रभा (मघवा), महातम प्रभा (माघवी) ये सात भूमियाँ एक के बाद एक नीचे-नीचे हैं।[8] इन्हें नरक-भूमियाँ कहते हैं।[9] इन नरक-भूमियों में रहने वाले जीवों को नारकी कहते

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ७९,९१।
२. मूलाचार, ५।२०।
३. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।१७३।
४. वही, ३६।१८०।
५. प्रज्ञापना, १।२६; जीवाजीवाभिगमसूत्र, १।२८।
६. (क) प्रज्ञापना, १।२७; जीवाजीवाभिगमसूत्र, १।२९।
७. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।१८७-१८८।
८. तत्त्वार्थसूत्र, ३।१।
९. नरकेषु भवा नारका:, —तत्त्वार्थवार्तिक, २।५०।३,

हैं। गोम्मटसार की जीवप्रबोधिनी टीका में केशववर्णी ने कहा है कि प्राणियों को दुःखित करने वाला, स्वभाव से च्युत करने वाला नरक कर्म है और इस कर्म के कारण उत्पन्न होने वाले जीव नारकी कहलाते हैं।[1] नारकी जीवों को अत्यधिक दुःखों को सहना पड़ता है।[2]

नारकी जीवों के भेद : कुन्दकुन्दाचार्य ने भूमियों की अपेक्षा से सात प्रकार के नारकी बतलाये हैं।[3] ये सातों प्रकार के नारकी पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं। जैन आचार्यों ने विस्तार की अपेक्षा से नारकी जीवों के चौदह भेद किये हैं।[4]

अध्यात्म की अपेक्षा से आत्मा के भेद :

अध्यात्म की अपेक्षा से जैन दार्शनिकों ने आत्मा के निम्नांकित तीन भेद किये हैं—१. वहिरात्मा, २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा।

आचार्य कुन्दकुन्द[5], पूज्यपाद[6], योगेन्दु[7], शुभचन्द्राचार्य[8], स्वामी कार्तिकेय[9], अमृतचन्द्र, गुणभद्र, अमितगति, देवसेन[10] एवं ब्रह्मदेव[11] आदि आचार्यों ने उपर्युक्त तीन भेद किये हैं। अन्य किसी भी भारतीय दार्शनिकों ने उपर्युक्त प्रकार से स्पष्ट रूप से आत्मा के भेदों का उल्लेख तो नहीं किया है, किन्तु इसके अविकसित रूप उपनिषदों में परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए कठ-उपनिषद् में ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा ये तीन भेद आत्मा के किये

---

१. नरान् प्राणिनः, कायति यातयति, कदर्थयति खलीकरोति बाधत इति नरकं कर्म तस्यापत्यानि नारकाः—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा, १४७; धवला, १।१।१।२४।

२. तत्त्वार्थवार्तिक, २।५०३।

३. पंचास्तिकाय, गाथा ११८।

४. सर्वार्थसिद्धि, ३।१-६।

५. मोक्षपाहुड़, गाथा ४।

६. समाधिशतक, पद्य ४।

७. परमात्मप्रकाश, १।११-१२, योगसार, ६।

८. ज्ञानार्णव, ३२।५।

९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९२।

१०. ज्ञानसार, गाथा २९।

११. द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४।

गये हैं।[1] डायसन[2] ने छान्दोग्योपनिषद् को आधार बनाकर आत्मा के तीन अवस्थाओं—शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा का उल्लेख किया है। जीवात्मा, शिवात्मा, परमात्मा और निर्मलात्मा ये चार भेद रामदास ने किया है।[3] अन्त में वे इन चारों को एक ही मान लेते हैं।

१. बहिरात्मा : अज्ञान के कारण आत्मा के सच्चे स्वाभाविक स्वरूप को भूलकर आत्मा से भिन्न शरीर, इन्द्रिय, मन, स्त्री-पुरुष और धनादि में ममत्व बुद्धि रखने वाले को कुन्दकुन्दाचार्य, योगेन्दु एवं पूज्यपाद आदि आचार्यों ने बहिरात्मा कहा है।[4]

बहिरात्मा के भेद : द्रव्यसंग्रह की टीका में बहिरात्मा के तीन भेद किये हैं[5] :—(क) तीव्र बहिरात्मा : मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती आत्मा।

(ख) मध्यम बहिरात्मा : सासादन गुणस्थानवर्ती आत्मा।

(ग) मंद बहिरात्मा : मिश्र गुणस्थानवर्ती आत्मा।

२. अन्तरात्मा : मिथ्यात्व के अभाव से और सम्यक्त्व के होने से जब जीव आत्मा और शरीरादि में भेद को समझने लगता है और बाह्य पदार्थों से ममत्व बुद्धिको हटाकर आत्मा के सच्चे स्वरूप की ओर उन्मुख हो जाता है, तब उसे अन्तरात्मा कहा जाता है।[6] कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड़ में आत्मसंकल्प रूप आत्मा को अन्तरात्मा कहा है।[7]

अन्तरात्मा के भेद : आत्मगुण के विकास के अनुसार नियमसार की तात्पर्य-वृत्ति टीका में अन्तरात्मा के तीन भेद किये गये हैं :

(क) जघन्य अन्तरात्मा : अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा।[8]

---

१. कठोपनिषद्, अध्याय १।३।१३।

२. परमात्मप्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना (आ० ने० उपाध्ये), पृ० ३१ और हिन्दी रूपान्तर (पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री), पृ० १०१।

३. वही।

४. (क) नियमसार, गाथा १४९-५०। (ख) योगसार, गा० ७। (ग) समाधितंत्र : पद्य ७।

५. द्रव्यसंग्रह टीका, गा० १४।

६. रयणसार, गाथा १४१; समाधितंत्र, पद्य ५; परमात्मप्रकाश, दोहा १४।

७. मोक्षपाहुड़, गाथा ५।

८. (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० १९७।
(ख) नियमसार, तात्पर्यवृत्ति टीका, गा० १४९,

(ख) मध्यम अन्तरात्मा : पांचवें गुणस्थान से उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती तक के जीव मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं ।[1]

(ग) उत्कृष्ट अन्तरात्मा : आचार्य पूज्यपाद ने क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान में अवस्थित आत्मा को उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहा है ।[2]

३. परमात्मा : कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपादाचार्य और स्वामी कार्तिकेय ने समस्त कर्मों से रहित शुद्धात्मा को परमात्मा कहा है[3] । शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है—कर्मों के लेप से रहित, शरीरविहीन, रागादि विकारों से रहित, निष्पन्न, कृतकृत्य, अविनाशी, सुखस्वरूप तथा निर्विकल्प शुद्ध आत्मा परमात्मा है ।

परमात्मा के भेद : स्वामी कार्तिकेय ने परमात्मा के दो भेद किये हैं—अर्हन्त और सिद्ध ।[4] इन्होंने सकल परमात्मा और विकल परमात्मा—ये अन्य दो भेद भी किये हैं ।[5] वृहद् नयचक्र तथा नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में दो भेद किये हैं—कारणपरमात्मा और कार्यपरमात्मा ।[6] अर्हन्तपरमात्मा ही सकल परमात्मा और कारणपरमात्मा कहलाते हैं तथा सिद्ध परमेष्ठी को विकल और कार्य परमात्मा कहते हैं ।

जैन दर्शन के आत्मा-परमात्मा के एकत्व की उपनिषदों के आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य के साथ तुलना :

जिस प्रकार उपनिषदों में आत्मा को ब्रह्म कहा गया है, उसी प्रकार जैन दर्शन में भी आत्मा को परमात्मा कहा गया है । 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' इन महावाक्यों की भाँति जैन आध्यात्मिक ग्रन्थों में भी आत्मा को परमात्मा प्रतिपादित करने वाले वाक्य उपलब्ध होते हैं । उदाहरणार्थ समाधिशतक में कहा है—'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है । इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य है, दूसरा कोई उपास्य नहीं ।'[7] योगेन्दु

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा १९६; द्रव्यसंग्रह टीका, गा० १४१ ।

२. सत्यशासनपरीक्षा, का० ।

३. (क) मोक्षपाहुड़, गा० ५; समाधितंत्र, ५; परमात्मप्रकाश, दो ३०-४२ ।

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० १९२ ।

५. वही, गा० १९८ ।

६. नयचक्र, गा० ३४०; नियमसार तात्पर्यवृत्ति, गा० ६ ।

७. यः परमात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥—समाधिशतक, ३१ ।

के योगसार में भी कहा गया है—'जो परमप्पा सो जि हउ सो परमप्पु ।'[1] 'जो तइलोयहं झेउ जिणु स्मे अप्पा णिरु वुत्तु ।'[2] अर्थात्—'तीनों लोकों के आराध्य जिनेन्द्र भगवान् को ही निश्चय से आत्मा कहा है।' 'निश्चय नय की अपेक्षा से आत्मा ही अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, मुनि, शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बुद्ध, ईश्वर, ब्रह्म, अनन्त और सिद्ध है। परम निष्कल देव जो शरीर में वास करता है, उसमें और आत्मा में कोई भेद नहीं है।'[3] उपर्युक्त कथन उपनिषदों की भाँति है। नियमसार तात्पर्यवृत्ति में भी कहा है 'करण परमात्मा ह्यात्मा'[4] अर्थात्—करण परमात्मा ही आत्मा है। अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों में भी आत्मा को परमात्मा कहा गया है।[5] जैन दर्शन में आत्मा को परमात्मा कहने का तात्पर्य यही है कि एक वस्तु की दो अवस्थाएँ हैं। कहा भी है—'जैन धर्म के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक ही हैं, क्योंकि ये एक ही वस्तु की दो अवस्थाएँ हैं और इस तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा है।'[6] नियमसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा है कि समस्त संसारी जीव सिद्ध स्वभाव वाले होते हैं।[7]

जैन दर्शन में आत्मा के भेद-प्रभेद बहुत ही सूक्ष्म रूप से किये गये हैं, जो अत्यधिक मनोवैज्ञानिक हैं। हम अपने अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि अन्य किसी भारतीय दार्शनिक ने इस प्रकार आत्मा का मनोवैज्ञानिक विवेचन नहीं किया है। आत्मा के इस प्रकार के भेद-विवेचन करने का जैन दार्शनिकों का प्रमुख उद्देश्य आत्म-स्वरूप को अवगत कराकर मोक्ष-मार्ग की ओर उन्मुख कराना है।

●

१. योगसार, दो० २२।
२. वही, दो० ३७।
३. वही, दो० १०४-१०६।
४. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति गा० ३८।
५. स्वमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थः।—प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ६८।
६. परमात्मप्रकाश की प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद, पृ० १०३।
७. 'सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥'
—नियमसार (शुद्धभावाधिकार), गा० ४९।

अध्याय ३

(१) आत्मा और कर्म-विपाक

(क) कर्म सिद्धान्त का उद्भव :

कर्म सिद्धान्त भारतीय चिन्तकों की, विशेष रूप से जैन चिन्तकों की विश्वदर्शन को एक अभूतपूर्व और मौलिक देन है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त भारत के सभी दर्शनों में कर्मसिद्धान्त का न्यूनाधिक विवेचन हुआ है, किन्तु जैनदर्शन में इस सिद्धान्त का जैसा सूक्ष्म, सुव्यवस्थित, परिमार्जित, वैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक-विशद विवेचन उपलब्ध होता है, वैसा वैदिक और बौद्ध परम्परा में दुर्लभ है। जैन-दर्शन में इसकी महत्ता इसी से सिद्ध होती है कि इस विषय पर महाबन्ध, कषायपाहुड़, कर्मशास्त्र, कर्मग्रन्थ, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) आदि अनेक विशालकाय ग्रन्थों की स्वतन्त्र रूप से रचना की गयी है।

यद्यपि प्राचीन काल में भी ऐसे चिन्तक हुए हैं, जो कर्मवाद में विश्वास नहीं करते थे। उनका चिन्तन आज भी जैन आगमों में उपलब्ध होता है।

कर्मवाद विरोधी सिद्धान्त : गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)[२] और शास्त्रवार्ता-समुच्चय[१] आदि ग्रन्थों में कर्मवाद का विवेचन एवं विश्लेषण करते हुए कुछ ऐसे सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, जो विश्व-वैचित्र्य की व्याख्या कर्मवाद के आधार पर न करके अन्य वादों के आधार पर करते हैं। गोम्मटसार में क्रियावादियों के एक सौ अस्सी भेदों का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव, यदृच्छा, भूतवाद, दैववाद और पुरुषार्थवाद का उल्लेख भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध होता है। उपर्युक्त सभी सिद्धान्त एकांकी हैं, क्योंकि ये सिद्धान्त प्राणियों के सुख-दुःख की व्याख्या एकांकी रूप से करते हैं।[३] कर्मवाद को समझने के लिए उपर्युक्त कर्म विरोधी मतों का विवेचन आवश्यक है।

---

१. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ८७७-८९३।

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय (हरिभद्र), द्वितीय स्तवक, १६४-१९३।
   आत्ममीमांसा, पृ० ८६-९४।
   (ख) जैन धर्म दर्शन, पृ० ४१६-४२४।

३. (क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ८७६-८७७ और ८९०-८९३।

कालवाद : कालवाद के अनुसार समस्त प्राणियों के सुख-दुःख तथा अन्य समस्त घटनाओं का प्रमुख कारण काल है। गोम्मटसार में कहा है कि "काल सबको उत्पन्न करता है, काल सबका विनाश करता है और सोते हुए प्राणियों को काल ही जगाता है"।[1] हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय में भी कहा है कि 'जीवों का गर्भ में प्रविष्ट होना, किसी अवस्था को प्राप्त करना, शुभ-अशुभ अनुभव होना आदि घटनाएँ काल के आश्रित होती हैं, उसके बिना कोई घटना नहीं घट सकती है।[2] काल भौतिक वस्तुओं को पकाता है, काल प्रजा का संहार करता है, काल सबके सो जाने पर जागता है। अतः कोई भी उसकी सीमा का उल्लंघन नहीं कर सकता है।[3] अन्य सामग्री के होने के बावजूद अनुकूल काल के अभाव में मूंग भी नहीं पक सकती है। इसी प्रकार गर्भ-प्रवेश आदि जितनी भी घटनाएँ होती हैं, वे काल के बिना सम्भव नहीं हैं।[4] अतः विश्व की समस्त घटनाओं का कर्ता काल ही है। अथर्ववेद[5] में काल को समस्त घटनाओं का सर्व-शक्तिमान तथा प्रमुख कारण माना गया है। इसी प्रकार का उल्लेख महाभारत[6] में भी मिलता है।

स्वभाववाद : स्वभाववादियों ने अपने सिद्धान्त में वही तर्क दिये हैं, जो कालवादियों ने दिये थे। सांसारिक घटनाओं का मूलभूत कारण स्वभाववाद के अनुसार स्वभाव है। गोम्मटसार में कहा है कि कांटे आदि को तीक्ष्ण (नुकीला) कौन करता है? तथा कौन मृग-पक्षियों आदि में विविधता करता है? इन सबका एकमात्र कारण स्वभाव है, कालादि नहीं।[7] बुद्धचरित में भी यही कहा गया

(ख) कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, १।२।

१. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ८७९।

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २।१६५।

३. किञ्च कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते।
स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता।—शास्त्रवार्तासमुच्चय, २।५५।

४. वही, २।१६८।

५. अथर्ववेद, कालसूक्त, १९।५३-५४, डा० मोहनलाल मेहता : जैन धर्म और दर्शन : पृ० ४१७ पर उद्धृत।

६. महाभारत, शान्तिपर्व, २५,२८,३२ आदि।

७. को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं।
विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वपि य सहाओत्ति ॥ —गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ८८३।

है ।[1] शास्त्रवार्तासमुच्चय में स्वभाववादी अपने सिद्धान्त के पक्ष में कहते हैं कि प्राणी का गर्भ में प्रवेश होना, विविध अवस्थाओं को प्राप्त करना, शुभ-अशुभ अनुभवों का भोग करना स्वभाव के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए समस्त घटनाओं का कारण स्वभाव ही है। संसार के समस्त पदार्थ स्वभाव से अपने-अपने स्वरूप में विद्यमान रहते हैं और अन्त में नष्ट हो जाते हैं।[2] कालादि सामग्री के विद्यमान रहने पर भी स्वभाव के बिना कुछ भी घटित नहीं होता है। स्वभावरूप विशेष कारण के अभाव में कार्य की विशेष उत्पत्ति मानने से अव्यवस्था हो जाएगी। अतः स्वभाव ही समस्त घटनाओं का कारण है।[3]

नियतिवाद : नियतिवाद का उल्लेख सूत्रकृतांग[4], व्याख्याप्रज्ञप्ति[5], उपासकदशांग[6], गोम्मटसार[7] और शास्त्रवार्तासमुच्चय[8] तथा बौद्ध त्रिपिटक[9] में हुआ है। जो जिस समय, जिसके द्वारा एवं जिस रूप में होना होता है, वह उस समय उसी कारण से और उसी रूप में अवश्य होता है। अतः नियति को समस्त वस्तुओं एवं घटनाओं का कारण मानना नियतिवाद है।[10] दीघनिकाय में मंखली गोशालक के नियतिवाद का विवेचन करते हुए कहा गया है कि प्राणियों की अपवित्रता का कोई कारण नहीं है। वे बिना कारण के अपवित्र होते हैं........। पुरुषार्थ से

---

१. बुद्धचरित, १८।३१ ।

२. सर्वेभावाः स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा ।
वर्तन्तेऽथ निवर्तन्ते कामचारपराङ्मुखाः ।। —शास्त्रवार्तासमुच्चय, २।५८ ।

३. (अ) वही, २।१७१-१७२, —(ब) भगवद्गीता, ५।१४ ।

४. सूत्रकृतांग, २।१।६, २।१।१२ ।

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, शतक १५ ।

६. उपासकदशांग, ६-७ ।

७. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ८९२ ।

८. शास्त्रवार्तासमुच्चय, २।१७३-१७६ ।

९. दीघनिकाय, सामंजफलसुत्त ।

१०. जत्तु जदा जेण-जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ।।
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ८८२ ।

तुलनार्थ : यद् यदैव यतो यावत् तत् तदैव ततस्तथा ।
नियतं जायते न्यायात् क एतां बाधितुं क्षमः ।।
—शास्त्रवार्तासमुच्चय, २।१७४ ।

कुछ भी नहीं होता है। न बल है, न वीर्य है, न शक्ति है और न पराक्रम ही है। सभी सत्व, प्राणी और जीव अवश, दुर्बल तथा वीर्यविहीन हैं। नियति, जाति, वैशिष्ट्य स्वभाव के कारण ही उनमें परिवर्तन होता है........।[१] इस प्रकार नियतिवाद के अनुसार समस्त वस्तुएँ नियति रूप वाली हैं। अतः नियति को ही उनका कारण मानना चाहिए।[२]

यदृच्छावाद : 'यदृच्छा' का अर्थ अकस्मात्[३] तथा अनिमित्त[४] होता है। अतः यदृच्छावाद को अकस्मात्, अनिमित्तवाद, अकारणवाद, अहेतुवाद भी कहते हैं।[५] यदृच्छावाद के अनुसार किसी कार्य का कोई कारण नहीं है। निमित्त के बिना ही कार्य होता है।

पुरुषवाद : पुरुष विशेष को समस्त घटनाओं का कारण मानना पुरुषवाद कहलाता है। अभिधानराजेन्द्रकोष में कहा भी है "एक पुरुष ही समस्त लोक की स्थिति, सर्ग और प्रलय का कारण है। प्रलय में भी उसकी अतिशय ज्ञान-शक्ति अलुप्त रहती है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल का, चन्द्रकान्त मणि जल का और वटवीज प्ररोह का कारण है, उसी प्रकार वह पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों का कारण है। जो हो चुका है, जो है तथा जो होगा, उस सब का कारण पुरुष ही है—इस प्रकार की मान्यता पुरुषवाद कहलाती है।[६]

ईश्वरवाद : ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर ही समस्त घटनाओं का कारण है। गोम्मटसार में ईश्वरवाद के विवेचन में कहा गया है कि आत्मा अनाथ है, उसका सुख-दुःख तथा स्वर्ग-नरक गमन आदि सब ईश्वर के अधीन है।[७]

आत्मवाद : संसार में एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष या दैव है। वह सबमें व्यापक है, सर्वाङ्ग रूप से छिपा है, सचेतन, निर्गुण और उत्कृष्ट

---

१. दीघनिकाय, सामंजफलसुत्त।

२. नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
   ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः॥
   —शास्त्रवार्तासमुच्चय, २।६१

३. न्यायभाष्य (वात्स्यायन), ३।२।३१।

४. न्यायसूत्र, ४।१।२२।

५. जैन धर्म दर्शन, पृ० ४२१।

६. अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग ५, पृ० १०३८।

७. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ८८०।

है—ऐसा मानना आत्मवाद कहलाता है।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा ही सब कुछ करता है।

पौरुषवाद : पुरुषार्थवाद के अनुसार समस्त कार्यों की सिद्धि पुरुषार्थ से होती हैं। आलस्य करने से तथा निरुद्यमी होने से किसी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[2] पुरुषार्थवाद भाग्य या दैव को नहीं मानता है। यह सिद्धान्त इच्छास्वातन्त्र्य में विश्वास रखता है।[3]

दैववाद : दैववाद को भाग्यवाद भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। किसी कार्य की सफलता-असफलता का मूल आधार भाग्य होता है। गोम्मटसार में कहा गया है "मैं केवल भाग्य को श्रेष्ठ मानता हूँ, निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार है। शाल के वृक्ष के समान उत्तम कर्ण का युद्ध में मारा जाना यह दैव का ही प्रभाव है। अतः समस्त इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं की उपलब्धि भाग्य से ही होती है"।[4] दैववाद में इच्छास्वातन्त्र्य का कोई स्थान नहीं है। भाग्य के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। प्राणी अपने पुरुषार्थ से कर्म-फलों की प्राप्ति में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। दैववाद और नियतिवाद में अन्तर यह है कि दैववाद कर्म की सत्ता में विश्वास करता है किन्तु नियतिवाद कर्म-अस्तित्व को नहीं मानता है। दैववाद की पराधीनता प्राणी के कर्मों के कारण है और इसके विपरीत नियतिवाद की पराधीनता अकारण अर्थात् स्वतः है।[5] यद्यपि यह कर्मफल को इतना नियत बना देता है कि उसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती है।

जैन-दार्शनिकों का मन्तव्य :

जैन-दार्शनिक उपर्युक्त एकान्तिक सिद्धान्तों से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार यद्यपि प्राणियों के सुख-दुःख का प्रमुख कारण कर्म है किन्तु इसके साथ ही कालादि भी गौण कारण माने गये हैं। शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र ने इन एकान्त मतों की समीक्षा करते हुए कहा है कि तार्किक जनों को यह मानना

---

१. एक्को चेवमहप्पा पुरिसो देवो य सव्व वावी य।
सव्वंगणिगूढोवि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ८८१।

२.३. आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।
थणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणाण हि ॥—वही, ८९०।

४. वही, ८९१।

५. जैन धर्म दर्शन, पृ० ४२०।

चाहिए कि काल, स्वभाव, नियति और कर्म-समष्टि रूप से घटनाओं के कारण हैं (व्यष्टि रूप से नहीं)।[१] हरिभद्र की तरह सिद्धसेन दिवाकर ने भी किसी कार्य का निष्पन्न होना काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ की समष्टि पर निर्भर माना है। इनमें से किसी एक को कार्यसिद्धि का समग्र कारण मानना मिथ्या धारणा है।[२] न तो मात्र पुरुषार्थ से और न मात्र भाग्य से अर्थ की संसिद्धि होती है किन्तु इसके विपरीत इन दोनों के समन्वय से ही अर्थ प्राप्ति होती है। इतना जरूर है कि कभी दैव मुख्य होता है और कभी पुरुषार्थ[3]। ईश्वर संसार का नियन्ता और नियामक है, यह भी जैन दार्शनिकों को मान्य नहीं है। जैनमत के अनुसार जीवों के अपने-अपने कर्म ही फल प्रदान कर उनको सुख-दुःख का अनुभव कराते हैं। कर्म सिद्धान्त प्रतिपादक साहित्य का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दार्शनिकों ने कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन जिस वैज्ञानिक पद्धति से विस्तृत तथा सुव्यवस्थित रूप से किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त कितना महत्त्वपूर्ण है और लोकप्रिय है, यह कर्म विषयक ग्रन्थों से सिद्ध हो जाता है। आगम युग से आज तक कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी विपुल साहित्य लिखा गया है। षड्खंडागम, महाबन्ध, कषायपाहुड़, पंचसंग्रह, गोम्मटसार (कर्मकांड), कर्मप्रकृति आदि कर्म सिद्धान्त के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

कर्म का अर्थ और उसकी पारिभाषिक एवं दार्शनिक व्याख्या

कर्म का अर्थ :

कर्म शब्द का अर्थ विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार का किया गया है।[४] 'यत् क्रियते तत् कर्म'[५] इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी कार्य या व्यापार का

---

१. अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम्।
गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः ॥
न चैकैकत एवेह क्वचित् किञ्चिदपीक्ष्यते।
तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका मता ॥ —शास्त्रवार्तासमुच्चय, २।७९-८०।

२. सन्मतितर्कप्रकरण, ३।५३।

३. आप्तमीमांसा, ८।८१।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, ६।१।३।

५. षट्खंडागम, भाग ६, पृ० १८।

करना कर्म कहलाता है। उदाहरणार्थ—पढ़ना, सोना आदि क्रियाएँ कर्म हैं। भट्टाकलंक देव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में कर्म का अर्थ 'कर्मकारक, पुण्य-पाप तथा क्रिया' किया है।[1]

वैदिक काल में कर्म का अर्थ यज्ञानुष्ठान है।[2] वैदिक युग के महर्षियों ने जीवों की विचित्रता का कारण तत्त्व, ऋत एवं प्रजापति को माना है।[3] ब्राह्मण काल में भी कर्म का अर्थ यज्ञानुष्ठान ही माना गया है। स्मार्त विद्वानों ने कर्म का अर्थ चार वर्णों और चार आश्रमों के कर्तव्यों का पालन करना बतलाया है। पौराणिकों के मतानुसार कर्म का तात्पर्य व्रत-नियमादि धार्मिक क्रियाओं से है।[4] वैयाकरणों ने कर्मकारक के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया है।[5] न्याय दर्शन में कर्म का अर्थ चलनात्मक क्रिया किया गया है। वहाँ उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन—कर्म के पांच भेद बतलाये गये हैं।[6] योग दर्शन में कर्म का अर्थ संस्कार, वासना तथा अपूर्व किया गया है। बौद्ध दर्शन में कर्म का तात्पर्य वासना और जैन दर्शन में कर्म का अर्थ परिणमन एवं परिस्पन्दात्मक क्रिया है। जैन दर्शन में विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत और ईश्वर शब्द भी कर्म के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।[7] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभिन्न विचारधाराओं में कर्म के अर्थ के विषय में विभिन्नता है अर्थात् विभिन्न मतों में कर्म शब्द के विभिन्न अर्थ किये गये हैं।

विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में कर्म :

भारतीय दर्शन के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जैन दर्शन में जिस अर्थ में 'कर्म' शब्द व्यवहृत हुआ है, उसके लिए अन्य विभिन्न भारतीय दार्शनिकों ने माया, अविद्या, अपूर्व, वासना, आशय, अदृष्ट, संस्कार, भाग्य, देव, दैव धर्माधर्म आदि शब्दों का प्रयोग किया है। न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने कर्म के

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ६।१।३।
२. भारतीय दर्शन, पृ० १२।
३. वही, पृ० ९।
४. जैनधर्मदर्शन, पृ० ४४२।
५. कर्तुरीप्सिततमं कर्म,—पाणिनिमुनिप्रणीत अष्टाध्यायी, १।४।४९।
६. एक द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम्।—वैशेषिक-सूत्र, १।१।१७।
७. आदिपुराण (महापुराण), ४।३७।

लिए धर्माधर्म, संस्कार और अदृष्ट शब्दों का प्रयोग किया है।[1] सांख्य योग-दर्शन में कर्म के समानान्तर क्लेश, आशय तथा वासना शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है।[2] मीमांसा-दर्शन में कर्म के स्थान पर 'अपूर्व' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है।[3] वेदान्त-दर्शन में माया और अविद्या का प्रयोग कर्म के स्थान पर किया गया है।[4] बौद्ध दर्शन में कर्म के लिए वासना और अविद्या शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से मिलता है।[5]

न्यायभाष्य में वात्स्यायन ने कहा है कि राग, द्वेष और मोह से प्रेरित होकर जीव में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन प्रवृत्तियों से धर्म-अधर्म की उत्पत्ति होती है, इन्हीं धर्म-अधर्म को संस्कार कहते हैं।[6] वैशेषिक दर्शन में आचार्य प्रशस्तपाद ने चौवीस गुणों के अन्तर्गत माने गये अदृष्ट गुण को संस्कार से पृथक मान कर दो भागों में विभाजित किया है—धर्म और अधर्म। इस प्रकार जिस धर्म-अधर्म का समावेश न्याय दार्शनिकों ने संस्कार में किया, उन्हीं धर्म-अधर्म को वैशेषिक दार्शनिकों ने अदृष्ट के अन्तर्गत रखा। इस प्रकार इन दार्शनिकों ने प्रतिपादित किया कि रागादि दोषों से संस्कार, संस्कार से जन्म और जन्म से राग-द्वेष और मोह आदि दोष और इन दोषों से संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जीवों की संसार परम्परा बीजांकुर की तरह अनादि है।

सांख्य-योग दर्शन में कहा गया है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से क्लिष्ट वृत्ति की उत्पत्ति होती है। इस क्लिष्ट वृत्ति से धर्म-अधर्म रूपी संस्कार की उत्पत्ति होती है। यही संस्कार आशय, वासना, कर्म और अपूर्व कहलाता है।[7]

मीमांसा दर्शन का मत है कि जीवों द्वारा किया जाने वाला यज्ञ आदि

---

१. न्यायभाष्य, १।१।२।
प्रशस्तपादभाष्य, हिन्दी-अनुवाद-सहित, पृ० ४७।

२. योगदर्शन भाष्य, १।५।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, २।१५; शास्त्रदीपिका, पृ० ८०; मीमांसासूत्र (शावर भाष्य), २।१।५।

४. शांकर भाष्य, २।१।१४।

५. विसुद्धिमग्ग, १७।११०। अभिधर्मकोष, १।९।

६. न्यायभाष्य, १।१।२।

७. योगदर्शन भाष्य, १।५।

अनुष्ठान 'अपूर्व' नामक पदार्थ को उत्पन्न करता है। यही 'अपूर्व यज्ञादि अनुष्ठानों का फल देता है। यहाँ स्पष्ट है कि 'अपूर्व' वह शक्ति है जो वेद द्वारा प्ररूपित कर्म से उत्पन्न होती है।[1]

शंकराचार्य ने शंकर-भाष्य में विश्व-वैचित्र्य का कारण अनादि, अविद्या या माया को माना है।[2] मायाजन्य ईश्वर कर्म के अनुसार जीवों को फल प्रदान करता है।[3]

बौद्ध दर्शनानुसार राग, द्वेष और मोह से कर्मों की उत्पत्ति होती है। विसुद्धिमग्ग में कर्म को अरूपी कहा गया है।[4] रागादि से मन, वचन और काय की प्रवृत्ति होती है। मानसिक क्रियाजन्य संस्कार रूप, कर्म, वासना और वचन एवं कायजन्य संस्कार-कर्म अविज्ञप्ति कहलाता है।[5] सौत्रान्तिक कर्म का समावेश अरूप मानते हैं, वे अविज्ञप्ति को नहीं मानते हैं।[6] विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक 'कर्म' के लिए वासना शब्द का प्रयोग करते हैं। शून्यवादी अनादि-अविद्या शब्द द्वारा वासना की व्याख्या करते हैं।

जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप :

भारतीय दर्शन में विभिन्न दार्शनिकों ने जिसे संस्कार, वासना, अदृष्ट, क्लेश और अविद्या कहा है, जैन दार्शनिकों ने उसके लिए कर्म का प्रयोग किया है। इस दर्शन में कर्म की वास्तविक सत्ता मानी गयी है। जैनागमों में मान्य तेईस वर्गणाओं[7] में एक कार्मणवर्गणा (अर्थात्—कर्म बनने योग्य पुद्गल-परमाणु) भी है। यही पुद्गल-परमाणु राग-द्वेष से आकृष्ट होकर आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का घात करके उसकी स्वतन्त्रता को रोक देते हैं, इसलिए ये पुद्गल-परमाणु कर्म कहलाते हैं। कहा भी है "जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है, वह कर्म कहलाता है। दूसरे शब्दों

१. शाबर भाष्य, २।१।५।
२. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, २।१।१४।
३. वही, ३।२।३८-४१।
४. विशेषावश्यक भाष्य, १७।११०।
५. प्रमाणवार्तिक अलंकार, पृ० ७५।
६. जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ४२४।
७. गोम्मटसार (जीवकाण्ड)। (समान गुणयुक्त सूक्ष्म अविच्छेद अविभागी समूह को वर्गणा कहते हैं)। विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—षट्खण्डागम, पु० १४, ख० ५, भा० ६, सूत्र ७६-९७ एवं ७०८-१७।

में जीव मिथ्यादर्शनादि परिणामों के द्वारा जिन्हें उपार्जित करता है, वे कर्म कहलाते हैं।[1] अकलंकदेव 'तत्त्वार्थवार्तिक' में कर्म की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—"निश्चयनय की दृष्टि से वीर्यान्तिराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा आत्मपरिणाम और पुद्गल के द्वारा पुद्गल परिणाम एवं व्यवहार-नय की दृष्टि से आत्मा के द्वारा पुद्गल-परिणाम और पुद्गल के द्वारा आत्मपरिणाम करना कर्म है"।[2] इसी प्रकार कर्म की और भी अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं, जिनका भाव उपर्युक्त ही है।

जैन दर्शन के सिद्धान्तानुसार यद्यपि आत्मा और कर्म का अपना-अपना स्वतन्त्र स्वरूप एवं अस्तित्व है, तथापि आत्मा और कर्म का परस्पर में सम्बन्ध है। इनका यह सम्बन्ध धन और धनी जैसा तात्कालिक नहीं है, बल्कि सोना और किट्टकालिमा की तरह अनादिकालीन है।[3] दूसरी बात यह है कि इस समस्त संसार में डिबिया में भरे हुए काजल की तरह सूक्ष्म और बादर कर्म पुद्गल-परमाणु से भरे हुए हैं, ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ कर्म पुद्गल-परमाणु न हों।[4] लेकिन ये समस्त कर्म पुद्गल-परमाणु कर्म नहीं कहलाते हैं। इनकी विशेषता यही है कि इनमें "कर्म" बनने की योग्यता है। अनादिकालीन कर्म-मलों से युक्त जीव जब रागादि कषायों से संतप्त होकर कोई मानसिक, वाचिक या कायिक क्रिया करता है तब कार्मणवर्गणा के पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार लोहा चुम्बक की ओर आकर्षित होता है या जिस प्रकार अग्नि से संतप्त लोहे का गोला पानी में डालने पर चारों ओर से पानी खींचता[5] है। उपर्युक्त क्रियाओं के करने से आत्मप्रदेशों में उसी प्रकार विक्षोभ या कम्पन होता है, जिस प्रकार तूफान के कारण समुद्र के पानी में चंचल तरंगें उत्पन्न होती हैं। आगमिक शब्दावली में इस प्रकार आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द होने को योग कहते हैं।[6] 'योग' के कारण ही कर्म-योग्य पुद्गल परमाणुओं का आत्मा की ओर आना आगम की परिभाषा में

---

१. आप्तपरीक्षा, ११३। भगवती आराधना, विजयोदया टीका, पृ० ७१।
२. तत्त्वार्थवार्तिक, ६।१।७।
३. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० २।
४. पञ्चास्तिकाय, गा० ६४।
५. तत्त्वार्थवार्तिक, ६।२।५१।
६. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१। पञ्चाध्यायी, २।४५,१०९-१००। सर्वार्थसिद्धि, २।२६, ६।१।

'आस्रव' कहलाता है।[1] कहा भी है, "जिससे कर्म आते हैं, वह आस्रव कहलाता है। पुण्य-पाप रूप कर्मों के आगमन द्वारा आस्रव कहलाता है। जैसे; नालियों द्वारा लाये गये जल से तालाव भर जाता है, उसी प्रकार मिथ्या दर्शनादि स्रोतों से आत्मा में कर्म आते हैं"।[2] आस्रव जीव के शुभ-अशुभ कर्मों के आने का द्वार है। आस्रव के कारण परमाणु आकर आत्म-प्रदेशों में दूध और पानी की तरह मिल जाता है, तव वे कार्मणपुद्गल-परमाणु कर्म कहलाते हैं।[3] दूसरे शब्दों में जब तक पुद्गल-परमाणु राग-द्वेष से युक्त आत्मा से सम्बन्धित नहीं हो जाते हैं, तव तक वे कार्मण पुद्गलपरमाणु नहीं कहलाते हैं। दार्शनिक भाषा में कहा जा सकता है कि परस्पर एक क्षेत्रावगाही हो कर आत्मा और पुद्गल परमाणुओं का घनिष्ठ सम्बन्ध को प्राप्त होना ही कर्म है। धवलाकार ने कहा भी है कि 'संसार में रागद्वेष-रूपी उष्णता से संयुक्त वह आत्मा-रूप दीपक योग-रूप वत्ती के द्वारा कार्मणवर्गणा-स्कन्धरूप-तेल ग्रहण करके कर्म-रूप काजल में परिणत होता है। कर्म और आत्मा के इस प्रकार के सम्बन्ध को जैन दार्शनिक शब्दावली में 'वन्ध' कहा गया है।[4] क्योंकि कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का घात करके इस प्रकार परतन्त्र कर देते हैं कि आत्मा विभाव रूप से परिणमन करने लगती है।[5] भट्टाकलंकदेव ने भी कहा है कि "इष्ट देश को गमन न कर सके, इस प्रकार खूँटी में रस्सी आदि से वाँध देना 'वन्ध' कहलाता है।"[6] अमृतचन्द्रसूरि ने 'पंचास्तिकाय' की टीका में कहा है—"निश्चय नय की अपेक्षा से अमूर्त जीव अनादि काल से मूर्त कर्म के कारण रागादि परिणामों से स्निग्ध होता हुआ मूर्त कर्मो का विशेष रूप से अवगाहन करता है और उस परिणाम को पाकर मूर्त कर्म भी जीव का विशिष्ट रूप से अवगाहन करते हैं।"[7] बन्ध के विश्लेषण में बतलाया गया है कि राग, द्वेष और मोह के कारण कर्म-रूपी रज आत्म-प्रदेशों में चिपक जाती

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ६।२।

२. तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।९, ६।२।४-५। सर्वार्थसिद्धि, ६।२।

३. पञ्चास्तिकाय, गाथा ६५-६६।

४. तत्त्वानुशासन, ६। सकषायत्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यान् पुद्गलानादत्ते स वन्धः।—तत्त्वार्थसूत्र, ८।२।

५. धवला, पु० १५, सू० ३४। तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।१७, पृ० २६। भगवती आराधना विजयोदया टीका, गा० ३८, पृ० १३४। सर्वार्थसिद्धि, ७।२५।

६. तत्त्वार्थवार्तिक, ७।२५।१।

७. पंचास्तिकाय, गाथा १३४।

है।[1] कहा भी है—संसारी जीव के राग-द्वेष-रूप परिणाम होते हैं और रागादि परिणामों से नवीन कर्मों का बन्ध होता है और इन नवीन कर्मों के कारण उसे नरकादि चार गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। इन गतियों में जीव के जन्म ग्रहण करने पर उससे शरीर, शरीर से इन्द्रियाँ और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण और विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष परिणाम होते हैं और पुनः उन राग-द्वेष से कर्मों का बन्ध होता है।[2] इस प्रकार राग-द्वेष ही कर्मबन्ध के प्रमुख कारण हैं, इनसे कर्मों का प्रवाह बना रहता है। 'ममकार' और 'अहंकार' ही राग-द्वेष हैं। आचार्य रामसेन ने राग-द्वेष को मिथ्यादर्शनमोहनीय कर्मरूप राजा का सेनापति बतलाया है[3], क्योंकि इन्हीं से कषाय और नो-कषाय उत्पन्न होती हैं।[4]

कषाय गोंद या पानी की तरह और योग-वायु की तरह है। जिस प्रकार वायु द्वारा लाई गयी धूल गीली या गोंद-युक्त दीवार पर चिपक जाती है किन्तु साफ स्वच्छ और सूखी दीवार पर नहीं चिपकती (बल्कि स्वतः झड़ कर गिर जाती है), उसी प्रकार योग-रूप वायु के द्वारा लाई गयी कर्म-रूप रज कषाय-रूप गोंद से युक्त आत्मप्रदेश-रूप दीवार पर चिपक जाती है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि सभी जीवों में न तो कर्मों की मात्रा बराबर होती है और न उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति समान होती है। जैन चिन्तकों ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कर्म परमाणुओं का कम या अधिक मात्रा में आना, योग-वायु के वेग पर आधारित है और उनका कम या अधिक समय तक बना रहना तथा उनके द्वारा आत्म-गुणों का घात होना, कषाय-रूप गोंद के गाढ़े—पतलेपन अथवा उसकी कम या अधिक मात्रा पर निर्भर करता है।[5] कुन्दकुन्दाचार्य ने भी 'समयसार' में राग-द्वेष-रूप कषाय को तेल की तरह चिकना मानकर उदाहरण द्वारा सिद्ध किया है कि रागादि-रूप स्निग्धता ही कर्म-रूप रज के आत्म-प्रदेशों में चिपकने का प्रमुख कारण है[6]। भट्टाकलंकदेव

---

१. प्रवचनसार, २।८८ एवं ९५। समयसार, गाथा ११९, १६७।

२. पंचास्तिकाय, गा० १२८-३०। भगवतीसूत्र, ९।

३. तत्त्वानुशासन, श्लोक १२-१३।

४. वही, १७-१९। अध्यात्मरहस्य, २७।

५. (क) तीव्रमन्दज्ञातऽज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।

—तत्त्वार्थसूत्र, ६।६।

(ख) तत्त्वार्थवार्तिक : भट्टाकलंकदेव : ६।२।५।

६. समयसार, गा० २३७-४६।

ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार किसी वर्तन में अनेक प्रकार के रस वाले अनेक प्रकार के बीज, फल, फूल आदि मदिरा-रूप में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्‌गलों के योग और कषाय के कारण कर्म-रूप परिणमन होता है। यही 'बंध कहलाता है'।[1]

कर्म आत्मा के स्वभाव का घात करते हैं : कर्म आत्मा से बंध कर आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर आवरण डाल कर, जीव को उसी प्रकार उन्मत्त कर देते हैं, जिस प्रकार जीव मद्य से मदोन्मत्त हो जाता है। कहा भी है—"ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप आत्मा को मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय-रूप कर्म-मल उसी प्रकार से मलिन कर देते हैं, जिस प्रकार मैल सफेद वस्त्र को मलिन कर देता है"।[2]

आत्मा और कर्म का सम्वन्ध : आत्मा और कर्म दोनों द्रव्य विजातीय हैं, फिर भी इनका परस्पर घनिष्ठ सम्वन्ध है। कोई भी संसारी आत्मा कर्म-रहित नहीं होती। पहले भी कहा जा चुका है कि आत्मा और कर्म का अनादि-काल से सम्वन्ध है। तत्त्वार्थसूत्र के "सकषाय—" सूत्र में आये हुए 'कर्मणो-योग्यान्' विशेषण से भी आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि सिद्ध होता है। इस विशेषण की व्याख्या करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि पूर्वजन्म के कर्म के कारण जीव कषाययुक्त होता है और कषायों के कारण कर्म आते हैं। कषाय-रहित जीवों के वन्ध नहीं होता है। अतः सिद्ध है कि जीव और कर्म का बीज और वृक्ष की तरह अनादिकालीन कार्य-कारण सम्वन्ध है। कर्म से कषाय और कषाय से कर्म, यह परम्परा वीज और वृक्ष की तरह अनादि काल से प्रवाहित हो रही है और तव तक होती रहेगी, जब तक संसार में जीवों का अस्तित्व है।[3] अन्य आचार्यों ने भी पूज्यपाद की तरह कर्म और जीव का सम्बन्ध अनादि माना है। पुराने कर्म प्रतिक्षण फल दे कर आत्मा से अलग होते रहते हैं। आत्मा के रागादि परिणामों के कारण नवीन कर्म आत्मा के प्रदेशों से वन्ध करते रहते हैं। कहा भी है—"जिस प्रकार भण्डार से पुराने चावल निकाल लिये जाते हैं और नये भर दिये जाते हैं, उसी प्रकार अनादि कार्मण शरीर-भण्डार में कर्मों का आना-जाना होता रहता है।[4]" पंचाध्यायीकार

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।२।९। और भी देखें—धवला, १३।५।५ सूत्र ८२, पृ० ३४७।

२. समयसार, गा० १६०–१६३।

३. सर्वार्थसिद्धि, ८।२।, पृ० ३७७।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।२।१२।

ने भी आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को अनादि सिद्ध करते हुए बतलाया है कि अग्नि की स्वाभाविक उष्णता की तरह आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होना स्वतःसिद्ध है। अतएव इनका सम्बन्ध किसने और कब किया, इस प्रकार के प्रश्न ही निरर्थक हैं।[१]

(ख) आत्मा और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है :

जैनदर्शन में अभिमत छह द्रव्यों में कोई भी द्रव्य किसी द्रव्य का कर्त्ता नहीं है, सभी द्रव्य अपने स्वाभाविक रूप से परिणत होते हैं।[२] यहाँ प्रश्न होता है कि यदि जीव-द्रव्य पुद्गल-कर्म को नहीं करता है, तो कर्म क्यों आत्मा को फल देता है और आत्मा क्यों उसके फलों का उपभोग करती है? इस समस्या का समाधान यह है कि आत्मा और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।[३] कहा भी है—"जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्म-रूप से परिणत होते हैं और कर्म जीव-गुणों का उद्भावक नहीं है, किन्तु दोनों में परस्पर निमित्त होने से परिणमन होता है।[४] पंचाध्यायीकार ने भी जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक भाव सिद्ध करते हुए कहा है कि जीव के अशुद्ध रागादि भावों के कारण ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म हैं और उन द्रव्य कर्मों के कारण रागादिभाव हैं। अतः कुम्भ और कुम्भकार की तरह जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध होता है।[५] इस प्रकार सिद्ध है कि आत्मा और कर्म में अनादि रूप से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इन दोनों में जो कमजोर होता है, उसे बलवान् अपने अनुकूल कर लेता है।

जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने से इतरेतराश्रय नामक दोष भी नहीं आता है; क्योंकि परस्पर में एक-दूसरे पर आश्रित होना इतरेतराश्रय दोष कहलाता है। आत्मा और कर्म एक दूसरे पर आश्रित नहीं हैं। आत्मा के साथ कर्म अनादि काल से सम्बद्ध है। अतः उसी पूर्वबद्ध कर्म के कारण नवीन कर्म आते हैं।[६]

---

१. पञ्चाध्यायी, २।५३-५४।

२. समयसार, गा० १०३। प्रवचनसार, २।९२।

३. समयसार, आत्मख्याति टीका, ३१२-३१३।

४. समयसार, गा० ८०-८१।९१।११९। पञ्चास्तिकाय, गा० ६१-६५। प्रवचनसार, गाथा २।७७। मूलाचार, गाथा ९६७।

५. पं० ध० : पञ्चाध्यायी, गा० २।४१।१०६।१०९६-७१।

६. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० २९।

कर्म की मूल विशेषताएँ : १. कर्म सूक्ष्म, बलवान्, चिकने, भारी, वज्र के समान कठोर, प्रचुर एवं अविनाशी होते हैं।[1]

२. कर्म आत्मा को परतन्त्र करके तीनों लोकों में भ्रमण कराता है।[2]

३. कर्मशक्ति अचिन्त्य, आत्मशक्ति की बाधक और मोक्षहेतु का तिरोधान करने वाली होती है।[3]

४. कर्म अपनी शक्ति से केवलज्ञान स्वभाव को नष्टकर देते हैं,[4] लेकिन जीव को नष्ट नहीं कर सकते हैं।[5]

५. जीव और कर्म का संयोग स्फटिक और तमाल-पत्र के संयोग की तरह है।

६. कर्मों की विचित्रता से ही जीव के प्रदेशों का संघटन, विच्छेद, बन्धन एवं विस्तार-संकोच होता है।

७. सुख-दुःख की उत्पत्ति बलिष्ठ कर्मों के कारण ही सम्भव है।

८. पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्म जीव के बन्धन के लिए सोने और लोहे की जंजीर की तरह हैं।[6]

कर्म-अस्तित्व-साधक तर्क

१. संसार की विचित्रता कर्म के अस्तित्व का साधक है : संसार में अनेक प्रकार की विचित्रताएँ दृष्टिगत होती हैं। कोई दरिद्र है, कोई धनी है, किसी को अथक पुरुषार्थ करने पर भी सफलता नहीं मिलती है और किसी को थोड़ा प्रयत्न करने पर ही अभीष्ट की उपलब्धि हो जाती है। यहाँ तक कि सांसारिक जीवों को अनिच्छापूर्वक भी महान् कष्टों को भोगना पड़ता है। इस प्रकार, सांसारिक विषमताएँ, सुख-दुःख, इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग आदि कार्य सिद्ध करते हैं कि इनका कोई-न-कोई अदृश्य कारण अवश्य है।[7] अतः उक्त कार्यों का जो भी कारण है, वही कर्म कहलाता है।[8] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) की टीका में कहा भी है : "कर्म के विना दरिद्र, लक्ष्मीवान् आदि विचित्रतायें

---

१. परमात्मप्रकाश, गा० १।७८।
२. वही, गा० १।६६; तत्त्वार्थवार्तिक, ५।२४।९, पृ० ४८८।
३. पञ्चाध्यायी, उत्तरार्ध १०५, ३२८, ६८७ एवं ९२५।
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० २११।
५. धवला, पु० १२, खं० ४, भाग २, सू० ६, पृ० २९७।
६. समयसार, गा० १४६।
७. भारतीय दर्शन की रूपरेखा : प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, पृ० १३।
८. पञ्चाध्यायी, उ० का०, ५०।

सम्भव नहीं है" ।[1] मज्झिमनिकाय में भी उपर्युक्त विषमता का कारण कर्म बतलाया गया है ।

२. कर्म के अस्तित्व में दूसरा प्रमाण ज्ञान का हीनाधिक होना है । समस्त जीवों का ज्ञान एक-सा सदैव नहीं बना रहता है । अतः इसका अवश्य कोई कारण होना चाहिए, और जो भी ज्ञान के हीनाधिक भाव का कारण है, वह कर्म ही है । अतः सिद्ध है कि कर्म की सत्ता है ।[2]

३. जीव के कार्यरूप विभिन्न पर्यायों का कोई कारण अवश्य है । यदि उनका कारण न माना जाए तो समस्त कार्यों को भी अकारण मानना होगा, जो असंगत है । अतः कर्म जीव की विभिन्न पर्यायों का उसी प्रकार कारण है, जिस प्रकार दीपक ज्योति का कारण है । कहा भी है—"जिस प्रकार ज्योति तेल के स्वभाव को अपने स्वभाव से नष्ट करके प्रदीप्त होने का कार्य करती है, उसी प्रकार कर्म जीव के स्वभाव का घात करके उसके मनुष्य आदि पर्याय-रूप कार्यों का जनक होता है ।"[3] भट्टाकलंकदेव ने भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा है कि—"मनुष्य, शेर, भेड़िया, चीता, सांप आदि में शूरता-क्रूरता आदि धर्म परोपदेश पूर्वक न हो कर नैसर्गिक होते हैं । ये आकस्मिक भी नहीं हैं, क्योंकि कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं ।"[4] इस प्रकार आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं के कारण के रूप में कर्म का अस्तित्व सिद्ध है ।

४. विशेषावश्यकभाष्य में कर्मास्तित्व सिद्ध करते हुए कहा गया है कि जीव के सुख-दुःख अंकुर की तरह कार्य रूप होने से उनके कारण के रूप में कर्म की सत्ता सिद्ध हो जाती है ।[5] चंदनादि विषयों को सुख का कारण और विष-कंटकादि को दुःख का कारण मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वे सभी के लिए समान रूप से सुख-दुःख नहीं पहुँचाते हैं । दूसरी बात यह है कि कंटकादि किसी के लिए दुःखकारक हैं तो किसी के लिए सुखकारक भी हैं । अतः सुख-दुःख के कारण के रूप में कर्म की सत्ता सिद्ध होती है ।[6]

---

१. गोम्मटसार (जीवकांड), जीवतत्त्वप्रदीपिका ।

२. एदस्स पमाणस्स वड्ढिहाणि-तर-तमभावो ण ताव णिक्कारणो;.... । तम्हा सकारणाहि.... .... । जं तं हाणि-तर-तमभावकारणं तमावरणमिति सिद्धं । कसायपाहुड, १।१।१, प्रकरण ३७-८, पृ० ५६ ।

३. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गा० ११७ ।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, १।३।६, पृ० ३३ ।

५. विशेषावश्यकभाष्य, गणधरवाद, गा० १६१०-२ ।

६. वही, गा० १६१२-३ ।

५. बाल-शरीर अवश्य ही किसी कारण से हुआ है। जिस प्रकार युवाशरीर बाल शरीर के बाद होता है, उसी तरह बाल-शरीर भी किसी अन्य शरीर पूर्वक होना चाहिए। अतः बाल-शरीर जिस शरीरान्तर पूर्वक होता है, वह कार्मण शरीर है और कार्मण शरीर ही कर्म कहलाता है। इस प्रकार शरीर के निर्माण के कारण-रूप में कर्म की सत्ता सिद्ध है।[1] न्यायदर्शन में भी धर्माधर्म से प्रेरित पंचभूतों से शरीर की उत्पत्ति बतलाई गयी है।[2]

६. कर्म-अस्तित्व की सिद्धि के सन्दर्भ में एक अनुमान यह भी है कि दानादि क्रियाओं का फल अवश्य ही होना चाहिए क्योंकि चैतन्यस्वरूप व्यक्ति की क्रियाएं हैं। जिस प्रकार सचेतन किसान की कृषि-क्रिया निष्फल नहीं होती, उसी प्रकार दानादि क्रियाएं भी निष्फल नहीं होनी चाहिए। अतः दानादि क्रियाओं के फल के रूप में कर्म की सत्ता सिद्ध होती है।[3]

यदि कर्म का अस्तित्व न माना जाय तो दानादि क्रियाएँ, तपस्यादि अनुष्ठान, बन्ध, मोक्ष तथा संसार की विविधता आदि को निर्हेतुक मानना होगा, जो असम्भव एवं तर्कहीन होगा। उपर्युक्त सांसारिक विविधता आदि सहेतुक हैं और उनका कारण कर्म है, इसलिए सिद्ध है कि कर्म का अस्तित्व है।

कर्म की मूर्त-सिद्धि :

जैन दर्शन में कर्म को भौतिक-पौद्गलिक या मूर्तिक बतलाया गया है, क्योंकि कर्म में स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण होते हैं।[4] आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्म को मूर्तिक कहते हुए कहा है कि कर्म के फलस्वरूप जीव स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों को भोगता है एवं सुख-दुःख का अनुभव करता है, इसलिए सिद्ध है कि कर्म मूर्तिक हैं।[5] विद्यानन्द ने भी कुन्दकुन्द की इस मान्यता का अनुकरण 'आप्तपरीक्षा' में किया है।[6]

२. आचार्य पूज्यपाद[7] ने समस्त शरीरों को पौद्गलिक तथा मूर्तिक सिद्ध करते हुए कहा है कि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक है; क्योंकि वह मूर्तिमान्

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गणधरवाद, गा० १६१४।

२. न्यायसूत्र, ३।२।६३।

३. विशेषावश्यकभाष्य, गणधरवाद, गा० १६१५-११।

४. धवला, पु० १३, खं० ५, भा० सूत्र २४, पृ० ४८-५०।

५. पञ्चास्तिकाय, गा० १३३।

६. आप्तपरीक्षा, श्लोक ११५, पृ० २५६।

७. सर्वार्थसिद्धि, ५।१९, पृ० २८५।

पदार्थों के सम्बन्ध से फल देता है। जिस प्रकार मूर्तिक जलादि पदार्थों के सम्बन्ध से पकने वाले धान पौद्गलिक होते हैं, उसी प्रकार कार्मण शरीर भी गुड़, कांटा आदि इष्ट-अनिष्ट मूर्तिक पदार्थों के मिलने पर फल प्रदान करता है। इससे सिद्ध है कि कार्मण पौद्गलिक है। भट्टाकलंकदेव ने भी यही कहा है।[1]

३. कर्म के कार्यों को देख कर भी उसका मूर्तिक होना सिद्ध होता है। जिस प्रकार परमाणुओं से निर्मित घट कार्य को देख कर उसके कारणभूत परमाणुओं को मूर्तिक माना जाता है, उसी प्रकार कर्म के कार्य औदारिकादि शरीरों को मूर्तिक देख कर सिद्ध होता है कि कर्म मूर्तिक हैं।[2] यदि ऐसा न माना जाए तो अमूर्त पदार्थों से मूर्त पदार्थों की उत्पत्ति माननी होगी, जो असंगत है; क्योंकि अमूर्तिक कारणों से मूर्त कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है।[3]

४. आचार्य गुणधर ने कर्म को मूर्तिक सिद्ध किया है और कहा है कि कृत्रिम होते हुए भी कर्म मूर्तिक हैं; क्योंकि मूर्त दवा के खाने से परिणामान्तर होता है अर्थात्—रुग्णावस्था स्वस्थावस्था में परिवर्तित हो जाती है।[4] यदि कर्म मूर्तिक न होता तो मूर्त दवा से कर्मजन्य शरीर में परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

५. जिनभद्रगणि ने भी कर्म को मूर्तिक सिद्ध करते हुए कहा है कि कर्म मूर्त हैं, क्योंकि आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध होने पर उसी प्रकार सुख-दुःख की अनुभूति होती है, जिस प्रकार मूर्त भोजन करने से सुखादि की अनुभूति होती है।[5]

६. कर्म में मूर्तत्व की सिद्धि के लिए एक यह भी अनुमान दिया गया है कि अमूर्त पदार्थों से वेदना का अनुभव नहीं होता है, जैसे आकाश। यदि कर्म अमूर्त होते, तो उनसे भी वेदना का अनुभव नहीं होना चाहिए, लेकिन कर्म के सम्बन्ध में प्राणियों को वेदना का अनुभव होता है। अतः सिद्ध है कि कर्म मूर्तिक हैं। मूर्त अग्नि के साथ सम्बन्ध होने से जिसप्रकार वेदना की अनुभूति होती है, उसी प्रकार कर्म के सम्बन्ध से वेदना का अनुभव होता है, जो उसे मूर्त सिद्ध करता है।[6]

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ५।१९।१९।

२. विशेषावश्यक भाष्य, गणधरवाद, गा० १६२५।

३. औदारिकादिकार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत्।
न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भः क्वापि दृश्यते ॥—तत्त्वार्थसार, ५।१५।

४. कसायपाहुड, १।१।१, पृ० ५७।

५. विशेषावश्यकभाष्य, गा० १६२६।

६. वही।

७. कर्म को मूर्त सिद्ध करने वाला एक हेतु यह भी है कि कर्म का परिणाम अमूर्त आत्मा के परिणाम से भिन्न होता है। अतः परिणाम की विभिन्नता से उक्त दोनों द्रव्यों, अर्थात् आत्मा और कर्म में विपरीतता एवं विभिन्नता सिद्ध होती है। अतः सिद्ध है कि कर्म अमूर्त आत्मा से विपरीत, अर्थात् मूर्त स्वभाव वाले हैं।[1] इसप्रकार अनेक अनुमानप्रमाणों से कर्म को मूर्तिक सिद्ध किया गया है।

८. आप्त वचन से भी कर्म मूर्त सिद्ध होता है। "समयसार" में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा भी है—"आठों प्रकार के कर्म पुद्गल-स्वरूप हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।[2]" पुद्गल मूर्तिक हैं इसलिए कर्म भी मूर्तिक सिद्ध होता है।

अमूर्त आत्मा से मूर्त कर्मों की बन्ध-प्रक्रिया :

कर्म का मूर्तत्व सिद्ध हो जाने के बाद यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि उनका बन्ध अमूर्त आत्मा के साथ किस प्रकार होता है[3] ? क्योंकि, मूर्त पदार्थ का मूर्त के साथ ही बन्ध हो सकता है, अमूर्त के साथ नहीं। इस विषय पर जैन दार्शनिकों ने विभिन्न पद्धतियों से विचार किया है—

१. पहली बात तो यह है कि अनेकान्तवादी जैन दर्शन में आत्मा एकान्त रूप से अमूर्त ही नहीं है। यद्यपि आत्मा निश्चय नय या शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा अमूर्त है, किन्तु व्यवहार नय या कर्मबन्ध पर्याय की अपेक्षा मूर्त है। अतः संसारी आत्मा कर्म-संयुक्त होने से कथंचित् मूर्त होने के कारण उसके साथ मूर्त कर्मों का बन्ध हो जाता है।[4]

२. दूसरी बात यह है कि आत्मा और कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध है। पूज्यपादाचार्य ने "सकषाय...." इत्यादिसूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है जो जीव कषाय-सहित होता है, उसे कर्म का लेप होता है, कषाय-रहित जीव को नहीं। इससे जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध सिद्ध होता है और अमूर्त आत्मा और मूर्त कर्म के साथ किस प्रकार बन्धता है, इस प्रश्न का निराकरण हो

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, गा० १६२७।

२. समयसार, गा० ४५।

३. प्रवचनसार, २।८१।

४. (क) सर्वार्थसिद्धि, २।७।

(ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ८।१।२३-४। तत्त्वार्थसार, ५।१७-९।

द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ७, पृ० २०। धवला पु० १३, खं० ५, भाग ३ सू० १२।

जाता है।[१]" "पंचास्तिकाय" की टीका में भी कहा है कि अनादिकाल से जीव कर्म संयुक्त होने के कारण मूर्तिक हैं। स्पर्शादि गुणों से युक्त कर्म आगामी कर्मों को स्निग्ध-रूक्ष गुणों के द्वारा बांधता है। इस प्रकार मूर्तिक कर्म के साथ बन्ध होता है। निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा अमूर्तिक है। अनादिकाल से कर्म से युक्त होने के कारण आत्मा राग-द्वेष आदि भावों के द्वारा नये कर्मों को बांधता है। इस प्रकार पहले से बँधे कर्मों के कारण जीव नवीन कर्मों से बँध जाता है।[२]

३. कुन्दकुन्द ने अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का वन्ध किस प्रकार सम्भव है, यह बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार आत्मा अमूर्त होकर घट, पट आदि मूर्त द्रव्यों और उनके गुणों को जानता है, देखता है, उसी प्रकार अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म के साथ वन्ध हो जाता है।[३] इसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि जिस प्रकार कोई बालक मिट्टी के कड़े (वलय) को अपना मान कर देखता और जानता है। यद्यपि उस कड़े का उस बालक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन कोई उस कड़े को तोड़ दे तो उसे महान् दुःख होता है। इसी प्रकार कर्म-युक्त आत्मा रागी, द्वेषी और मोही होकर सांसारिक पदार्थों को देखता और उससे ममत्व-भाव रखता है। इस प्रकार राग-द्वेष से युक्त अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का बन्ध हो जाता है।[४]

४. चौथी बात यह है कि जिस प्रकार मूर्त मदिरा अमूर्त मति एवं श्रुतज्ञान को प्रभावित करती है, उसी प्रकार मूर्त कर्म अमूर्त आत्मा को प्रभावित करते हैं।[५]

५. विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि जिस प्रकार मूर्तिक घट का अमूर्तिक आकाश के साथ सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार मूर्तिक कर्म का अमूर्तिक आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है। दूसरा उदाहरण यह भी दिया गया है कि जिस प्रकार मूर्त अंगुलि का आकुंचनादि अमूर्तिक क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है, उसी तरह मूर्त कर्म का अमूर्त जीव के साथ सम्बन्ध होता है।[६]

कर्म आत्मा का गुण नहीं है : न्याय-वैशेषिक दर्शन कर्म को अदृष्ट मान कर

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ८।२ तत्त्वार्थवार्तिक ८।२।४।

२. पञ्चास्तिकाय, तत्त्वप्रदीपिका टीका, गा० १३४।

३. प्रवचनसार, गा० २।८२।

४. प्रवचनसारटीका, २।८२, पृ० २१६।

५. पञ्चाध्यायी, उ०, २।५७-६०। विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १३३७।

. विशेषावश्यकभाष्य, (गणधरवाद) गा० १६३७।

उसे आत्मा का गुण मानते हैं; किन्तु जैन दार्शनिक कर्म को आत्मा का गुण न मान कर दोनों को भिन्न-भिन्न द्रव्य मानते हैं। यदि कर्म को आत्मा का गुण मान लिया जाए, तो कर्म उसके बन्धन के कारण नहीं हो सकेंगे, क्योंकि कोई गुण अपने आधार को ही बंधन में नहीं डाल सकता।[1] बन्धन न होने के कारण सदैव आत्मा को स्वतन्त्र अर्थात् शुद्ध, बुद्ध और मुक्त मानना पड़ेगा, और ऐसा मानना तर्क-संगत नहीं होगा। दूसरी बात यह होगी कि संसार का अभाव हो जाएगा एवं मोक्ष के लिए किये जाने वाले सभी तप आदि प्रयास व्यर्थ हो जायेंगे। अतः कर्म को आत्मा का गुण मानना ठीक नहीं है।[2] आत्मा का गुण मान कर कर्म को बन्ध का कारण मानने से कभी आत्मा मुक्त न हो सकेगी, क्योंकि गुण के नष्ट होने से गुणी भी नष्ट हो जाएगा। कर्म को आत्मा का गुण मानने से एक दोष यह भी आयेगा कि गुण कभी गुणी से अलग नहीं हो पायेगा।[3] इसलिए जिस प्रकार संसारी आत्मा के साथ कर्म रहेगा, उसी प्रकार मुक्तात्मा के साथ भी रहेगा, फलतः दोनों प्रकार की आत्माओं में कोई भेद नहीं रह जायेगा। अतः सिद्ध है कि कर्म आत्मा का गुण न हो कर विजातीय द्रव्य है।

कर्म की अवस्थाएँ : कर्म से युक्त संसारी जीव के बद्ध एवं बद्धमान कर्मों की अपने आश्रव से लेकर फल देने पर्यन्त विविध दशाएँ होती हैं, जो निम्नांकित हैं[4]—

१. बन्धन : कर्म आत्मा के साथ उसी प्रकार मिल जाते हैं, जिस प्रकार सोने और चांदी को एक साथ पिघलाने पर दोनों के प्रदेश मिल कर एक रूप हो जाते हैं। कर्मप्रदेशों और आत्मप्रदेशों का मिल कर एक रूप हो जाना, यही बन्ध कहलाता है।[5] यह कर्म की प्रथम तथा महत्वपूर्ण अवस्था है, क्योंकि शेष कर्म की अवस्थाएँ इसी पर निर्भर करती हैं।

२. सत्ता : सत्ता कर्म की दूसरी अवस्था है। सत्ता का अर्थ अस्तित्व या सत्ता है। फल प्राप्ति से पहले की अवस्था सत्ता-अवस्था कहलाती है। कहा भी है : पूर्वसंचित कर्म का आत्मा में अवस्थित रहना 'सत्ता' है।[6]

---

१. तत्त्वार्थसार, ५।१४, २०।
२. सर्वार्थसिद्धि, ८।२, पृ० ३७७।
३. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।२।१०, पृ० ५६६।
४. गोम्मटसार (कर्मकांड), गा० ४३८-४०। जैन धर्म दर्शन पृ० ४८५।
५. (क) तत्त्वार्थसार, ५।१९। (ख) नयचक्र, गा० १५४।
६. पञ्चसंग्रह (प्राकृत), ३।३।

३. उदय : कर्मों के फल देने की अवस्था 'उदय' कहलाती है। पूज्यपादाचार्य ने कहा है : "द्रव्यादि के निमित्तानुसार कर्मों के फल की प्राप्ति होना, उदय है।[1]

४. उदीरणा : कर्मोदयावस्था की तरह उदीरणावस्था में भी कर्मफल की प्राप्ति होती है। लेकिन उदया और उदीरणा में अन्तर यह है कि पहली में परिपाक को प्राप्त कर्म स्वयं फल देते हैं और दूसरी में अपाक कर्मों को संयम से पहले अनुष्ठान आदि के द्वारा पका कर फल प्राप्त किया जाता है।[2] जिन पूर्वसंचित कर्मों का अभी तक उदय नहीं हुआ है, उनको वलपूर्वक नियत समय भोगने के लिए पका कर फल देने के योग्य कर देते हैं वह उदीरणा अवस्था कहलाती है। कहा भी है : 'अपक्व कर्मों के पाचन (पकाने) को उदीरणा कहते हैं'।[3]

५. उत्कर्षण : उत्कर्पण का अर्थ उन्नतिशील होना है। तात्पर्य यह है कि वंधन के समय कषायों की तीव्रता आदि के अनुसार कर्मों की स्थिति और अनुभाग होता है। उनकी इस स्थिति और अनुभाग को भी किसी अध्यवसायविशेष के द्वारा बढ़ाना उत्कर्पण कहलाता है।[4] इसे "उद्वर्त्तना" भी कहते हैं।

६. अपकर्षण : अपकर्पण का दूसरा नाम अपवर्त्तना भी है।[5] कर्मों की यह अवस्था उत्कर्षण से विपरीत है। सम्यग्दर्शनादि से पूर्व-संचित कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग को क्षीण कर देना अपकर्पण कहलाता है।[6]

७. संक्रमण : पूर्ववद्ध कर्म की उत्तर प्रकृति को, जीव के परिमाणों के कारण, सजातीय प्रकृतियों में वदलने की अवस्था 'संक्रमण' कहलाती है।[7]

---

१. सर्वार्थसिद्धि, २।१, पृ० १४९; ६।१४, पृ० ३३२। (ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), जीवतत्त्वप्रबोधिनी टीका, गाथा ४३९, पृ० ५१२।

२. धवला, पु० ६, खं० १ भाग ९-८, सू० ४, पृ० २१३।

३. धवला, पु० ६, खं० १, भा० ९-८, सू० ४, पृ० २१३। पञ्चसंग्रह (प्राकृत), ३।३। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), जीवतत्त्वप्रबोधिनी, टीका, गाथा ४३९, पृ० ५९२।

४. धवला पु० १०, खं० ४, सू० २१, पृ० ५२।

५. वही, पृ० ५३ :

६. स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षणं। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), जीवतत्त्वप्रबोधिनी, टीका, गा० ४३८, पृ० ५९१।

७. वही; गा० ४३८, पृ० ५९१। (आयुकर्म कीप्रकृतियों में तथा दर्शन मोहनीय का चारित्र मोहनीय में और चारित्र मोहनीय का दर्शन मोहनीय में संक्रमण नहीं होता है)।

८. उपशमन : उपशमन का अर्थ है, दबाना। अतः कर्मों की उदय-उदीरणा को रोक देना, उपशमन कहलाता है।[1]

९. निधत्ति : कर्म की जिस अवस्था में उद्वर्त्तना और अपवर्त्तना हो सके, लेकिन उदीरणा और संक्रमण न हो, वह अवस्था निधत्त या निधत्ति कहलाती है।[2]

१०. निकाचन : कर्म का जिस रूप में बन्ध हुआ, उसका उसी रूप में भोगना अर्थात् उद्वर्त्तना, अपवर्त्तना, संक्रमण और उदीरणा अवस्थाओं का न होना, निकाचनावस्था कहलाती है।[3]

११. आबाधावस्था : कर्म बन्ध के समय तुरन्त फल न देना, आबाधावस्था कहलाती है।

कर्म और नो-कर्म में भेद : कर्म का अर्थ पहले लिखा जा चुका है, अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करना उचित नहीं है। 'नो' शब्द के दो अर्थ होते हैं, निषेध-रूप एवं किंचित् या ईषत्। यहाँ पर 'नो' का अर्थ किंचित्, ही है। अतः नोकर्म का अर्थ हुआ— किंचित् कर्म। तात्पर्य यह है कि कर्म आत्मा की शक्ति का घात करता है, किन्तु नोकर्म आत्मा की शक्ति का घात नहीं करता है। अतः कर्म से विपरीत लक्षण होने से नोकर्म को अकर्म भी कहा जा सकता है।[4] 'अध्यात्मरहस्य' में कहा है—संसारी जीवों के अंगादिक (शरीर और पर्याप्तियों) की वृद्धि-हानि के लिए पुद्गल-परमाणुओं का समूह कर्मों के उदय से परिणत होता है, वह नोकर्म कहलाता है।[5] अतः औदारिक वैक्रियिक और आहारिक शरीर तथा छह आहारिक पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने को नोकर्म कहते हैं। 'गोम्मटसार' (जीवकाण्ड) में कार्मण शरीर को कर्म और शेष शरीरों को नो-कर्म कहा है; क्योंकि औदारिकादि शरीर कर्म-शरीर के सहकारी होते हैं।[6] अणु, संख्याताणु, असंख्याताणु, अनन्ताणु,

---

१. धवला, पु० ९, खं० ४, भा० १, सू० ४५, पृ० ९१।
२. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ४४०।
३. वही।
४. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवतत्त्वप्रबोधिनी, टीका, गाथा २२४, पृ० ५०८।
५. अध्यात्मरहस्य, ६३।
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० २४४।

आहार, अग्राह्य, तैजस, अग्राह्य, भाषा, अग्राह्य, मनो, अग्राह्य, कार्मण, ध्रुव, सांतरनिरंतर, शून्य, प्रत्येकशरीर, ध्रुवशून्य, बादरनिगोद, शून्य, सूक्ष्मनिगोद, नभो और महास्कन्ध पुद्गल वर्गणा के तेईस भेद हैं। षट्खण्डागम की टीका में २३ प्रकार की वर्गणाओं में से चार कार्मण-वर्गणा (कार्मण, भाषा, मन और तैजस) को कर्म और शेष १९ वर्गणाओं को नोकर्म कहा है।[1] यहाँ वर्गणा से तात्पर्य समान वाले परमाणुपिण्ड से है।

(ख) कर्म के भेद और उनकी समीक्षा :

भारतीय दर्शन मे विभिन्न दार्शनिक परम्परा में कर्म के विभिन्न भेद उपलब्ध हैं। वैदिक-दर्शन में कर्म के तीन भेद किये गये हैं—

१. संचित कर्म : पूर्व जन्म में किये गये जिन कर्मों का अभी फल मिलना आरम्भ नहीं हुआ है, वे संचित कर्म कहलाते हैं।

२. प्रारब्ध कर्म : जिन संचित कर्मों का फल मिलना आरम्भ हो गया है, वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं।

३. क्रियमाण कर्म : जो कर्म वर्तमान समय में किये जा रहे हैं, वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। योगसूत्र में कर्म के तीन भेद—कृष्ण, शुक्ल और शुक्ल-कृष्ण किये गये हैं।[2] न्यायमञ्जरी में शुभ कर्म और अशुभ कर्म की अपेक्षा कर्म के दो भेद भी उपलब्ध हैं।[3]

(अ) जैन दर्शन में कर्म के भेद :

जैन धर्म में कर्म का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। सामान्य की अपेक्षा कर्म एक ही प्रकार का है। भाव कर्म, और द्रव्य कर्म की अपेक्षा कर्म के दो भेद हैं।[4]

(१) भाव कर्म : राग-द्वेषादि जीव के विकार भावकर्म, कहलाते हैं।[5]

(२) द्रव्य कर्म : राग-द्वेषादि भाव कर्मों के निमित्त से आत्मा के साथ बंधने वाले अचेतन पुद्गल-परमाणु, द्रव्य-कर्म कहलाते हैं।[6]

---

१. (क) धवला, पु० १४, खंड ५, भाग ६, सूत्र ७१, पृ० ५२।
   (ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ५९४-५९५।
२. योगसूत्र, ४।७।
३ न्यायमञ्जरी, पृ० ४७२।
४. कर्मप्रकृति, गा० ६। (ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), ६।
५. प्रवचनसार, १।८४ एवं ८८। (ख) उत्तराध्ययन, ३२।७।
६. तत्त्वार्थसार, ५।२४।९।

स्वभाव एवं शक्ति की अपेक्षा कर्म के आठ भेद :

आस्रव के द्वारा आये हुए कर्म के पुद्गल-परमाणु आत्मा से बंध कर विविध स्वभाव एवं शक्ति वाले हो जाते हैं। इस दृष्टि से कर्म के आठ भेद हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।[१]

यहाँ प्रश्न होता है कि एक प्रकार की कार्मणवर्गणा आठ प्रकार की कैसे हो जाती है ?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में जैन आचार्यों ने बतलाया है कि जिस प्रकार एक ही बार खाया गया भोजन पच कर खून, रस, मांस, मज्जा, मल, मूत्र, वात, पित्त, श्लेष्मा आदि अनेक रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के परिणमन से एक ही बार में ग्रहण किये गये पुद्गल-परमाणु ज्ञानावरणादि विभिन्न रूपों में परिणत हो जाते हैं।[२] धवलाकार ने कहा भी है : "मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग रूप प्रत्ययों के आश्रय से उत्पन्न आठ शक्तियों से संयुक्त जीव के सम्बन्ध से कार्मण पुद्गल-स्कन्धों का आठ कर्मों के आकार से परिणमन होने में कोई विरोध नहीं है।[३]" इसी बात को स्पष्ट करते हुए अकलंक देव ने कहा है कि "जिस प्रकार मेघ का जल पात्र-विशेष में गिर कर विभिन्न रसों में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान-शक्ति का अवरोध करने से ज्ञानावरण सामान्यतः एक होकर भी श्रुतावरण आदि रूपों में परिवर्तित हो जाता है[४]।" इसके अतिरिक्त निम्नांकित कारणों से भी एक ही पुद्गल कर्मवर्गणा विविध रूप हो जाती है[५]—

१. जिस प्रकार एक ही अग्नि में जलाने, पकाने आदि की शक्ति होती है, उसी प्रकार एक ही प्रकार के कर्म-पुद्गल में सुख-दुःखादि रूप होने की शक्ति होती है।

२. यद्यपि द्रव्य-दृष्टि से कर्म पुद्गल एक ही प्रकार का होता है, फिर भी पर्यायों की अपेक्षा उसके अनेक प्रकार होने में कोई विरोध नहीं है।

---

१. उत्तराध्ययन, ३३।२-३। तत्त्वार्थसूत्र, ८।४।

२. समयसार, गा० १७९-८०। (ख) सर्वार्थसिद्धि, ८।४।
पृ० ३८१। तत्त्वार्थवार्तिक, ८।४।३।

३. धवला, पु० १२, खं० ४, भा० ८, सू० ११, पृ० २८७।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।४।७।

५. वही, ८।४।९-१४।

१. ज्ञानावरण कर्म : आत्म-स्वरूप-विमर्श लिखते हुए हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि जैन दर्शन में आत्मा ज्ञान-स्वरूप है। आत्मा के इस स्वरूप को अपने प्रभाव से आच्छादित करने वाला कर्म, ज्ञानावरण कर्म कहलाता है।[1] ज्ञानावरण कर्म का उदय होने से आत्मा की ज्ञानशक्ति प्रकट नहीं हो पाती है। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)[2] में कहा गया है कि जिस प्रकार कपड़े की पट्टी नेत्रों में बांध देने से नेत्रों की पदार्थों को जानने की शक्ति रुक जाती है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के उदय से सकल पदार्थों को जानने की शक्ति अवरुद्ध हो जाती है। इस कर्म के आस्रव के कारण प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात हैं।[3] यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञानावरण कर्म विद्यमान ज्ञानांश का आवरण करता है अथवा अविद्यमान ज्ञानांश का? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अकलंकदेव ने कहा है कि वह द्रव्यार्थ की अपेक्षा विद्यमान ज्ञानांश का और पर्याय की अपेक्षा अविद्यमान ज्ञानांश का आवरण कर देता है। दूसरी बात यह है कि मति आदि ज्ञान कोई वस्तु नहीं है जिसके ढंक देने को मतिज्ञानावरणादि कहा जा सके, किन्तु मत्यावरण आदि के उदय होने से आत्मा में मति आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए वे आवरण कहलाते हैं।[4]

ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का विनाशक नहीं है : आत्मा की ज्ञानशक्ति के घात करने का अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानावरण कर्म ज्ञान का विनाशक है क्योंकि जीव ज्ञान-दर्शन स्वरूप है और उसका विनाश माना जाए तो जीव का भी विनाश मानना पड़ेगा।[5] अतः ज्ञानावरण कर्म से ज्ञान का विनाश नहीं होता है, इसलिए उसे ज्ञानविनाशक नहीं कहा जा सकता है।

ज्ञानावरण-कर्म की प्रकृतियाँ : ज्ञानावरण कर्म के पांच भेद हैं—१. मति ज्ञानावरण, २. श्रुत ज्ञानावरण, ३. अवधि ज्ञानावरण, ४. मनः पर्याय ज्ञानावरण और ५. केवलज्ञानावरण।[6]

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ८।३, पृ० ३७८ एवं ८।४, पृ० ३८०।

२. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० २१।

३. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१०।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।६।४-६, पृ० ५७१।

५. ण, जीवलक्खणाणं णाणदंसणाणं विणासाभावा।
   विणासे वा जीवस्स विणासो होज्ज,.........।
   —धवला, पु० ६, खंड १, भा० ९-११, सू० ५, पृ० ६।

६. षट्खण्डागम, पु० १३, खं० ५, भा० ५, सू० २१, पृष्ठ २०९।
   तत्त्वार्थसूत्र, ८।६।

ज्ञानावरण कर्म के पांच ही भेद क्यों : यहाँ प्रश्न होता है कि ज्ञानावरण कर्म के पांच ही भेद क्यों हैं ? वीरसेन ने धवला में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों के अलावा ज्ञान के अन्य भेद नहीं होते हैं, इसलिए उनके आवरण करने वाले कर्म भी पाँच प्रकार से अधिक नहीं होते हैं। कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान का अन्तर्भाव क्रमशः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान में हो जाता है।[1] उपर्युक्त पांच ज्ञानावरण कर्म में से आदि के चार कर्म सर्वघाती हैं।

२. दर्शनावरण कर्म : पदार्थ के सामान्य धर्म का बोध जिस कर्म के कारण नहीं होता है, उसे आचार्य पूज्यपाद ने दर्शनावरण कर्म कहा है।[2] दर्शनावरण कर्म के उदय होने से आत्मा का दर्शनगुण आच्छादित हो जाता है। इस कर्म की उपमा राजा के द्वारपाल से की गयी है। जिस प्रकार पहरेदार शासक को देखने के लिए उत्सुक व्यक्तियों को रोक देता है, उसी प्रकार दर्शनावरणकर्म आत्मा की दर्शनशक्ति पर आवरण डाल कर उसे प्रकट होने से रोकता है।[3]

दर्शनावरण कर्म के भेद : आगम में दर्शनावरण कर्म के नौ भेद बतलाये गये हैं :—१. चक्षु दर्शनावरण, २. अचक्षु दर्शनावरण, ३. अवधि दर्शनावरण, ४. केवल दर्शनावरण, ५. निद्रा, ६. निद्रानिद्रा, ७. प्रचला, ८. प्रचला-प्रचला और ९. स्त्यानगृद्धि।[4] जिस दर्शनावरण कर्म के उदय से चक्षुइन्द्रिय से होने वाला सामान्य बोध नहीं हो पाता है, उसे चक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं। चक्षु इन्द्रिय के अलावा अन्य इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाला सामान्य बोध जिसके उदय से न हो सके, उसे अचक्षुदर्शनावरण कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी द्रव्यों का सामान्य बोध न हो सके, उसे अवधिदर्शनावरण कर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को समस्त द्रव्य और पर्यायों का युगपत् सामान्य बोध न हो, उसे केवलदर्शनावरण कर्म कहते हैं।[5]

मद, खेद और परिश्रम-जन्य थकावट को दूर करने के लिए नींद लेने को पूज्यपाद ने निद्रा कहा है।[6] निद्रा कर्म के उदय से जीव हल्की नींद सोता है,

---

१. धवला, पु० ७, खं० २, भा० १, सू० ४५, पृ० ८७।
२. सर्वार्थसिद्धि, ८।३, पृ० ३७८।
३. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० २१।
४. षट्खण्डागम, पु०६, खं० १, भा० ९–११, सू० १६। त० सू०, ८।७।
५. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।८।१२–१६, पृ० ५७३।
६. सर्वार्थसिद्धि, ८।७, पृ० ३८३।

उठाये जाने पर जल्दी उठ जाता है और हल्की आवाज करने पर सचेत हो जाता है। निद्रावस्था में गिरता हुआ व्यक्ति अपने को संभाल लेता है, थोड़ा-थोड़ा कांपता रहता है और सावधान होकर सोता है।[1] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है कि निद्रा के उदय से चलता-चलता मनुष्य खड़ा रह जाता है और खड़ा-खड़ा बैठ जाता है अथवा गिर जाता है।[2]

निद्रा की अधिक प्रवृत्ति का होना निद्रा-निद्रा है।[3] वीरसेन ने धवला में लिखा है कि इस कर्म के उदय से जीव वृक्ष के शिखर पर, विषम भूमि पर, अथवा किसी भी प्रदेश पर 'घुर'-'घुर' आवाज करता हुआ अति-निर्भय होकर गाढ़ी निद्रा में सोता है। दूसरों के द्वारा उठाये जाने पर भी नहीं उठता है।[4] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में कहा गया है कि निद्रा-निद्रा कर्म के उदय से जीव सोने में सावधान रहता है, लेकिन नेत्र खोलने में समर्थ नहीं होता है।[5]

जिस कर्म के उदय से आधे सोते हुए व्यक्ति का सिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है, उसे प्रचला प्रकृति कहते हैं।[6] नेमिचन्द्र ने कहा है कि प्रचला के उदय से जीव किंचित् नेत्र को खोलकर सोता है, सोता हुआ कुछ जानता रहता है और बार-बार मन्द-मन्द सोता है।[7]

प्रचला की बार-बार प्रवृत्ति को पूज्यपाद ने प्रचला-प्रचला कहा है।[8] गोम्मटसार (कर्मकांड) में कहा गया है कि इस कर्म प्रकृति के उदय से व्यक्ति के मुख से लार बहती है और उसके हस्तपादादि कांपते रहते हैं।[9] वीरसेन ने भी कहा है कि जिस कर्म के उदय से बैठा हुआ व्यक्ति सो जाता है, सिर धुनता है तथा लता के समान चारों दिशाओं में लोटता है, वह प्रचला-प्रचला कर्म कहलाता है।[10]

जिस कर्म के उदय से आत्मा रौद्र कर्म करता है, उसे पूज्यपाद ने स्त्यान-

---

१. धवला, ६।१।९-११, सू० १६, पृ० ३२।
२. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० २४।
३. सर्वार्थसिद्धि, ८।७, पृ० ३८३।
४. धवला, ६।१।९-११, सू० १६, पृ० ३१।
५. गोम्मटसार (कर्मकांड), गाथा २३।
६. धवला, १३।५।५, सूत्र ७५, पृ० ३५४।
७. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा २५।
८. सर्वार्थसिद्धि, ८।७, पृ० ३८३।
९. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा २४।
१०. धवला, १३।५।५, सू० ८५, पृ० ३५४।

गृद्धि दर्शनावरण कर्म कहा है।[1] गोम्मटसार में कहा है कि इस कर्म के उदय से जीव नींद में अनेक कार्य करता है, बोलता है, लेकिन उसे कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता है।[2] धवला में भी यही कहा गया है।[3] ज्ञानावरण कर्म की तरह प्रदोष आदि कारणों से दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है।

३. वेदनीय कर्म :

जिसके द्वारा वेदन अर्थात अनुभव होता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि वेदनीय कर्म की प्रकृति सुख-दुःख का संवेदन करना है।[4] वीरसेन ने भी जीव के सुख-दुःख के उत्पादक कर्म को वेदनीय कर्म कहा है।[5]

वेदनीय कर्म के दो भेद : वेदनीय कर्म दो प्रकार का होता है—(१) सातावेदनीय और (२) असातावेदनीय। सातावेदनीय कर्म के उदय से जीव को शरीर और मन सम्बन्धी सुख का अनुभव होता है और असातावेदनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार की नरकादि गतियों में कायिका, मानसिक और जन्म, जरा, मरण, प्रिय-वियोग, अप्रिय-संयोग, व्याधि, वध तथा बंधन आदि से उत्पन्न दुःख का अनुभव होता है।[6]

वेदनीय कर्म की उपमा शहदयुक्त तलवार से की गयी है।[7] जिस प्रकार तलवार की धार में लगी हुई मधु के चाटने से सुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार सातावेदनीय कर्म के उदय से सुख का अनुभव होता है। मधुसंयुक्त तलवार के चाटने से जिह्वा के कट जाने पर जिस प्रकार दुःख का अनुभव होता है, उसी प्रकार असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःख का अनुभव होता है।

साता-असाता वेदनीय कर्म-आस्रव के कारण :

जीव-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान, सरागसंयम आदि योग, क्षान्ति और शौच सातावेदनीय कर्म के कारण हैं और अपने तथा पर में अथवा

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ८।७, पृ० ३८३।
२. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा २३।
३. धवला, १३।५।५, सू० ८५, पृ० ३५४।
४. सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद, ८।३, पृ० ३७९।
५. धवला, पु० १, खं० ५, भा० ५, सूत्र १९, पृ० २०८।
६. (क) सर्वार्थसिद्धि, ८।८, पृ० ३८४। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ८।८।१-२ पृ० ५७३।
७. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० २१।

दोनों में विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिवेदन असाता-वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।[1]

४. मोहनीय कर्म :

मोहनीय कर्म जीव के संसार का मूल कारण है, इसलिए इसे समस्त कर्मों का राजा कहा गया है। धवला में वीरसेन ने कहा है कि समस्त दुःखों की प्राप्ति मोहनीयकर्म के निमित्त से होती है इसलिए उसे शत्रु कहते हैं। अन्य सभी कर्म मोहनीय कर्म के अधीन हैं, मोह के बिना ज्ञानावरणादि समस्त कर्म अपना-अपना कार्य नहीं कर सकते हैं।[2] पूज्यपाद ने कहा है कि जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है, वह मोहनीय कर्म है।[3] यह कर्म आत्मा में मूढ़ता उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार मदिरापान करने से मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है, उसे स्व और पर का सम्यग्ज्ञान नहीं रहता है, हेय-उपादेय, हिताहित के विवेक से रहित हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्व-अतत्त्व में भेद करने में जीव असमर्थ हो जाता है।[4]

जो मोहित करे वह मोहनीय कर्म है, तो यहाँ प्रश्न होता है कि धतूरा, मदिरा और भार्या भी तो मोहित करती है, इसलिए उन्हें भी मोहनीय कहना चाहिए ?

यहाँ मोहनीय नामक द्रव्यकर्म का विवेचन हो रहा है, इसलिए धतूरा आदि को मोहनीय कहना ठीक नहीं है।[5]

मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म में अन्तर : अकलंकदेव ने मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म को एक न मानने का कारण बतलाते हुए कहा है कि मोहनीय कर्म में पदार्थ का यथार्थ ज्ञान रहने पर भी उसका विपरीत ज्ञान होता है, किन्तु ज्ञानावरण कर्म के उदय से पदार्थ का सम्यक् अथवा मिथ्या ज्ञान नहीं होता

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ६।११।१२।

२. धवला, १।१।१, सूत्र १, पृ० ४३।

३. सर्वार्थसिद्धि, ८।४, पृ० ३८०।

४. (क) जह मज्जपाणमूढो लोए पुरिसो परव्वसो होइ।
तह मोहेण-विमूढो जीवो उ परव्वसो होइ॥ —स्थानांग २।४।१०५, टीका।
(ख) मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता। — द्रव्यसंग्रह, टीका, गाथा ३३, पृ० ३८।

५. धवला, ६।१।९-११ सू० ८, पृ० ११।

है। मोहनीयकर्म कारण है और ज्ञानावरण कर्म कार्य है। अतः इनमें बीज और अंकुर की तरह कारण-कार्य की अपेक्षा से भेद है।[1]

मोहनीय कर्म के भेद : मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है[2]—(क) दर्शन मोहनीय, (ख) चारित्र मोहनीय। आप्त या आत्मा, आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं और दर्शन को जो मोहित करता है या विपरीत करता है, वह दर्शन मोहनीय कर्म है।[3] इस कर्म के उदय से आत्मा का विवेक मदोन्मत्त पुरुष की बुद्धि की तरह नष्ट हो जाता है। दर्शन मोहनीय कर्म के कारण जीव अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय और धर्म को अधर्म समझने लगता है।[4]

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव का अवर्णवाद करने से[5] अर्थात् उनमें जो दोष नहीं हैं, उन दोषों को उनमें कहने से[6] और सत्य मोक्ष मार्ग को दूषित एवं असत्य मोक्ष मार्ग को सत्य बतलाने से[7], दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है। यह कर्म तीन प्रकार का है—(क) सम्यक्त्व, (ख) मिथ्यात्व, (ग) सम्यग्मिथ्यात्व।

चारित्रमोहनीय कर्म : मिथ्यात्व, असंयम और कषाय पाप की क्रियाएँ हैं। इन पापरूप क्रियाओं की निवृत्ति को जैन आचार्यों ने चारित्र कहा है। जो कर्म इस चारित्र को आच्छादित करता है अर्थात् मोहित करता है, उसे चारित्र-मोहनीयकर्म कहते हैं।[8] इस कर्म के उदय से आत्मा का चारित्र गुण प्रकट नहीं हो पाता है।

चारित्रमोहनीय कर्म के भेद : (क) कषाय और (ख) नो-कषाय की अपेक्षा चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का है[9]—

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।४।५, पृ० ५६८।
२. षट्खण्डागम, ६।१।९-११, सूत्र २०।
३. धवला, ६।१।९-११, सूत्र २१, पृ० ३८।
४. तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक्।—पंचाध्यायी, २।९९०।
५. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१३।
६. सर्वार्थसिद्धि, ६।१३, पृ० ३३१।
७. तत्त्वार्थसार, ४।२८।
८. पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्....।
तं मोहेइ आवारेदि त्ति चारित्रमोहणीयं।—धवला, ६।१।९-११, सू० २२, पृ० ४०।
९. (क) षट्खण्डागम, ६।१।९-११, सूत्र २२। (ख) उत्तराध्ययन सूत्र, ३३।१०।

(क) कषाय वेदनीय : स्वयं में कषाय करने, दूसरे में कषाय उत्पन्न करने, तपस्वी जनों के चारित्र में दूषण लगाने, संक्लेश पैदा करने वाले लिंग (वेष) और व्रत को धारण करने से कषाय चारित्र मोहनीय कर्म का आगमन होता है।[1] कषाय का विवेचन कषाय मार्गणा में विस्तृत रूप से किया जा चुका है।

(ख) नो-कषाय वेदनीय : नो-कषाय को अकषाय अर्थात् ईषत् कषाय भी कहते हैं। नो-कषाय के उदय से कषाय उत्तेजित होती है। हास्यादि इसके ९ भेदों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। नो-कषाय के आस्रव के विविध कारणों का उल्लेख सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्तिक में किया गया है।[2]

५. आयु कर्म :

किसी विवक्षित शरीर में जीव के रहने की अवधि को आयु कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि जीव जिसके द्वारा नारकादि योनियों में जाता है, वह आयु कर्म है।[3] भट्टाकलंक देव ने भी यही कहा है।[4] इसकी तुलना कारागार से की गयी है। जिस प्रकार न्यायाधीश अपराधी को नियत समय के लिए कारागृह में डाल देता है, अपराधी की इच्छा होने पर भी अवधिपूर्ण होने के पहले वह नहीं छूटता है, इसी प्रकार आयु कर्म जीव को विवक्षित अवधि तक शरीर से मुक्त नहीं होने देता है।[5]

आयु कर्म के भेद : आयु कर्म चार प्रकार का है—१. नरकायु, २. तिर्यंच-आयु, ३. मनुष्यायु, और ४. देवायु।[6]

नरकायु के आस्रव के कारण : बहुत परिग्रह रखना और बहुत आरम्भ करना।

तिर्यञ्च आयु के आस्रव के कारण : माया इसका कारण है। पूज्यपाद ने भी कहा है कि धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिला कर प्रचार करना, शीलरहित जीवन-यापन करना, मरण के समय नील-कपोत लेश्या एवं आर्तध्यान का होना।

मनुष्यायु के आस्रव के कारण : अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह तथा मृदु स्वभाव से मनुष्यायु कर्म का बंध होता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ६।१४, पृ० ३३२।

२. (क) वही। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ६।१४।३, पृ० ५२५।

३. सर्वार्थसिद्धि, ८।३, पृ० ३७८ एवं ८।४, पृ० ३८०।

४. तत्त्वार्थसिद्धि, ८।४।२, पृ० ५६८।

५. जीवस्स अवट्ठाणं करेदि आऊ हलिव्व णरं।— गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ११।

६. तत्त्वार्थसूत्र, ८।१०।

देवायु के आस्रव के कारण : सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, वालतप तथा सम्यक्त्व देवायु के आस्रव के कारण हैं। शील और व्रत रहित होना समस्त आयु के बंध के कारण हैं।[१]

६ नाम कर्म :

सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद ने नाम कर्म की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि जो आत्मा को नमाता है या जिसके द्वारा आत्मा नमता है, वह नाम कर्म कहलाता है।[२] नारक तिर्यञ्च, मनुष्य और देवरूप नामकरण करना, नाम कर्म का स्वभाव है।[३] कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में कहा है कि नामकर्म जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी अथवा देवरूप करता है।[४] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में भी कहा गया है कि जिस कर्म से जीव में गति आदि के भेद उत्पन्न हों, जो देहादि की भिन्नता का कारण हो अथवा जिसके कारण गत्यन्तर जैसे परिणमन हों, वह नाम कर्म कहलाता है।[५]

नाम कर्म की उपमा चित्रकार से दी गयी है। जिस प्रकार कुशल चित्रकार अपनी कल्पना से विभिन्न प्रकार के चित्र वनाता है, उसी प्रकार नामकर्म शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण आदि नाना प्रकार की रचना करता है।[६]

नाम कर्म के अस्तित्व की सिद्धि : वीरसेन ने कर्म का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा है कि कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है। बिना कारण के कार्य किसी प्रकार सम्भव नहीं है। शरीर, संस्थान, वर्ण आदि अनेक कार्य सभी जीवों में दिखलाई पड़ते हैं। ये कार्य ज्ञानावरणादि अन्य कर्म के कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उनका ऐसा करना स्वभाव नहीं है। जितने कार्य हैं उनके अलग-अलग कारणभूत कर्म भी होने चाहिए। अतः शरीर, संस्थान आदि के कारण के रूप में नामकर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है।[७]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ६।१५-२१।

२. नमयत्यात्मानं नम्यतेऽनेनेति वा नाम—सर्वार्थसिद्धि, ८।४, पृ० ३८१।

३. सर्वार्थसिद्धि, ८।४, पृ० ३८१।

४. प्रवचनसार, गा० २।२५।

५. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० १२।

६. (क) नाना मिनोति निर्वर्त्तयतीति नाम।—धवला, ६।१।९-११, सू० १०, पृ० १३।

(ख) स्थानांग, २।४।१०५ टीका, जैनदर्शन स्व० वि० पृ० ४७२ में उद्धृत।

७. धवला—(क) ६।१।९-११, सू० १०, पृ० १३। (ख) वही, ७।२।१, सूत्र १९, पृ० ७०।

नामकर्म के भेद : षट्खण्डागम में नाम कर्म के निम्नांकित बयालीस भेद बतलाए गए हैं :

१. गति नामकर्म : इसके नरकादि चार भेद हैं।

२. जाति नामकर्म : जिस नामकर्म के उदय से सादृश्यता के कारण जीवों का बोध होता है, उसे जाति नामकर्म कहते हैं।[१] एकेन्द्रियादि इसके पाँच भेद हैं।

३. शरीर नामकर्म : औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर का निर्माण करने वाला कर्म, शरीर नामकर्म कहलाता है।[२]

४. आंगोपांग नाम कर्म : जिसके उदय से अंग और उपांग का भेद होता है, वह अंगोपांग नामकर्म कहलाता है।[३] इस कर्म के उदय से ही अंग—दो हाथ, दो पैर, नितम्ब, पीठ, हृदय और मस्तक तथा उपांग अर्थात् मूर्धा, कपाल, मस्तक, ललाट, शंख, भौंह, कान, नाक, आँख, अक्षिकूट, ठुड्ढी (हनु), कपोत, ऊपर और नीचे के ओष्ठ, चाप (सृक्वणी), तालु, जीभ आदि की रचना होती है।[४]

५. शरीर बन्धन नामकर्म : पूर्व में गृहीत तथा वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले शरीर पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध जिस कर्म के उदय से होता है, वह शरीर बन्धन नामकर्म कहलाता है। शरीर की तरह इसके पाँच भेद हैं।

६. संघात नामकर्म : अलग-अलग पदार्थों का एक रूप होना संघात है। जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरों की संरचना होती है, वह संघात नामकर्म कहलाता है।[५] शरीर के पाँच भेद होने से संघात नामकर्म के भी पाँच भेद हैं।[६]

७. शरीर संस्थान नामकर्म : संस्थान का अर्थ आकृति है। जिस कर्म के उदय से औदारिकादि शरीरों की विविध–त्रिकोण, चतुष्कोण और गोल आदि आकृतियों का निर्माण होता है, उसे जैन आचार्यों ने संस्थान कहा है।[७] इसके छह भेद होते हैं—

---

१. धवला, १।३।५।५, सू० १०१, पृ० ३६३।

२. यदुदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिस्तच्छरीरनाम।—सर्वार्थसिद्धि, ८।११, पृ० ३८९।

३. यदुदयादंगोपांगविवेकस्तदंगोपांगनाम।—वही, ८।११, पृ० ३८९।

४. धवला, ६।१।९-११, सू० २८, पृ० ५४।

५. सर्वार्थसिद्धि, ८।११, पृ० ३९०।

६. षट्खण्डागम, ६।१।९-११, सूत्र ३३, पृ० ७०।

१. संस्थानमाकृतिः यदुदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम। सर्वार्थसिद्धि, ५।२४, एवं ८।११, पृ० ३९०।

(क) समचतुरस्र संस्थान : जिस कर्म के उदय से ऊपर से नीचे तक समकोण की तरह समानुपातिक और सुन्दर शरीर के अवयवों की रचना होती है, वह समचतुरस्र संस्थान कहलाता है।

(ख) न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान : जिस कर्म के उदय से शरीर वट के वृक्ष की तरह नीचे सूक्ष्म और ऊपर भारी (विशाल) होता है, उसे न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान कहते हैं[1]।

(ग) स्वाति संस्थान : जिस कर्म के उदय से शरीर की रचना स्वाति (वल्मीक या शाल्मली वृक्ष) की तरह नाभि से नीचे विशाल और ऊपर सूक्ष्म होती है, उसे स्वाति संस्थान कहते हैं।[2]

(घ) कुब्ज संस्थान : जिस कर्म के उदय से शरीर कुवड़ा वन जाता है, उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं।[3]

(ङ) वामन संस्थान : जिस कर्म के उदय से अंग-उपांग छोटे और शरीर बड़ा होता है, उस बौनी शरीर-रचना को वामन संस्थान कहते हैं।[4]

(च) हुंडक संस्थान : विषम पाषाण से भरी हुई मशक के समान विषम आकार को हुँड कहते हैं। हुँड के समान अंग-उपांगों की रचना जिस कर्म के उदय से होती है, वह हुँडक संस्थान कहलाता है।[5]

८—संहनन नामकर्म : जिस कर्म के उदय से अस्थिवन्ध की विशिष्ट रचना होती है, वह संहनन नामकर्म कहलाता है।[6]

संहनन के भेद :

संहनन नामकर्म के निम्नांकित छह भेद होते हैं[7]—

(अ) वज्रऋषभनाराच संहनन : वेष्टन या वलय को ऋषभ कहते हैं। वज्र के समान कठोर (अभेद) होने को वज्र ऋषभ कहते हैं। वज्र के समान नाराच (कीलें) होना वज्र-नाराच है। जिस कर्म के उदय से वज्रमय हड्डियां वज्रमय वेष्टन से वेष्टित और वज्रमय नाराच से कीलित हों, वह वज्रऋषभनाराच संहनन कहलाता है।

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।११, पृ० ३९०।
२. (क) वही, पृ० ५७७। (ख) धवला : ६।१।९-११, सू० ३४, पृ० ७१।
३. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।११।८, पृ० ५७७।
४. वही।
५. धवला, ६।१।९-११, सू० ३४, पृ० ७२।
६. यदोदयादस्थिवन्ध विशेषो भवति——। सर्वार्थसिद्धि, ८।११, पृ० ३९०।
७. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।११, ९, पृ० ५७७।

(आ) वज्रनाराच संहनन : जिस कर्म के उदय से अस्थिवन्धन वज्रऋषभ से रहित होता है, वह वज्रनाराच संहनन कहलाता है।

(इ) नाराच संहनन : जिस कर्म के उदय से कीलों और हड्डियों की संधियाँ वज्र से रहित होती हैं, उसे नाराच संहनन कहते हैं।

(ई) अर्धनाराच संहनन : जिस कर्म के उदय से हड्डियों की संधियाँ एक तरफ नाराचयुक्त, दूसरी तरफ नाराचरहित होती हैं, उसे अर्धनाराच संहनन कहते हैं।

(उ) कीलक संहनन : जिस कर्म के उदय से दोनों हड्डियों के छोरों में वज्र-रहित कीलें लगी हों, उसे कीलक संहनन कहते हैं।

(ऊ) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन : यह वह संहनन है, जिसके उदय से भीतर हड्डियों में सर्प की तरह परस्पर बंध नहीं होता है, सिर्फ बाहर से वह सिरा, स्नायु, मांस आदि से लिपट कर संघटित होती है।

९. वर्ण नामकर्म : जिस नामकर्म के उदय से जीव के शरीर में वर्ण नामकर्म की उत्पत्ति होती है, उसे वर्ण नामकर्म कहते हैं।[1] कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और शुक्ल—ये वर्ण नामकर्म के पांच भेद हैं।

१०. गंध नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में प्रतिनियत गंध उत्पन्न होती है, उसे गंध नामकर्म कहते है।[2] इसके दो भेद हैं—सुरभि गंध और दुरभि गंध।

११. रस नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में जाति प्रति-नियत तिक्तादि रस उत्पन्न होता है, उसे रस नामकर्म कहते है।[3] इसके पाँच भेद है—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर।

१२. स्पर्श नामकर्म : इस कर्म के उदय से जीव के शरीर में जाति प्रति-नियत स्पर्श उत्पन्न होता है।[4] इस कर्म के आठ भेद हैं—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण।

१३. अगुरुलघु नामकर्म : इस कर्म के उदय से जीव का शरीर न तो लोहे के पिंड के समान अत्यन्त भारी होता है और न अर्क की रूई के समान हल्का होता है।[5]

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ८।११, पृ० ३९०।
२. धवला, ६।१।९-११, सू० २८, पृ० ५५।
३. वही।
४. वही।
५. सर्वार्थसिद्धि, ८।११, पृ० ३९१।

१४. उपघात नामकर्म : स्वयं प्राप्त होने वाला नामकर्म घात, उपघात या आत्मघात कहलाता है। इस कर्म के उदय से जीव अपने विकृत अवयवों से पीड़ा पाता है।[1]

१५. परघात नामकर्म : दूसरे जीवों के घात को परघात कहते हैं। परघात कर्म के उदय से जीव के शरीर में पर का घात करने के लिए पुद्गल निष्पन्न होते हैं। जैसे सर्प के दाढ़ों में विष, सिंहादि के पास दांत आदि।[2]

१६. आनुपूर्वी नामकर्म : इसके उदय से पूर्व शरीर का आकार नष्ट नहीं होता है।[3]

१७. उच्छ्वास नामकर्म : इस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास लेता है।[4]

१८. आतप नामकर्म : जिस कर्म के उदय से शरीर में उष्ण प्रकाश होता है, उसे आतप नामकर्म कहते हैं।[5]

१९. उद्योत नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में प्रकाश होता है, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं[6]। जैसे चन्द्रकांतमणि और जुगनू में होने वाला प्रकाश।

२०. विहायोगति नामकर्म : जिस कर्म के उदय से भूमि का आश्रय लेकर या विना आश्रय के जीवों का आकाश में गमन होता है, उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं।[7] प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्त विहायोगति—ये दो इस कर्म के भेद हैं।

२१-३०. त्रस, स्थावर, सूक्ष्म, वादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, साधारण, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर नामकर्म का अर्थ लिखा जा चुका है।

३१. शुभ नामकर्म : जिसके उदय से प्रशस्त अंगोपांग हो।

३२. अशुभ नामकर्म : जिसके उदय से अप्रशस्त अंगोपांग हो।

३३. सुभग नामकर्म : जिसके उदय से अन्य प्राणी प्रीत करें।

३४. दुर्भग नामकर्म : जिसके उदय से गुणों से युक्त जीव भी अन्य को प्रिय नहीं लगता है।

---

१. धवला, ६।१।९-११, सू० २८; पृ० ५९।

२. वही।

३. सर्वार्थसिद्धि, ८।११, पृ० ३९०।

४. वही, पृ० ३९१।

५. वही।

६. वही।

७. धवला, पु० १३, खं० ५, भा० ५, सू० १०१, पृ० ३६५।

३५. सुस्वर नामकर्म : इसके उदय से जीव का स्वर अच्छा होता है।

३६. दुःस्वर नामकर्म : इसके उदय से स्वर कर्कश होता है।

३७. आदेय नामकर्म : इस कर्म के उदय से जीव आदरणीय होता है[1]। पूज्यपादाचार्य ने प्रभायुक्त शरीर का कारण आदेय नामकर्म को कहा है[2]।

३८. अनादेय नामकर्म : इसके उदय से अच्छा कार्य करने पर भी गौरव प्राप्त नहीं होता है। यह निष्प्रभ शरीर का कारण है[3]।

३९. यशःकीर्ति नामकर्म : इसके उदय से जीव को यश मिलता है।

४०. अयशःकीर्ति नामकर्म : इसके उदय से अपयश मिलता है।

४१. निर्माण नामकर्म : इसके उदय से अङ्गोपाङ्ग का यथास्थान निर्माण होता है।

४२. तीर्थङ्कर नामकर्म : जिस कर्म के उदय से जीव त्रिलोक में पूजा जाता है, उसे तीर्थङ्कर नामकर्म कहते है।[4] इस कर्म से युक्त जीव बारह अंगों की रचना करता है।[5]

नामकर्म के विस्तार से ९३ भेद और १०३ भेद होते हैं।[6] नामकर्म की न्यूनतम स्थिति ८ मुहूर्त और उत्कृष्ट २० क्रोडाक्रोडी सागरोपम है।

७. गोत्र कर्म :

गोत्र, कुल, वंश और संतान को धवला में एकार्थवाचक कहा गया है।[7] जिस कर्म के उदय से जीव ऊँच-नीच कहलाता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं।[8] इस कर्म की तुलना कुम्भकार से दी गयी है। जिस प्रकार कुम्भकार छोटे-बड़े अनेक प्रकार के घड़े बनाता है, उसी प्रकार गोत्र कर्म के उदय से जीव ऊँच एवं नीच कुल में उत्पन्न होता है।[9] इस कर्म के दो भेद हैं[10]—

---

१. धवला, ६।१।९-११, सू० २८, पृ० ६५।
२. सर्वार्थसिद्धि, ८।११, पृ० ३९२।
३. वही।
४. धवला, ६।१।९-११, सूत्र ३०, पृ० ६७।
५. सर्वार्थसिद्धि ८।११, पृ० ३९२।
६. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० २२।
७. धवला, ६।१।९-११, सू० ४५, पृ० ७७।
८. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।।३।४, पृ० ५९७।
९. द्रव्यसंग्रह, टीका, ३३, पृ० ९३।
१०. तत्त्वार्थसूत्र, ८।१२।

(क) उच्च गोत्र : इसके उदय से जीव पूजित कुलों में जन्म लेता है। आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, दूसरों के गुणों को प्रकट करना, उत्कृष्ट गुण वालों के प्रति नम्रता आदि उच्च गोत्र के आस्रव के कारण हैं।[1]

(ख) नीच गोत्र : निंदित कुल में जन्म लेना, नीच गोत्र कहलाता है। परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा, दूसरों में विद्यमान गुणों को प्रगट न करना और अपने में असत् गुणों को कहना, ये नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं।[2]

गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटी सागरोपम है।

८. अन्तराय कर्म :

जो कर्म विघ्न डालता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। पूज्यपाद ने कहा है कि दानादि परिणाम के व्याघात का कारण होने से इस कर्म को अन्तराय कर्म कहते हैं।[3] यह कर्म जीव के गुणों में बाधा डालता है।

इस कर्म की उपमा राजा के भंडारी से दी गयी है। जिस प्रकार राजा की आज्ञा होने पर भी भंडारी दान देने में बाधा उपस्थित कर देता है, उसी प्रकार इस कर्म के उदय से दानादि में अवरोध (बाधा) उत्पन्न हो जाता है। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय—ये इस कर्म के पांच भेद हैं।

घाती-अघाती की अपेक्षा से कर्म के भेद :

उपर्युक्त कर्मों का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है[4]—घाती कर्म और अघाती कर्म। जो कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति, अर्थात् केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन, अनन्तवीर्य, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र, क्षायिक-दान तथा क्षायोपशमिक गुणों का घात करते हैं, नष्ट करते हैं, वे घाती कर्म कहलाते हैं।[5] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घाती कर्म हैं।[6]

(अ) घाती कर्म के भेद :

घाती कर्म दो प्रकार के हैं—सर्वघाती कर्म और देशघाती कर्म[7]।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ६।२६।
२. वही, ६।२५।
३. सर्वार्थसिद्धि, ८।१३, पृ० ३९४।
४. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ७।
५. धवला : पु० ७, खं० २, भा० १, सू० १५, पृ० ६२।
६. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ९।
७. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।२३।७।

सर्वघाती कर्म : जो कर्म आत्मा के गुणों का सम्पूर्ण रूप से विनाश करते हैं अर्थात् आत्म-गुणों पर आच्छादित होकर उन्हें किंचित् मात्र भी व्यक्त नहीं होने देते हैं, वे कर्म सर्वघाती कर्म कहलाते हैं।[१]

देशघाती कर्म : जो कर्म आत्मा के गुणों को अंश रूप से आच्छादित करते हैं, वे देशघाती कर्म कहलाते हैं।[२]

(आ) अघाती कर्म :

घाती कर्म से विपरीत स्वभाव वाले कर्म अघाती कर्म कहलाते हैं, अर्थात् उदयावस्था में आने के बावजूद जिस कर्म में आत्मा के गुणों का विनाश करने की शक्ति नहीं होती, वह अघाती कर्म कहलाता है।[३] वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म—ये चार कर्म अघाती कर्म कहलाते हैं।[४] इन चारों के भेद की अपेक्षा से अघाती कर्म १०१ प्रकार के होते हैं।

शुभ-अशुभ की अपेक्षा से कर्म के भेद :

आस्रव शुभ-अशुभ रूप होता है, इसलिए इस दृष्टि से कर्म दो प्रकार के होते हैं—पुण्य-कर्म और पाप-कर्म। शुभास्रव से बंधने वाला कर्म पुण्य-कर्म और अशुभास्रव से बंधने वाला कर्म पाप-कर्म कहलाता है।[५]

पुण्य-कर्म : सातावेदनीय, तीन आयु (नरकायु के अलावा), उच्च गोत्र और नामकर्म, अर्थात् मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पांच शरीर, तीनों अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, प्रशस्त विहायोगति, वज्रऋषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, देव गत्यानुपूर्वी, अगुरु लघु, परघात, उच्छ्‌वास, उद्योत, आतप, त्रसचतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, निर्माण, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर इस प्रकार ४२ कर्म-प्रकृतियां पुण्य-कर्म हैं।[६]

पाप-कर्म : उमास्वामी ने उपर्युक्त घाती कर्मों का उल्लेख करके शेष कर्मों को पाप-कर्म कहा है।[७]

---

१. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ३९ एवं १८०। पञ्चसंग्रह, (प्रा०), गा० ४८३।

२. (क) द्रव्यसंग्रह, टीका, गा० ३४।
(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ४०।

३. पञ्चसंग्रह (प्रा०), ४८४ गाथा।

४. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ९।

५. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य—तत्त्वार्थसूत्र, ६।३।

६. वही, ८।२५।

७. वही, ८।२६।

(ग) कर्मविपाक-प्रक्रिया और ईश्वर :

कर्म-स्वरूप-विवेचन के बाद जिज्ञासा होती है कि शुभ-अशुभ कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है ? क्या कर्म स्वयं फल प्रदान करते हैं या फल देने में किसी सर्वशक्तिमान् की अपेक्षा रखते हैं ? उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर अत्यन्त जटिल तथा दार्शनिक गुत्थियों में उलझा हुआ है तथा विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। कर्म-फल-प्राप्ति परोक्ष होने के कारण विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। कर्म-विपाक-प्रक्रिया प्रारम्भ करने के पूर्व कर्म-विपाक का स्वरूप विचारणीय है।

कर्मविपाक का अर्थ : 'विपाक' शब्द वि + पाक के मेल से बना है। 'वि' शब्द के विशिष्ट और विविध दोनों अर्थ होते हैं। 'पाक' का अर्थ पकना या पचना होता है। अतः विशिष्ट रूप से कर्मों के पकने को विपाक कहते हैं।[1] कर्मों में कषायादि के अनुसार सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के फल देने की शक्ति का होना विपाक कहलाता है। आगमिक परिभाषावली में विपाक को अनुभव कहते हैं।[2] संक्षेप में कहा जा सकता है कि उदय या उदीरणा के द्वारा कर्म-फलों का प्राप्त होना विपाक है।

कर्म स्वयं फल देते हैं : सांख्य, मीमांसा तथा बौद्ध दर्शनों की तरह जैन दार्शनिक मानते हैं कि कर्म स्वयं फल प्रदान करते हैं। वे अपना फल देने में परतन्त्र नहीं, बल्कि स्वतन्त्र हैं। जैन दर्शन के सिद्धान्तानुसार बँधे हुए कर्म अपनी स्थिति समाप्त करके उदयावस्था में आकर स्वयं फल प्रदान करते हैं।[3] पूज्यपाद ने भी कहा है कि कर्म बंध कर शीघ्र फल देना आरम्भ नहीं करते, अपितु जिस प्रकार भोजन तुरन्त न पचकर जठराग्नि की तीव्रता और मंदता के अनुसार पचता है, उसी प्रकार कर्मों का विपाक कषायों की तीव्रता या मंदता के अनुसार होता है। अतः कर्मों का फल देना उसके कषाय पर ही निर्भर है। यदि तीव्र कषाय-पूर्वक कर्मों का आस्रव हुआ है, तो कर्म कुछ समय बाद शीघ्र ही अत्यधिक प्रबल रूप से फल देना आरम्भ कर देते हैं और मंद कषाय पूर्वक कर्मों के बंधने से कर्म का विपाक देर से होता है।[4]

---

१. विशिष्ट पाको नाना विधो वा विपाक : । सर्वार्थसिद्धि, ८।२१, पृ० ३९८ ।
२. विपाको अनुभवः । तत्त्वार्थसूत्र, ८।२१; मूलाचार : गा० १२४० ।
३. (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ३१९ ।
   (ख) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, पृ० १४६ ।
   (ग) गोम्मटसार (जीवकाण्ड); जीवतत्त्वप्रबोधिनीटीका, गा० ८, पृ० २९ ।
   (घ) समयसार, गा० ४५ ।
४. सर्वार्थसिद्धि, ८।२, पृ० ३७७ ।

यदि जीव के कर्मों का बन्ध शुभ परिणामों की प्रकर्षता पूर्वक होता है, तो शुभ प्रकृतियों का फल उत्कृष्ट और अशुभ प्रकृतियों का फल निकृष्ट मिलता है। इसी प्रकार अशुभ परिणामों की प्रकर्षता में बंधे अशुभ कर्मों का फल उत्कृष्ट और शुभ-कर्म-प्रकृतियों का फल निकृष्ट रूप से मिलता है।

दूसरी बात यह है कि कर्मों का फल प्रदान करना बाह्य सामग्री पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में कर्म द्रव्य, क्षेत्र और काल-भाव के अनुसार ही फल देते हैं।[1] यहाँ प्रश्न होता है कि क्या कर्म फल दिये बिना भी अलग होते हैं या नहीं ? आचार्य आशाधर कहते हैं कि यदि उदीयमान कर्मों को अनुकूल सामग्री नहीं मिलती है, तो बिना फल दिये ही उदय होकर कर्म आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। जिस प्रकार दंड-चक्रादि निमित्त कारणों के अभाव में मात्र मिट्टी से घड़ा नहीं बनता, उसी प्रकार सहकारी कारणों के अभाव में कर्म भी फल नहीं दे सकते है।[2]

यहाँ एक प्रश्न यह भी होता है कि क्या कर्म अपना स्थितिकाल पूरा होने पर ही फल देते हैं या स्थितिकाल पूरा होने के पहले भी फल दे सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि कर्म स्थितिबन्ध (काल) के समाप्त होने पर फल प्रदान करते हैं, किन्तु जिस प्रकार असमय में आम आदि फलों को पाल आदि के द्वारा पका कर रस देने के योग्य कर दिया जाता है, उसी प्रकार स्थिति पूरी होने के पहले तपश्चरणादि के द्वारा कर्मों को पका देने पर वे अकाल में भी फल देना आरम्भ कर देते हैं। अतः कर्म यथाकाल और अयथाकाल रूप से फल प्रदान करते हैं।[3] यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि एक ही समय में बंधे हुए समस्त कर्म एक ही समय फल नहीं प्रदान करते हैं, बल्कि जिस क्रम से उनका उदय होगा, उसी क्रम से ही वे फल प्रदान करेंगे।

यहाँ एक प्रश्न यह भी होता है कि क्या एक कर्म दूसरे कर्म का फल दे सकता है ?

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पूज्यपाद आदि आचार्य कहते हैं कि ज्ञानावरणादि आठों कर्म अपने नाम और स्वभाव के अनुसार ही फल देते हैं।[4] इन

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि, ८।२१, पृ० ३९८।
   (ख) कसायपाहुड, गा० ५९।४६५।
२. भगवतीआराधना, (विजयोदयाटीका), गा० ११७०, पृ० ११५९।
३. ज्ञानार्णव, ३५।२६-७। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, २।५३।२।
४. स यथा नाम। तत्त्वार्थसूत्र, ८।२२।

कर्मों का फल परस्पर में नहीं बदल सकता है, अर्थात् ज्ञानावरणकर्म उदय में आकर ज्ञानशक्ति को कुंठित करने रूप ही फल देगा। इस प्रकार कर्म-फल की प्राप्ति को पारिभाषिक शब्दावली में 'स्वमुख' फल प्रदान-प्रक्रिया कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मूल कर्म प्रकृतियों का फल स्वमुख रूप ही प्राप्त होता है।[1] दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियां स्वमुख और परमुख दोनों प्रकार से फल देती हैं। तात्पर्य यह कि एक ही कर्म के भेदों में फल देना परस्पर में बदल सकता है। जैसे, सातावेदनीय कर्म असाता-वेदनीय रूप से फल दे सकता है। मगर आयु कर्म और मोहनीय कर्म परमुख रूप से फल प्रदान न करके सिर्फ स्वमुख रूप से ही फल प्रदान कर सकते हैं। मनुष्यायु कर्म का विपाक नरकायु रूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार, दर्शन-मोहनीय कर्म चारित्र-मोहनीय-रूप से फल नहीं दे सकता है।[2]

प्रश्न : कर्म फल देने के बाद कर्म कहां रहते हैं? क्या वे पुनः उदयावस्था में आ कर फल दे सकते हैं?

उत्तर : कर्म फल देने के पश्चात् आत्म-प्रदेशों से चिपके नहीं रहते हैं, बल्कि एक क्षण के बाद शीघ्र ही आत्मा से अलग हो जाते हैं।[3] जिस प्रकार पका हुआ आम डाल से गिर कर पुनः उसमें नहीं लग सकता है, उसी प्रकार कर्म फल देने के बाद तत्काल आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं, अतः वे पुनः फल नहीं दे सकते हैं। जो कर्म फल दे चुकते है, उनका क्षय हो जाता है तथा वे कर्म-परमाणु आत्मा से विलग होकर और कर्म-पर्याय छोड़ कर अन्य अकर्मरूप पर्याय में परिवर्तित हो जाते हैं।

कर्मों का कोई फलदाता नहीं है :

कर्म-फल की प्राप्ति के विषय में न्याय-वैशेषिक, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि वैदिक मनीषियों के अतिरिक्त इस्लाम और ईसाई धर्म के विद्वानों की भी यही विचारधारा है कि कर्म स्वयं फल नहीं देता है, क्योंकि वह अचेतन है। अपना फल देने के लिए कर्म अचिन्तनीय शक्ति के अधीन है। जिस प्रकार निष्पक्ष, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र न्यायाधीश निर्णय करके दोषी को दंड देता है, उसी प्रकार कर्मो का फल देने वाला सर्वशक्तिमान् ईश्वर है। वही जीवों को उनके शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार फल देता है। कहा भी गया है 'ईश्वर द्वारा प्रेरित

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ८।२१।

२. (क) पञ्चसंग्रह (प्रा०), ४।४४९-५०। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ८।२१।१।

३. ततश्च निर्जरा। तत्त्वार्थसूत्र, ८।२३।

जीव स्वर्ग या नरक में जाता है, ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव सुख-दुःख पाने में समर्थ नहीं है'.।[१] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी यही कहा गया है।[२]

ईश्वरवादियों ने ईश्वर का महत्व बढ़ाने के लिए उसे कर्मविधाता माना है। मगर बौद्ध आदि अनीश्वरवादी दार्शनिकों की तरह जैन दार्शनिकों को उपर्युक्त सिद्धान्त मान्य नहीं है, अर्थात् वे यह नहीं मानते कि शुभ-अशुभ कर्मों का फलदाता ईश्वर है। जैसा कि लिखा जा चुका है कि ईश्वरवादियों के यहाँ जिस कार्य के लिए ईश्वर की कल्पना की गयी है, उस रूप में कर्म को ही जैन दर्शन में ईश्वर कहा जा सकता है, क्योंकि उसी के अनुसार जीव विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है।[3] दूसरी बात यह है कि मुक्त जीव ही सुखादि अनन्त चतुष्टयों से युक्त और कृतकृत्य होता है, इसलिए मुक्त जीव ही जैन सिद्धान्त में ईश्वर कहलाता है।[४] कहा भी है: "केवलज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण देवेन्द्र आदि जिसके पद की अभिलाषा और जिसकी आज्ञा का पालन करते हैं, वह परमात्मा ईश्वर होता है"।[५] अतः जैनों की ईश्वर-विषयक अवधारणा न्यायवैशेषिक आदि दर्शनों की ईश्वर-विषयक अवधारणा से भिन्न है। ईश्वर कर्मफल का प्रदाता नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की मान्यता निम्नांकित दोषों से दूषित है:—

(१) यदि ईश्वर को पूर्व-जन्म के कर्मो के शुभ-अशुभ फल का प्रदाता माना जाए, तो जीव के द्वारा किये गये सभी कर्म व्यर्थ हो जाएगें।[६]

(२) यदि ईश्वर जीवों को कर्मफल प्रदान करने के लिए उनके पाप-पुण्य के अनुसार सृष्टि करता है, तो ईश्वर को स्वतन्त्र कहना व्यर्थ हो जाएगा; क्योंकि ईश्वर कर्मफल देने में अदृष्ट की सहायता लेता है।[७] अतः जीवों को अपने अदृष्ट के उदय से ही सुख-दुःख और साधन उपलब्ध होते हैं। इसलिए इस विषय में ईश्वर की इच्छा व्यर्थ है।

---

१. स्याद्वादमञ्जरी : मल्लिषेण, श्लोक ६, पृ० ३०।

२. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२४।

३. परमात्मप्रकाश, गा० १।६६।

४. ज्ञानार्णव, २१।७।

५. पञ्चसंग्रह, गाथा १४, पृ० ४७।

६. स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयम् लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटम्, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥
—अमितगति : श्रावकाचार।

७. षड्दर्शनसमुच्चय, टीका, का० ४६, पृ० १८२-८३।

(३) अदृष्ट के अचेतन होने से वह किसी बुद्धिमान की प्रेरणा से ही फल दे सकता है, यह कथन भी ठीक नहीं है, अन्यथा हम लोगों की प्रेरणा से भी अदृष्ट को फल देना चाहिए। अतः ईश्वर की प्रेरणा से अदृष्ट को फल देने की बात मानना ठीक नहीं है।[1] अदृष्ट किसी दूसरे की प्रेरणा के बिना अपनी योग्यता द्वारा ही जीवों को सुख-दुःख पहुँचाता है। ईश्वर को जीवों के अदृष्ट का कर्त्ता मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीव स्वयं अपने पुण्य-पाप आदि कर्मों का कर्त्ता है।

(४) जीव ईश्वर की प्रेरणा से शुभ-अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जीव पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप कर्मों के उदय होने पर, शुभ-अशुभ परिणामों के अनुसार ही कार्य में प्रवृत्त होता है।[2]

(५) ईश्वर को कर्मों का फलदाता मानना इसलिए भी ठीक नहीं है कि ऐसा मानने से उसे कुम्भकार की तरह कर्त्ता मानना पड़ेगा। कुम्भकार शरीरी होता है, मगर ईश्वर अशरीरी है, वह किसी को दिखलाई नहीं देता है। अतः मुक्त जीव की तरह अशरीरी ईश्वर जीवों के कर्म-फलों का दाता कैसे हो सकता है।[3] अतएव सिद्ध है कि ईश्वर कर्मो का फलदाता नहीं है।

(६) ईश्वर को शुभ-अशुभ कर्मो का फलदाता मानने पर किसी भी निन्दनीय कार्य का दण्ड किसी भी जीव को नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि वैसे कार्यो के लिए ईश्वर ने उन जीवों को प्रेरित किया है। मगर जीवों को हत्या आदि अपराध का दण्ड मिलता है। इससे सिद्ध है कि ईश्वर शुभ-अशुभ कर्मों का फलदाता नहीं है। इसके अतिरिक्त, ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता, हर्त्ता, सर्वज्ञ, नित्य, एक, ऐश्वर्यवान् मानना भी निरर्थक ही है।[4]

अतः सिद्ध है कि ईश्वर कर्म-फल का दाता नहीं है। कर्म स्वयं फल देते हैं।

२. कर्म और पुनर्जन्म-प्रक्रिया

(क) पुनर्जन्म का अर्थ एवं स्वरूप :

भारतीय दर्शन के इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि

---

१. अस्मदादीनामपि.... । ततस्तत् परिकल्पनं व्यर्थमेव स्यात्।
—विश्वतत्त्वप्रकाश : भावसेन त्रैविद्य, पृ० ५६।

२. वही, पृ० ५६।

३. अष्टसहस्री : विद्यानन्दी, पृ० २७१।

४. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य :—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० २६५-८४। न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृ० ९७-१०९। अमितगतिश्रावकाचार, ४।७७-८४। महापुराण, ४।२२। षड्दर्शनसमुच्चय, टी०, पृ० १६७-१८७। आप्तपरीक्षा, का० ९।४२।

चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी दार्शनिकों ने कर्मवाद की तरह पुनर्जन्म सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानकर उसकी व्याख्या की है। सभी भारतीय चिंतक इस बात से सहमत हैं कि अपने किये गये शुभ-अशुभ कर्मों का फल समस्त प्राणियों को भोगना ही पड़ता है।[1] कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं, जिनका इसी जन्म में फल मिल जाता है और कुछ इस प्रकार के होते हैं, जिनका फल इस जन्म में नहीं मिलता है। जिन कर्मों का इस जन्म में फल नहीं मिलता है उनको भोगने के लिए कर्मसंयुक्त जीव पूर्ववर्ती स्थूलशरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है। इस प्रकार पहले के शरीर को छोड़कर उत्तरवर्ती शरीर धारण करना—पुनर्जन्म कहलाता है।[2] पुनर्जन्म को पर्याय-बदलना, पुनर्भव, जन्मान्तर, प्रेत्यभाव और परलोक आदि भी कहते हैं।[3]

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि जो आत्मा पूर्व पर्याय में होती है, वही उत्तर पर्याय में होती है।[4] आत्मा का विनाश नहीं होता है, बल्कि शरीर का ही विनाश होता है। मृत्यु का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा नष्ट हो जाती है, बल्कि इसका अर्थ स्थूलशरीर का विनाश है। अतः जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपड़े को छोड़कर नये वस्त्र को धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर को धारण कर लेता है। यही आत्मा का पुनर्जन्म कहलाता है।[5]

पुनर्जन्म-विचार पर आक्षेप और परिहार—चार्वाक की भाँति यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्म भी पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते हैं। ये सम्प्रदाय

---

१. नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। कर्मवाद और जन्मान्तर, अनुवादक—लल्ली प्रसाद पांडेय, पृ० २४।

२. जातश्चैव मृतश्चैव जन्मश्च पुनः पुनः। पुनश्चजन्मान्तरकर्मयोगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।—कैवल्योपनिषद्, पृ० ११४।

३. (क) प्रेत्यामुत्र भवान्तरे। — अमरकोष, ३।४।८।
(ख) मृत्वा पुनर्भवनं प्रेत्यभावः। —अष्टसहस्त्री, पृ० १६५।
(ग) प्रेत्यभावः परलोकः। —वही, पृ० ८८।
(घ) प्रेत्यभावो जन्मान्तर लक्षणः। —वही, पृ० १८१।
(ङ) पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। —न्यायसूत्र, १।१।१९।

४. मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्त जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो।
—पञ्चास्तिकाय, गा० १७।

५. गीता, २।२२।

एकजन्मवादी कहलाते हैं। इन सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि मृत्यु के बाद आत्मा नष्ट नहीं होती है, वह न्याय के दिन तक प्रतीक्षा में रहती है और न्याय के दिन तत्सम्बन्धी देवता द्वारा उन्हें उनके कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक भेज देते हैं। पुनर्जन्म पर एकजन्मवादियों ने अनेक आक्षेप किये हैं, आक्षेपों का पुनर्जन्मवादियों ने निराकरण किया है, जो विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। संक्षेप में उन पर विचार करना तर्कसंगत होगा—

१. पुनर्जन्म के विरोधी इस सिद्धान्त को भ्रान्तमूलक मानते हैं तथा अन्ध-विश्वास कहकर पुनर्जन्म-सम्बन्धी विचार का परिहास करते हैं। इस विषय में उनका तर्क है कि यदि पुनर्जन्म सत्य तथा यथार्थ सिद्धान्त होता तो पूर्वजन्म की अनुभूतियों का स्मरण समस्त जीवों को उसी प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था की स्मृति वृद्धावस्था में होती है।[1] इस आक्षेप का परिहार यह किया गया है कि स्मृति-शक्ति का सम्बन्ध हमारे दिमाग से है। वह मस्तिष्क नष्ट हो जाता है, इसलिए स्मृति नहीं होती है।[2] दूसरी बात यह है कि पूर्वजन्म के संस्कार सूक्ष्म रूप में आत्मा के साथ निहित होते हैं, जो अवसर पाकर उद्बुद्ध हो जाते हैं। अतः यद्यपि पूर्वजन्म की सम्पूर्ण स्मृति एक साथ नहीं होती, मगर तत्सम्बन्धी कारण सामग्री मिलने पर स्मृति हो ही जाती है। तीसरी बात यह है कि पुनर्जन्म की स्मृति होने का कारण कर्मजनित फल है। सभी प्राणियों के कर्म समान न हो कर विचित्र होते हैं, इसलिए समस्त प्राणियों को पुनर्जन्म की स्मृति नहीं होती है।[3] इसके अतिरिक्त लोकव्यवहार में भी यह देखा जाता है कि एक घटना को एक ही स्थान पर बहुत से व्यक्ति देखते सुनते हैं, लेकिन अनुभूत घटना की सबको एक तरह की स्मृति नहीं होती है। इसी प्रकार सभी को पुनर्जन्म की स्मृति नहीं होती है।[4]

पुनर्जन्म अन्धविश्वास नहीं है : प्रो० स्टीवेंसन का मत—पुनर्जन्म सिद्धांत अन्धविश्वास नहीं, बल्कि सत्य और यथार्थ सिद्धान्त है। इस विषय में वर्जीनिया विश्वविद्यालय, अमेरिका के चिकित्सा-विज्ञान-विभाग के प्रोफेसर

---

१. प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० ९१।
२. कर्मवाद और जन्मान्तर : हीरेन्द्रनाथ दत्त, पृ० ३१६।
३. शास्त्रवार्तासमुच्चय : हरिभद्र, १।४०।
४. लोकेऽपि नैकतः स्थानादागतानां तथेक्ष्यते।
अविशेषेण सर्वेषामनुभूतार्थसंस्मृतिः॥ —वही, १।४१।

ह्यान स्टीवेंसन ने कहा था[1] कि पुनर्जन्म को अन्धविश्वास की संज्ञा देकर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस पर गम्भीर अनुसन्धान होना चाहिए। प्रो० स्टीवेंसन ने बताया कि मुझे कई ऐसे मामले देखने को मिले, जिनमें व्यक्ति उन्हीं बीमारियों से ग्रस्त दिखाई दिये, जो उन्हें पूर्वजीवन में थीं। उन्होंने बताया कि भारत में बच्चों को बहुधा अपने पूर्वजीवन की बातें याद रहती हैं, क्योंकि उन्हें पूर्वजीवन की बातें बताने से रोका नहीं जाता। बौद्ध देशों में भी पूर्वजन्म की बहुत उपयोगी घटनाएँ देखने को मिलती हैं। इन देशों में अधिक ब्यौरा दिये जाने से पुनर्जन्म की घटनाओं की आसानी से छानबीन की जा सकती है। कई मामलों में पुनर्जन्मित बच्चों में भय और भावुकता की भावना अधिक दिखाई देती है। कुछ ज्ञात मामलों में सभी पुनर्जन्मित अपने पूर्वजीवन की बातें नहीं भूले थे, लेकिन उनकी स्मृति इतनी धूमिल थी कि वे अनुसन्धान में सहायक नहीं हो सकते थे।

पुनर्जन्म के दावे की अधिकांश घटनाओं में प्रोफेसर स्टीवेंसन को यह देखने को मिला कि पूर्वजीवन में उन्हें किसी न किसी दुर्घटना या हिंसा का शिकार होना पड़ा था। ऐसे व्यक्तियों की मृत्यु का कारण आग्नेयास्त्र देखकर या उसकी आवाज सुनकर या बिजली गिरने में देखा गया है—। डॉ० स्टीवेंसन का कहना है कि इससे इस मान्यता का खण्डन होता है कि पुनर्जन्म लेने वाले अपने पूर्व पापों का प्रायश्चित्त करते हैं।

प्रो० स्टीवेंसन ने बर्मा, थाईलैंड, लेबनान, तुर्की, सीरिया, श्रीलंका तथा कई यूरोपीय देशों में पुनर्जन्म की घटनाओं का अध्ययन किया है और उनका विश्वास है कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त के खण्डन का पुष्ट आधार नहीं है।[2] भारत में उन्होंने २० मामलों का अध्ययन किया, उनमें पूर्वजीवन के सात परिवार देखे और पूर्वजन्म की पुष्टि की। प्रो० स्टीवेंसन का कहना है कि पुनर्जन्म का मामला देखते ही बच्चों से छोटी उम्र में ही पूछताछ करनी चाहिए, क्योंकि ५-६ वर्ष के होने पर वे पूर्वजीवन की बातें भूलने लगते हैं।

२. पुनर्जन्म-सिद्धान्त की दूसरी समीक्षा में कहा जाता है कि पुनर्जन्म सिद्धान्त वंश-परम्परा का विरोधी है। क्योंकि वंश-परम्परा सिद्धान्तानुसार प्राणियों का मन तथा शरीर अपने माता-पिता के अनुरूप होता है। इस आक्षेप का परिहार यह किया गया है कि यदि पूर्वजन्म के कर्मो का फल न

---

१. दैनिक 'आज', २४ अक्तूबर, १९७२, पृ० ७, कालम ४।

२. दैनिक आज, २४ अक्तूबर, १९७२, पृ० २, कालम ६।

मानकर वंश-परम्परा-सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य की व्याख्या की जाए तो इसका परिणाम यह होगा कि जो गुण पूर्वजों में नहीं थे, उन गुणों का मानव में अभाव मानना पड़ेगा। मगर ऐसा नहीं होता है। प्रायः देखा जाता है कि जो गुण पूर्वजों में नहीं थे, वे गुण भी मनुष्य में होते हैं। अतः वंश-परम्परा-सिद्धान्त के आधार पर इस प्रकार के गुणों की व्याख्या करनी कठिन हो जायेगी।[1]

३. इस सिद्धान्त के विरुद्ध तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि पुनर्जन्म-सिद्धान्त से मनुष्य पारलौकिक जगत् के प्रति चिन्तित हो जाता है। इस आक्षेप को निराधार कहते हुए पुनर्जन्म-सिद्धान्त में विश्वास करने वालों ने कहा है कि यह सिद्धान्त मानव को दूसरे जन्म के प्रति अनुराग रखना नहीं सिखाता है।[2]

४. पुनर्जन्म-सिद्धान्त विरोधियों का एक आक्षेप यह भी है कि पुनर्जन्म-सिद्धान्त अवैज्ञानिक है, क्योंकि यह सिद्धान्त कहता है कि वर्तमान जीवन के कर्मों का फल दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है जिसका अर्थ यह हुआ कि देवदत्त के कर्मफलों को यज्ञदत्त को भोगना पड़ेगा। अन्य आक्षेपों की तरह यह आक्षेप भी निराधार एवं अतर्क-संगत है, क्योंकि जिस आत्मा ने इस जीवन में कर्म किये हैं, वही आत्मा जन्मान्तरों में अपने कर्मों का फल भोगता है। यह आक्षेप तो तब तर्कसंगत माना जाता, जब इस जन्म की आत्मा और भविष्यत्काल के जन्म की आत्मा अलग-अलग होती, लेकिन आत्मा का विनाश नहीं होता है, उसकी केवल पर्याय ही बदलती है।[3] अतः उपर्युक्त आक्षेप ठीक नहीं है। इस प्रकार सिद्ध है कि पुनर्जन्म-सिद्धान्त यथार्थ, युक्तियुक्त और निर्दोष है।

(ख) पुनर्जन्म-प्रक्रिया :

पुनर्जन्म विश्वव्यापक तथा भारतीय चिन्तकों का एक प्रमुख विवेच्य विषय है। यह पुनर्जन्म-अस्तित्व की सिद्धि से स्पष्ट है। बड़े-बड़े महर्षियों, मुनियों, दार्शनिकों, धार्मिकों तथा प्रखर तार्किकों ने इस सिद्धान्त पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन कर अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या की है। भारतीय साहित्य का अनुशीलन करने पर हम पाते हैं कि सभी ने आत्मा को नित्य मान कर उसे शुभ-अशुभ कर्मफलों का कर्त्ता तथा भोक्ता माना है। जैन दार्शनिकों का मत है कि आत्मा

---

१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा : प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, पृ० २५।

२. वही, पृ० २५।

३. पंचास्तिकाय, गा० १७-१८।

अनादिकाल से कर्म के साथ संयुक्त होने से अशुद्ध है। इस अशुद्धता के कारण आत्मा विभिन्न योनियों यथा ऊंची-नीची गतियों में भ्रमण करता है।[1] आत्मा जो भी कर्म करता है, उन कर्मों का फल तो उसको भोगना ही पड़ता है, चाहे इस जन्म में भोगे या पुनर्जन्म में। क्योंकि कर्म बिना फल दिये विनष्ट नहीं होते हैं। कर्म आत्मा का तब तक पीछा नहीं छोड़ते, जब तक जीव को अपने फल का भोग न करा दें।[2] अतः सभी अध्यात्मवादियों ने कर्म को आत्मा के पुनर्जन्म का कारण मान कर उसकी अपने-अपने ढंग से व्याख्या की है।

न्यायदर्शन के अनुसार शुभ-अशुभ कर्म करने से इसके संस्कार आत्मा में पड़ जाते हैं। वैशेपिकों ने पुनर्जन्म की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए कहा है कि राग और द्वेप से धर्म और अधर्म (पुण्य-पाप) की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सुख-दुःख को उत्पन्न करती है तथा ये सुख-दुःख जीव के राग-द्वेप को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।[3] पं० रंगनाथ पाठक ने भी लिखा है—जब तक धर्माधर्मरूप प्रवृत्तिजन्य संस्कार बना रहेगा, तब तक कर्मफल भोगने के लिए शरीर ग्रहण करना आवश्यक रहता है। शरीर-ग्रहण करने पर प्रतिकूल वेदनीय होने के कारण बाधनात्मक दुःख का होना अनिवार्य रहता है। मिथ्याज्ञान से दुःखपर्यन्त अविच्छेदन निरन्तर प्रवर्तमान होता है, यही संसार शब्द का वाच्य है। यह घड़ी की तरह निरन्तर अनुवृत्त होता रहता है। प्रवृत्ति ही पुनः आवृत्ति का कारण होती है।[4] महर्षि गौतम के सूत्र से भी यही सिद्ध होता है कि मिथ्याज्ञान से राग-द्वेप आदि दोप उत्पन्न होते हैं। इन दोषों से प्रवृत्ति होती है तथा प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख होता है।[5] न्याय-वैशेपिकों का सिद्धान्त है कि आत्मा व्यापक है। धर्माधर्म प्रवृत्ति-जन्य संस्कार मन में निहित होते हैं, अतः जब तक आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा का पुनर्जन्म होता रहता है। अतः पुनर्जन्म का प्रमुख कारण आत्मा और मन का सम्बन्ध है। एम० हिरियन्ना ने कहा है, 'आत्मा

---

१. सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो। संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं।—समयसार, गा० १६०।

२. यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्। तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥—महाभारत, शान्तिपर्व, १८१।१६।

३. (क) इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः—वैशेपिकसूत्र, ६।२।१४।
(ख) एम० हिरियन्ना: भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २६२।

४. षड्दर्शनरहस्य, पृ० १३५।

५. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये—।—न्यायसूत्र, १।१।२।

के सांसारिक बन्धन में पड़ने का मूलकारण निश्चय ही उसका मनस् से सम्बन्ध होना है।[1]

सांख्य-योग दर्शन में भी यह मान्यता है कि जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप अनेक योनियों में भ्रमण करता है।[2] सांख्य-योग चिन्तकों का सिद्धान्त है कि शुभाशुभ कर्म स्थूल शरीर के द्वारा किये जाते हैं, लेकिन वह उन कर्मों के संस्कारों का अधिष्ठाता नहीं है। शुभाशुभ कर्मों के अधिष्ठाता के लिए स्थूल शरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर की कल्पना की गयी है।[3] पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच तन्मात्राओं, बुद्धि एवं अहंकार से सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है।[4] मृत्यु होने पर स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीर वर्तमान रहता है। इस सूक्ष्म शरीर को आत्मा का लिंग भी कहते हैं, जो प्रत्येक संसारी पुरुष के साथ रहता है। यही सूक्ष्म शरीर पुनर्जन्म का आधार है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में कहा भी है—'संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्'।[5] इस कारिका पर भाष्य करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि 'लिंग शरीर बार-बार स्थूल शरीर को ग्रहण करता है और पूर्वगृहीत शरीरों को छोड़ता रहता है, इसी का नाम संसरण है।' मृत्यु होने पर सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होता है, अपितु आत्मा पुराने स्थूल शरीर को छोड़ कर नवीन स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। संसार में आत्मा (पुरुष) के अनेक योनियों में भटकने का कारण सूक्ष्म शरीर ही है। जब तक पुरुष (आत्मा) का सूक्ष्म शरीर विनष्ट नहीं होता है, तब तक उसका संसार में गमनागमन होता रहता है। पूर्व जन्म के अनुभव और कर्म के संस्कार लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म शरीर) में निहित रहते हैं।[6] लिङ्ग शरीर के निमित्त से पुरुष का प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर जन्म-मरण का चक्र आरम्भ हो जाता है। सांख्यकारिका में कहा भी है :—

> पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिक प्रसङ्गेन।
> प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवत् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥[7]

---

१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २३०-३१।
   द्रष्टव्य—बन्धनिमित्तं मनः—न्यायमंजरी, पृ० ४९९।
२. सांख्यसूत्र, ६।४१।
३. सांख्यसूत्र, ६।१६।
४. सांख्यसूत्र, प्रवचन भाष्य, ६।९।
५. सांख्यकारिका, ४०।
६. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २९१।
७. सांख्यकारिका, ४२।

इस पर भाष्य करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार रंगस्थल पर एक ही व्यक्ति कभी परशुराम, कभी अजातशत्रु और कभी वत्सराज के रूप में दर्शकों को दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करके देवता, मनुष्य, पशु या वनस्पति के रूप में प्रतिभासित होता है। भोग का एक मात्र साधन यही लिङ्ग शरीर है। सांख्य दर्शन में आत्मा व्यापक होने के कारण उस का स्थान-परिवर्तन नहीं हो सकता है, इसलिए आत्मा का पुनर्जन्म किस प्रकार होगा ? इस शंका का समाधान करने के लिए सांख्यों को इस सूक्ष्म शरीर की कल्पना करना अनिवार्य हो गया था। न्याय-वैशेपिकों ने भी इस प्रश्न का समाधान अणुरूप मन को मान कर किया है। न्यायवैशेपिकों की तरह सांख्य दार्शनिक यह मानते हैं कि आत्मा (पुरुष) का पुनर्जन्म नहीं होता है, बल्कि लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म शरीर) का ही पुनर्जन्म होता है।[1] आत्मा के मुक्त हो जाने पर वह उससे अलग हो जाता है। मीमांसा दर्शन में न्याय-वैशेपिक की तरह मन को पुनर्जन्म का कारण मान कर पुनर्जन्म सिद्धान्त की व्याख्या की गयी है और वेदान्त दर्शन में सांख्यों की तरह सूक्ष्म शरीर की कल्पना करके पुनर्जन्म का विश्लेपण किया गया है।

बौद्ध दर्शन यद्यपि अनात्मवादी-दर्शन कहलाता है, लेकिन अन्य भारतीय आत्मवादियों की तरह यह दर्शन भी कर्म और पुनर्जन्म सिद्धान्तों में विश्वास करता है और उनकी तार्किक व्याख्या करता है। पालि-त्रिपिटक का अनुशीलन करने पर परिलक्षित होता है कि अन्य कर्मवादियों की तरह भगवान् बुद्ध ने भी कर्म को पुनर्जन्म का कारण माना है।[2] उनके वचनामृतों के अनुसार कुशल (शुभ) कर्म सुगति का और अकुशल कर्म दुर्गति का कारण है।[3] प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त जिसे भवचक्र कहते हैं, पुनर्जन्म की सम्पूर्ण व्याख्या करता है। इस सिद्धान्तानुसार अविद्या और संस्कार ही हमारे पुनर्जन्म के कारण हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा है—"हे भिक्षुओं, चार आर्यसत्यों के प्रतिवेध न होने से इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आवागमन, संसरण हो रहा है....[4]।" इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि पुनर्जन्म का मूल कारण

---

१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० २९१।

२. कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्म सम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्ततीति॥
—बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४७८ में उद्धृत।

३. मज्झिमनिकाय, ३।४।५।

४. दीर्घनिकाय, २।३।

अविद्या है। अविद्या का अर्थ है, अज्ञान। अवास्तविक को वास्तविक समझना, अनात्म को आत्म मानना, अविद्या है। अविद्या के कारण संस्कार होते हैं। संस्कार मानसिक वासना भी कहलाते हैं। संस्कार से विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान वह चित्तधारा है, जो पूर्वजन्म में कुशल या अकुशल कर्मों के कारण उत्पन्न होती है और जिसके कारण में मनुष्य को आंख, कान आदि विषयक अनुभूति होती है।[1] विज्ञान के कारण नामरूप उत्पन्न होता है। रूप को नाम और वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को रूप कहते हैं। मन और शरीर के समूह के लिए नाम-रूप का प्रयोग किया जाता है। नाम-रूप षडायतन को उत्पन्न करता है। पांच इन्द्रियां और मन षडायतन कहलाते हैं। षडायतन स्पर्श का कारण है। इन्द्रिय और विषयों का संयोग स्पर्श है। स्पर्श के कारण वेदना उत्पन्न होती है। पूर्व इन्द्रियानुभूति वेदना कहलाती है। वेदना तृष्णा को उत्पन्न करती है। विषयों के भोगने की लालसा तृष्णा कहलाती है। तृष्णा उपादान को उत्पन्न करता है। सांसारिक विषयों के प्रति आसक्त रहने की लालसा उपादान है। उपादान भव का कारण है। भव का अर्थ है, जन्मग्रहण करने की प्रवृत्ति। भव जाति (पुनर्जन्म) का कारण है और जाति से ही जरा-मरण होता है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। अविद्या और तृष्णा-यही पुनर्जन्म-चक्र के मुख्य चक्के हैं। बौद्धदर्शन में पुनर्जन्म की यही प्रक्रिया है।[2] अविद्या के नष्ट हो जाने पर पुनर्जन्म होना रुक जाता है। बौद्ध धर्म-दर्शन में यह समस्या उठती है कि पुनर्जन्म किसका होता है? क्योंकि इस मत में आत्मा, संस्कार सब कुछ अनित्य हैं। उपर्युक्त समस्या का समाधान प्रतीत्य-समुत्पाद सिद्धान्त के अनुसार किया गया है कि अन्य पुनर्जन्मवादियों की तरह जीवन का विनाश होना ही पुनर्जन्म नहीं है, बल्कि प्राणियों का जीवन क्षण मात्र होने के कारण प्रतिक्षण उसका पुनर्जन्म होता रहता है। एक दीपक से दूसरा दीपक जलाने का अर्थ यही है कि ज्योतियों की एक नयी सन्तान आरम्भ हो गयी है, इसी प्रकार मृत्यु के बाद मृतव्यक्ति का जन्म नहीं होता है, बल्कि उसी संस्कार वाला दूसरा क्षण (व्यक्ति) जन्म ले लेता है।[3] मिलिन्दप्रश्न में नागसेन ने उपर्युक्त समस्या का समाधान उसी प्रकार से किया है जिस प्रकार सांख्य आदि दार्शनिकों ने सूक्ष्म शरीर की कल्पना करके और उसका पुनर्जन्म मान कर किया

---

१. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ३९५।
२. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ० १५०।
३. (क) बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ४८२।
(ख) अभिधम्मत्थसंगहो का हिन्दी अनुवाद, पृ० १६।

था। नागसेन के अनुसार नाम-रूप का पुनर्जन्म होता है। राजा मिलिन्द ने नागसेन से पूछा कि कौन उत्पन्न होता है? क्या वह वही रहता है या अन्य हो जाता है? नागसेन ने विस्तृत संवाद के बाद बतलाया कि न तो वही उत्पन्न होता है और न अन्य, बल्कि धर्मों के लगातार प्रवाह से, उनके संघात रूप में आ जाने से एक उत्पन्न होता है, दूसरा नष्ट हो जाता है। यह कार्य इतनी तीव्रगति से होता है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि युगपत् हो रहा है।[1] इसी बात को स्पष्ट करते हुए 'नामरूपं खो महाराज पीटसन्दहतीति' अर्थात् नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है। राजा के यह पूछने पर कि क्या यही नाम-रूप जन्म-ग्रहण करता है? नागसेन ने उत्तर दिया कि यह नामरूप ही जन्म ग्रहण नहीं करता है, किन्तु यह नाम-रूप शुभ-अशुभ कर्म करता है और उन कर्मों के कारण एक अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है, यही संसरण करता है।[2] राजा की आपत्ति का निराकरण करते हुए भदन्त नागसेन ने कहा कि हे राजन्! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है, वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य किन्तु प्रथम (नाम-रूप) से द्वितीय नाम-रूप निकलता है।[3] अतः हे महाराज धर्म सन्तति ही संसरण करती है।[4] इसी प्रकार विज्ञानाद्वैतवादियों ने भी सन्तति का पुनर्जन्म होना माना है।

जैन-चिन्तकों ने भी पुनर्जन्म की व्याख्या एवं प्रक्रिया विस्तृत रूप से की है। जैनागम, पुराण, महाकाव्य, नाटक, स्तोत्र एवं दार्शनिक ग्रन्थादि में पुनर्जन्म सम्बन्धी विवेचन तथा तत्सम्बन्धी कथाओं का उल्लेख मिलता है। जैन विचारकों का मत है कि आत्मा का पर-द्रव्य के साथ संयोग होने पर उसको विभिन्न योनियों में घूमना पड़ता है।[5] हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप अशुभ कर्म करने से जीव नरकादि अशुभ और निम्न योनियों में भ्रमण करता है और अहिंसादि शुभ-कर्म करने से जीव मनुष्य, देव आदि योनियों में जन्म लेता है।[6] यह लिख चुके हैं कि आत्मा और कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध है, जिसके कारण जीव अनादि काल से आवागमन रूप पुनर्जन्म के चक्र में भ्रमण करता रहता है।

---

१. मिलिन्दप्रश्न, पृ० ४३।
२. वही, पृ० ४३।
३. वही, पृ० ४४।
४. एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति।—वही।
५. अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कैः कश्मलीकृतः। स्वेच्छयार्थोन्समादत्ते स्वतोऽन्त्यन्तविलक्षणान्।—ज्ञानार्णव, २१।२२।
६. रूपाण्येकानि गृहणाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम्। यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः।—वही, संसारभावना, ८।

अनादि काल से कर्मों से संयुक्त आत्मा के द्रव्यकर्मों के कारण राग-द्वेष रूप भाव कर्म (जीव के ऐसे परिणमित भाव जो पुद्गल कर्मणा को द्रव्य कर्म रूप में परिणमित करते हैं) होते हैं। राग-द्वेष रूप से परिणमन करने पर जीव कार्मण वर्गणा में से ऐसे परमाणुओं को आकर्षित करता है, जिनमें कर्मयोग्य बनने की शक्ति होती है और जो द्रव्य कर्म कहलाते हैं। इस प्रकार द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्य कर्म आते रहते हैं। इस प्रकार जीव का पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में कहा भी है :

इस संसारी जीव के अनादि कर्म-बंध के कारण राग-द्वेष रूप स्निग्ध एवं अशुद्धभाव होते हैं, उन अशुद्ध राग-द्वेष रूप परिणामों के कारण ज्ञानावरणादि रूप आठ द्रव्य कर्मों का बन्ध होता है। इन द्रव्यकर्मों के उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतियों को प्राप्त करता है। गतियों में जन्म लेने से शरीर की उपलब्धि होती है और शरीर उपलब्ध होने पर इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियों के होने पर जीव विषय ग्रहण करता है और विषयों को ग्रहण करने से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार संसारी जीव कुम्भकार के चक्र की तरह इस संसार में भ्रमण करता रहता है।[1] कुन्दकुन्द के उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि पुनर्जन्म का प्रमुख कारण कर्म और जीव का परिणाम है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है कि यह जीव शरीर में दूध और पानी की तरह मिल कर रहता है तो भी अपने स्वभाव को छोड़कर शरीर रूप नहीं हो जाता है। रागादि भावों सहित होने के कारण यह जीव द्रव्य कर्म रूपी मल से मलिन हो जाने पर मिथ्यात्व रागादि रूप भावकर्मों (अध्यवसायों) तथा द्रव्य कर्मों से रचित अन्य शरीर में प्रविष्ट होता रहता है। इस प्रकार सिद्ध है कि जीव स्वयं शरीरान्तर में जाता है।[2]

भारतीय चिन्तकों ने जिसे सूक्ष्म शरीर माना है, जैन दर्शन में उसे पांच शरीरों में से एक कार्मण शरीर कहा गया है, जो समस्त अन्य शरीरों की अपेक्षा सूक्ष्म होता[3] है और समस्त संसारी जीवों के होता है। जैन दार्शनिक यह भी मानते हैं कि संसारी जीव की मृत्यु के बाद औदारिकादि समस्त शरीर नष्ट हो जाते हैं, केवल कार्मण शरीर जीव के साथ रहता है। यही कार्मण शरीर जीव

---

१. पंचास्तिकाय, १२८।३०।

२. अनादि......तस्य देहान्तर संचरणकारणोपन्यास इति। टीका :
—पञ्चास्तिकाय, गा० ३४।

३. 'औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि। परम्परं सूक्ष्मम्।'
—तत्त्वार्थसूत्र, २।३६-७। 'सर्वस्य'—वही, २।४२।

को विभिन्न योनियों में ले जाता है।[१] जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता है, तब तक इस शरीर का विनाश नहीं होता है। कार्मण शरीर अन्य समस्त शरीरों का कारण होता है।[२] इस शरीर के नष्ट होने पर ही जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है।

यह पहले लिखा जा चुका है कि कर्मसिद्धान्त के अनुसार एक आनुपूर्वी नामक नामकर्म होता है। यही कर्म जीव को अपने उत्पत्तिस्थान तक उसी प्रकार पहुँचा देता है, जिस प्रकार रज्जु से बंधा हुआ बैल अभीष्ट स्थान पर ले जाया जाता है। आनुपूर्वी कर्म वक्रगति करने वाले जीव की सहायता करता है। कार्मणशरीरयुक्त जीव अभीष्ट जन्म-स्थान पर पहुँचकर औदारिकादि शरीर का स्वयं निर्माण करता है। जैन दर्शन में पुनर्जन्म की यही प्रक्रिया उपलब्ध है।

(ग) पुनर्जन्म-साधक प्रमाण :

भारतीय चिन्तकों ने अनेक युक्तियों द्वारा पुनर्जन्म-सिद्धान्त को सिद्ध किया है। वेद[३], उपनिषद्[४], स्मृति[५], गीता[६] और जैन-बौद्ध साहित्य में वर्णित पुनर्जन्म की घटनाओं से पुनर्जन्म-सिद्धान्त का समर्थन और पुष्टि होती है।[७] उक्त साहित्य में पुनर्जन्म साधक निम्नांकित युक्तियाँ उपलब्ध हैं।[८]

स्मृति द्वारा पुनर्जन्म-सिद्धान्त की सिद्धि : तत्काल उत्पन्न शिशु में हर्ष, भय, शोक, मां का स्तनपान आदि क्रियाओं से पुनर्जन्म-सिद्धान्त की सिद्धि होती है। क्योंकि उसने इस जन्म में हर्षादि का अनुभव नहीं किया है, जबकि ये सब क्रियाएँ

---

१. तेन कर्मादानं देशान्तरसंक्रमश्च भवति।—सर्वार्थसिद्धि, २।२५, पृ० १८३।

२. सर्वशरीरप्ररोहण बीजभूतं कार्मणं शरीरं कर्मेत्युच्यते।—वही।

३. ऋग्वेद, १०।५७।५, १।१६४, ३०-३१-३२ और ३७। यजुर्वेद, ३६।३९।

४. कठोपनिषद्, १।२।६। मुण्डकोपनिषद्, १।२।९-१०। बृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।८, ४।४।३।

५. मनुस्मृति, १२।४०, १२।५४९।

६. गीता, ८।१५-१६। ४।५।

७. द्रव्यसंग्रह, टीका : गा० ४२।

८. (क) वीरनन्दि, चन्द्रप्रभुचरित : प्रशस्ति का अन्तिम श्लोक।
(ख) आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, ८।१९१-२०७।
(ग) उत्तरपुराण, ७१।१६९। (घ) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ५३-५४१।

पूर्वाभ्यास से ही सम्भव हैं।[1] अतः पूर्वाभ्यास की स्मृति से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।[2] अनन्तवीर्य ने सिद्धिविनिश्चय टीका[3] में इसी तर्क से पुनर्जन्म-सिद्धान्त की सिद्धि की है। जिस प्रकार एक युवक का शरीर शिशु की उत्तरवर्ती अवस्था है, इसी प्रकार शिशु का शरीर पूर्वजन्म के पश्चात् होने वाली अवस्था है।[4] यदि ऐसा न माना जाए तो पूर्वजन्म में भोगे हुए तथा अनुभव किये हुए का स्मरण न होने से तत्काल उत्पन्न प्राणियों में उपर्युक्त भयादि प्रवृत्तियाँ कभी नहीं होगीं। लेकिन उनमें उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ होती हैं। अतः पुनर्जन्म की सत्ता है।

राग-द्वेष की प्रवृत्ति से पुनर्जन्म की सिद्धि : प्राणियों में सांसारिक विषयों के प्रति राग द्वेषात्मक प्रवृत्ति का होना भी पुनर्जन्म को सिद्ध करता है। वात्स्यायन ने अपने भाष्य में इसका विस्तृत विवेचन किया है।[5]

जीवन-स्तर से पुनर्जन्म-सिद्धि : पुनर्जन्म की सिद्धि जीवों के जीवन-स्तर से भी होती है। विभिन्न जीवों का न तो समान शरीर, रूप, आयु होती है और न भोगादि के सुख-साधन एक से होते हैं। कोई जन्म से ही अन्धे, बहरे, लूले होते हैं, तो कोई बहुत ही सुन्दर होते हैं। कोई खाने के लिए मुहताज हैं तो कोई दूध-मलाई आदि स्वादिष्ट भोजन ही करते हैं। इस प्रकार जीवों में व्याप्त विषमता किसी अदृश्य कारण की ओर संकेत करती है।[6] यह अदृश्य कारण पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का फल ही है, जिसे भोगने के लिए दूसरा जन्म लेना पड़ता है। अतः जीवों के जीवन-स्तर से पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

---

१. (क) न्यायसूत्र, ३।१।१८। (ख) तदहर्जस्तनेहातो—प्रमेयरत्नमाला, ४।८, पृ० २९७।
२. वही, ३।१।२१।
३. सिद्धिविनिश्चयटीका, ४।१४, पृ० २८८।
४. (क) अष्टसहस्री, हिन्दी अनुवाद सहित, पृ० ३५४।
   (ख) जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ४९४ पर उद्धृत।
५. न्यायदर्शन—वात्स्यायनभाष्य, पृ० ३२६।
६. 'लोक में देखा जाता है कि कोई व्यक्ति जन्म से राजकुल में उत्पन्न होने के कारण सुखोपभोग करता है—। इस वैषम्य का कारण पुनर्जन्म के अतिरिक्त अन्य दूसरा क्या हो सकता है' ?—। पं० रंगनाथ पाठक, षड्दर्शन-रहस्य, पृ० १३। (ख) दिगम्बर जैन, वर्ष ६३, अंक १-२, ता० २०-१२-१९६९, पृ० १८-१९। (ग) हीरेन्द्रनाथ दत्त : कर्मवाद और जन्मान्तर, पृ० १९६-९९।

जन्मजात विलक्षण प्रतिभा से पुनर्जन्म-सिद्धि : जन्मजात विलक्षण प्रतिभा के द्वारा भी पुनर्जन्म सिद्ध होता है। कुछ व्यक्ति अलौकिक प्रतिभा वाले होते हैं और कुछ महान् अज्ञानी होते हैं। इसका कारण यही है कि जिस जीव ने जिस कार्य का पहले के जन्म में अभ्यास किया होता है, वह उस में प्रवीण हो जाता है और अनभ्यस्त आत्मा मूढ़ होती है। इस विषय में सुकरात (साक्रेटीज) का कथन उद्धृत करने से उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। "एक बार प्लेटो ने सुकरात से पूछा कि आप सभी विद्यार्थियों को एक सा पाठ पढ़ाते हैं, किन्तु कोई एक बार में, कोई दो बार में और कोई उसे तीन बार में सीखता है, कोई उसे अनेक बार में भी नहीं सीख पाता है। क्यों ? सुकरात ने उत्तर दिया कि जिन लोगों ने पहले से ही अभ्यास किया है, उसे जल्दी समझ में आता है और जिन्होंने कम अभ्यास किया है, उन्हें अधिक देर लगती है और जिन्होंने अभी समझना आरम्भ ही किया है उन्हें और भी अधिक देर लगती है।" साक्रेटीज के इस कथन से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

आत्मा के नित्यत्व से पुनर्जन्म की सिद्धि : भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा को नित्य माना है। मृत्यु के बाद शरीर नष्ट हो जाता है लेकिन आत्मा का मृत्यु के बाद भी अस्तित्व रहता है।[1] आत्मा के नित्य होने से स्पष्ट है कि वह एक शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर को अपने कर्मों के अनुसार धारण करता है, यही पुनर्जन्म कहलाता है। कहा भी है :—"आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः[2]।" आचार्य वात्स्यायन ने इस सूत्र की व्याख्या में कहा है "नित्योऽयमात्मा प्रेति पूर्व शरीरं जहाति म्रियते इति प्रेत्य च पूर्वशरीरं हित्वा भवति जायते शरीरान्तरमुपादत्त इति तच्चैतदुभयं जन्ममरण....प्रेत्यभावो वेदितव्या।" इस प्रकार उपर्युक्त कथन से आत्मा का पुनर्जन्म होना सिद्ध है।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से पुनर्जन्म-सिद्धान्त की सिद्धि : प्रत्यक्ष और स्मरण का जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है।[3] इस प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से पुनर्जन्म सिद्ध होता है। जैन दर्शन में देवों के वर्गीकरण में एक व्यन्तर देवों का भी वर्गीकरण है। यक्ष, राक्षस और भूतादि व्यन्तर देव प्रायः यह कहते हुए सुने जाते हैं कि मैं वहीं हूँ, जो पहले अमुक था।[4] यदि आत्मा का पुनर्जन्म न माना जाए तो

१. देहहं पेक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
   जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥ परमात्मप्रकाश, १।७१।
२. न्यायदर्शन, ४।१।१०।
३. परीक्षामुख, ३।५।
४. (क) मृतानां रक्षोयक्षादिकुलेषु स्वयमुत्पन्नत्वेन कथयतां....। प्रमेयरत्नमाला, ४।८, पृ० २९६। (ख) रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः। वही, पृ० २९७।

भूत, प्रेतों को इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए। अतः व्यन्तरों का प्रत्यभिज्ञान पुनर्जन्म को सिद्ध करता है।

पूर्वभव के स्मरण से पुनर्जन्म-सिद्धि : पूर्वभव का स्मरण पुनर्जन्म को सिद्ध करने का ज्वलन्त प्रमाण है। नारकी जीवों के दुःखों का वर्णन करते हुए पूज्यपाद ने कहा है कि "पूर्वभव के स्मरण होने से उनका वैर दृढ़तर हो जाता है, जिससे वे कुत्ते-गीदड़ की तरह एक दूसरे का घात करने लगते हैं[1]।" योगसूत्र के कथन से भी सिद्ध होता है कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है। यदि पुनर्जन्म न हो तो पूर्वभव के स्मरण-कथन करने का कोई अर्थ नहीं होता है। जब तक दूसरा जन्म न माना जाए, तब तक 'पूर्वभव' नहीं कहा जा सकता है। पूर्वभव-स्मरण की अनेक घटनाएं समाचारपत्रों में अक्सर प्रकाशित होती रहती हैं[2]।

उपर्युक्त तर्कों के अलावा और भी अनेक युक्तियों के द्वारा भारतीय चिन्तकों ने पुनर्जन्म सिद्ध किया है।

कर्मवाद-सिद्धान्त भारतीय दर्शन का, विशेष रूप से जैन दर्शन का प्रमुख, अपूर्व एवं अलौकिक सिद्धान्त है। जीवन की समस्त समस्याओं का विश्लेषण कर्म सिद्धान्त के आधार पर करना जैन दर्शन की निजी विशेषता है। नैतिक व्यवस्था की व्याख्या कर्म सिद्धान्त के द्वारा ही सम्भव है। जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त ईश्वरवाद का खण्डन नहीं करता है, बल्कि जगत्-कर्तृत्व का खंडन करता है। कर्मवाद न तो समाज-सेवा का विरोधी है, जैसा कुछ आलोचक कहते हैं, और न यह सिद्धान्त भाग्यवाद का पोषण ही करता है।

कर्मवाद-सिद्धान्त और पुनर्जन्म-प्रक्रिया के ज्ञान से जीव को न केवल नैतिक बनने की प्रेरणा मिलती है, बल्कि वह आत्मा की अशुद्धता को क्रमशः दूर कर शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए भी प्रयत्नशील हो जाता है। इसी की प्राप्ति ही जीव का परम उद्देश्य है।

●

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ३।४, पृ० २०८।

२. 'आज' दिनांक २४-९-१९६१।

चौथा अध्याय

बन्ध और मोक्ष

(१) बन्ध की अवधारणा और उसकी मीमांसा :

(क) बन्ध का स्वरूप : संसारी आत्मा कर्मो से जकड़ी हुई होने के कारण परतन्त्र है। इसी परतन्त्रता का नाम बन्ध है।[1] भारतीय दर्शन का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि समस्त भारतीय दार्शनिकों ने संसारी आत्मा के बन्ध की परिकल्पना की है। दो या दो से अधिक पदार्थों का मिल कर विशिष्ट सम्बन्ध को प्राप्त होना या एक हो जाना—बन्ग कहलाता है। उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्याय में बन्ध-स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि कषाय-युक्त जीव के द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बन्ध है।[2] पूज्यपाद और अकलंकदेव आदि आचार्यों ने बन्ध-स्वरूप को परिभाषित करते हुए कहा है कि कर्म-प्रदेशों और आत्म-प्रदेशों का परस्पर में दूध और पानी की तरह मिल जाना बन्ध है।[3] जब आत्मा के प्रदेशों से पुद्गल द्रव्य के कर्मयोग्य परमाणु मिल जाते हैं तो आत्मा का अपना स्वरूप एवं शक्ति विकृत हो जाती है। अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करने में वह स्वतन्त्र नहीं रहती है। यही उसका वन्ध कहलाता है।

(ख) बन्ध के भेद : अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में बन्ध का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है।[4] सामान्य की अपेक्षा से बन्ध के भेद नहीं किये जा सकते हैं। अतः इस दृष्टि से बन्ध एक ही प्रकार का है। विशेष की अपेक्षा से बन्ध दो प्रकार का है[5]—(१) द्रव्य-बन्ध और (२) भाव-बन्ध।

(अ) द्रव्यबन्ध : ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलों के प्रदेशों का जीव के साथ मिलना द्रव्यबन्ध कहलाता है।[6]

---

१. बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धः—तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।१०, पृ० २६।

२. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। स बन्धः।—तत्त्वार्थसूत्र, ८।२।

३. (क) सर्वार्थसिद्धि, १।४, पृ० १४; तत्त्वार्थसूत्र, ८।२।
   (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।१७, पृ० १६।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, १।७।१४, पृ० ४०, ८।४।१५, पृ० ५६९।

५. वही, २।१०।२, पृ० १२४।

६. आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। सर्वार्थसिद्धि, १।४, पृ० १४।

(आ) भाववन्ध : आत्मा के अशुद्ध चेतन परिणाम (भाव) मोह, रागद्वेप और क्रोधादि, जिनसे ज्ञानावरणादि कर्म के योग्य पुद्गल परमाणु आते हैं, भाव-वन्ध कहलाता है।[1] आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार[2] में कहा है कि जो उपयोग स्वरूप जीव विविध विपयों को प्राप्त कर मोह, राग, द्वेप करता है, वही उनसे बंधता है। द्रव्यसंग्रह में नेमिचन्द्र ने भी कहा है कि जिस चेतन परिणाम से कर्म बंधता है, वह भाववन्ध है।[3] इस पर टीका करते हुए ब्रह्मदेव ने लिखा है कि मिथ्यात्व रागादि की परिणति रूप या अशुद्ध चेतन भाव के परिणामस्वरूप जिस भाव से ज्ञानावरणादि कर्म बंधते हैं, वह भाव वन्ध कहलाता है।[4]

द्रव्य-वन्ध और भाव-वन्ध में भाव-वन्ध ही प्रधान है क्योंकि इसके बिना कर्मों का जीव के साथ वन्ध नहीं हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में कहा भी है "वह (अज्ञान, मिथ्या-दर्शन और मिथ्याचारित्र) तथा इस प्रकार के और भी भाव जिनके नही होते हैं, वे मुनि अशुभ या शुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं[5]।"

वन्ध के चार भेद : उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में वन्ध के चार भेद वतलाए हैं[6] :—

(अ) प्रकृतिवन्ध
(आ) स्थितिवन्ध
(इ) अनुभव (अनुभाग) वन्ध
(ई) प्रदेशवन्ध

ये चारों कर्मवन्ध उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य की अपेक्षा से चार-चार प्रकार के होते हैं।[7]

---

१. (क) क्रोधादि परिणामवशीकृतो भाववन्धः—तत्त्वार्थवार्तिक, २।१००, —पृ० १२४।
(ख) वध्यन्ते अस्वतन्त्रीक्रियन्तेकार्मणंद्रव्यायेनपरिणमेन आत्मनः स वन्धः। —भगवती आराधना, विजयोदया टीका, ३८।१३४।
२. प्रवचनसार, २।८३।
३. वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भाववंधो सो—द्रव्यसंग्रह, गा० ३२।
४. द्रव्यसंग्रह, टीका, गा० ३२, पृ० ९१।
५. समयसार, गा० २७०।
६. तत्त्वार्थसूत्र, ८।३।
७. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ८९।

(व) प्रकृतिबन्ध : गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में प्रकृति, शील, मल, पाप कर्म और स्वभाव को एकार्थवाची कहा गया है। पण्डित राजमल्ल ने पंचाध्यायी में शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति को एकार्थवाची शब्द वतलाया है।[१] पूज्यपाद ने स्वभाव को प्रकृति कहा है।[२] रागद्वेषादि विचित्र भावों के अनुसार कर्म भी विभिन्न प्रकार की फलदान-शक्ति को लेकर आते हैं और अपने प्रभाव से आत्मा को प्रभावित करते हैं। जो कर्म जिस प्रकार का फल देता है, वह प्रकृति का स्वभाव कहलाता है। धवला में आचार्य वीरसेन ने कहा भी है "जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादि रूप फल दिया जाता है, वह प्रकृति है। जो कर्मस्कन्ध वर्तमान काल में फल देता है और भविष्य में फल देगा, इन दोनों ही कर्म-स्कन्धों को प्रकृति कहते हैं"।[३] पूज्यपाद ने उदाहरण देकर वतलाया है कि नीम की प्रकृति कड़वापन है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति ज्ञान का न होने देना है।[४] कर्म साहित्य में एक और उदाहरण उपलब्ध है। जिस प्रकार किसी लड्डू का स्वभाव किसी की वायु को, किसी के कफ को और किसी के पित्त को दूर करने का होता है, उसी प्रकार किसी कर्म का स्वभाव आत्मा के ज्ञानगुण को न होने देना है, किसी का स्वभाव दर्शन गुण पर आवरण डालना है। इसी प्रकार अन्य कर्मों का अपना-अपना स्वभाव है।[५] अतः आठ प्रकार के कर्मों के योग्य पुद्गल द्रव्य का आकार धारण करना प्रकृतिवन्ध है।[६]

प्रकृतिवन्ध के भेद : (क) कर्म साहित्य में प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का कहा गया है[७] :— १. मूल प्रकृतिवन्ध—ज्ञानावरणादि आठ कर्म मूल प्रकृतिबन्ध हैं। २. उत्तर प्रकृतिबन्ध—कर्मों के भेद-प्रभेद उत्तर प्रकृतिबन्ध कहलाते हैं। उत्तर प्रकृतिवन्ध के एक सौ अड़तालीस भेद हैं। पंचाध्यायी में उत्तर प्रकृति-बन्ध के असंख्यात भेद होने का उल्लेख किया गया है।

---

१. (क) गोम्मटसार, गा० २ एवं ५२।
   (ख) पंचाध्यायी, पूर्वार्धकारिका ४८।
२. प्रकृतिः स्वभावः—सर्वार्थसिद्धि, ८।३, पृ० ३७८।
३. धवला, पु० १२, खण्ड ४, भाग २, पृ० ३०४।
४. सर्वार्थसिद्धि, ८।३, पृ० ३७८।
५. वही, ८।३, पृ० ३७८।
६. ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्यस्वीकारः प्रकृतिवन्ध। नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, ४०।
७. दुविहो पर्यायवन्धो मूलो तहउत्तरो चेव। मूलाचार, गा० १२२१।

(ख) पंचसंग्रह[1] और गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में[2] प्रकृति-वन्ध के निम्नांकित चार भेद भी उपलब्ध हैं :—(१) सादिवन्ध (२) अनादिवन्ध (३) ध्रुव-वन्ध और (४) अध्रुववन्ध ।

(आ) स्थितिवन्ध :—जितने समय तक कर्मरूप पुद्गल परमाणु आत्मा के प्रदेशों में एक होकर ठहरते हैं, उस काल की मर्यादा को स्थितिवन्ध कहते हैं ।[3] अतः कर्मवन्ध और फलप्रदान करने के बीच का समय स्थितिवन्ध कहलाता है । आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि अपने-अपने स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है । जिस प्रकार बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध का माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है, उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों के, वस्तु का ज्ञान न होने देना, स्वभाव का न छूटना आदि स्थितिवन्ध हैं ।[4] वीरसेन ने भी कहा है—योग के कारण कर्म रूप से परिवर्तित पुद्गल स्कन्धों का कषाय के कारण जीव में एक रूप रहने का कारण स्थितिवन्ध है ।[5]

स्थितिवन्ध के भेद : स्थितिबन्ध दो प्रकार का है—१. उत्कृष्ट स्थितिवन्ध और २. जघन्य स्थितिबन्ध ।[6] उत्कृष्ट संक्लेश रूप कारण से होने वाली कर्मों की स्थिति उत्कृष्ट स्थितिबन्ध[7] है । मन्दकषाय के कारण कर्मों के अवस्थान का काल जघन्य (कम से कम) स्थितिवन्ध कहलाती है ।[8]

(इ) अनुभागवन्ध : अनुभाग का अर्थ है—शक्ति । प्रकृति में अनुभाग का अर्थ कर्मों की फल देने की शक्ति विशेष है । उमास्वामी ने कहा भी है "विविध प्रकार से फल देने की शक्ति अनुभाग या अनुभववन्ध कहलाती है ।[9]"

---

१. पंचसंग्रह, गा० ४।२३३ ।
२. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ९० ।
३. (क) कम्मसरूवेण परिणदाणं कम्मइयपोग्गलक्खं धाणं
कम्मभावमछंडिय अच्छणकालो ट्ठिदीणाम ।—कसायपाहुड, ३।३५८ ।
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ६।१३।३ ।
४. सर्वार्थसिद्धि, ८।३ ।
५. धवला पु० ६, सं० १, भाग ९-६, सूत्र २ ।
६. सा स्थितिर्द्विविधा—उत्कृष्टा जघन्या च । सर्वार्थसिद्धि, ८।१३ ।
७. प्रकृष्टात् प्रणिधानात् परा, तत्त्वार्थवार्तिक, ८।१३।३ ।
८. (क) निकृष्टात् प्रणिधानात् अवरा । तत्त्वार्थवार्तिक, ८।१३।३ ।
(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० १३४ ।
९. (क) विपाकोऽनुभवः—तत्त्वार्थसूत्र, ८।२१ ।
(ख) मूलाचार, गा० १२४० ।

पूज्यपाद ने कहा है कि कर्म की इस विशेष शक्ति का नाम अनुभव है। जिस प्रकार बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में अलग-अलग तीव्र, मन्द आदि रस (शक्ति) विशेष होता है, उसी प्रकार कर्म-पुद्गलों की अपनी विशेष शक्ति का होना अनुभव है।[1]

अनुभागबन्ध के भेद : १. उत्कृष्ट अनुभागबन्ध, २. जघन्य अनुभागबन्ध। आध्यात्मिक विशुद्ध परिणामों के कारण शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। संक्लेश रूप अत्यधिक अशुभ परिणामों की अशुभ प्रकृतियों का अनुबन्ध होता है। शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध संक्लेश परिणामों (भागों) से और अशुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध मन्द कषाय रूप विशुद्ध परिणामों से होता है।[2] स्वमुख और परमुख की अपेक्षा से भी अनुभागबन्ध दो प्रकार का होता है।[3] पंचसंग्रह[4] में अनुभागबन्ध के चौदह भेदों का उल्लेख किया गया है।

(ई) प्रदेशबन्ध : एक पुद्गल परमाणु जितना स्थान घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं। उपचार से पुद्गल परमाणु भी प्रदेश कहलाता है। अतः पुद्गल कर्मों के प्रदेशों का जीव के प्रदेशों के साथ बन्ध होना, प्रदेशबन्ध कहलाता है। सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि संख्या का निश्चय (अवधारण) करना प्रदेश है अर्थात् कर्म रूप में परिणत पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की जानकारी करके निश्चय करना, प्रदेशबन्ध कहलाता है।[5] तत्त्वार्थसूत्र में प्रदेशबन्ध का स्वरूप बतलाते हुए उमास्वामी ने कहा है कि कर्म प्रकृतियों के कारणभूत प्रति समयोग विशेष के कारण सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशों में चिपक कर रहते हैं, इसी को प्रदेशबन्ध कहते हैं।[6] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में भी यही कहा गया है।[7]

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ८।३।
२. (क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० १६३।
   (ख) पंचसंग्रह (प्रा०) गा० ४।४५१-४५२।
३. सर्वार्थसिद्धि, ८।२१।
४. सादि अणादिय अट्ठ पसत्थिदरपरूवणा तहा सण्णा।
   पच्चय विवाय देसा सामित्तेणाह अणुभागो ॥—पंचसंग्रह, गा० ४।४४१।
५. सर्वार्थसिद्धि, ८।३, पृ० ३७९ (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ८।३।७।
६. तत्त्वार्थसूत्र, ८।२४।
७. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा, १८५-२६०।

(ग) बन्ध के कारण :

जैनेतर दर्शन में बन्ध के कारण : आत्मा कर्म से क्यों बँधता है ? बन्ध के क्या कारण हैं ? दार्शनिक क्षेत्र में ये प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। वैदिक दार्शनिकों ने अज्ञान या मिथ्याज्ञान को बन्ध का कारण माना है। न्याय-सूत्र में मिथ्याज्ञान को समस्त दुःखों का कारण कहा गया है। गौतमऋषि ने कहा है कि मिथ्याज्ञान ही मोह है। यह मोह केवल तत्त्वज्ञान की उत्पत्तिरूप नहीं है, किन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना और बुद्धि के अनात्म होने पर भी इनमें "मैं ही हूँ," ऐसा जो ज्ञान मिथ्याज्ञान और मोह है, यही कर्म-बन्ध का कारण है।[1]

वैशेषिक दार्शनिकों का भी यही मन्तव्य है।[2] ईश्वरकृष्ण ने भी सांख्य-कारिका में बन्ध का कारण प्रकृति और पुरुष विषयक विपर्ययज्ञान को माना है। यही विपर्यय मिथ्याज्ञान कहलाता है।[3] योग दार्शनिक क्लेश को बन्ध का कारण मानते हैं। किन्तु क्लेश का कारण उन्होंने अविद्या को माना है।[4] अद्वैत वेदान्त दर्शन में अविद्या को ही बन्ध का कारण माना गया है। बौद्ध दर्शन में भी कर्मबन्ध का कारण अविद्या मानी गयी है। कहीं-कहीं मिथ्याज्ञान और मोह को भी बन्ध का कारण कहा गया है।[5]

जैन दर्शन में कर्मबन्ध के कारण : जैनदार्शनिकों ने कर्म-बन्ध के कारणों की संख्या एक से लेकर पाँच तक बतलायी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में वैदिक दर्शनों की तरह अज्ञान को ही बन्ध का प्रमुख कारण बतलाया है।[6] प्रज्ञा-पनासूत्र में भगवान् ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा है कि ज्ञानावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है, दर्शनावरणीय कर्म के तीव्र उदय से दर्शन मोहनीय कर्म का तीव्र उदय होता है, दर्शन मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का तीव्र उदय होता है और मिथ्यात्व के उदय से जीव आठ प्रकार के कर्म बाँधते हैं।[7] इस कथन से स्पष्ट है कि बन्ध का मूल कारण

---

१. (क) न्यायसूत्र, १।१।२, ४।१।३-६।
   (ख) न्यायभाष्य, ४।२।१।
२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ५३८।
३. सांख्यकारिका, ४४, ४७ एवं ४८।
४. योगदर्शन, २।३।१४।
५. भारतीय दर्शन—सम्पा० डा० न० कि० देवराज, अद्वैतवेदान्त प्रकरण।
६. (क) समयसार, गा० २५९ और भी द्रष्टव्य, गा० १५३। (ख) समयसार आत्मख्याति, टी० गा० १५३।
७. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ० २८३ पर उद्धृत।

अज्ञान है। समयसार में उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है कि राग ही बन्ध का वास्तविक कारण है।[1] इसी ग्रन्थ में उन्होंने राग, द्वेष और मोह को[2] तथा अन्यत्र मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग को बन्ध का कारण माना है।[3] आचार्य नेमिचन्द्र ने भी गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में उपर्युक्त मिथ्यात्व आदि चार कारणों को बन्ध का कारण बतलाया है।[4] मूलाचार में वट्टकेर ने बन्ध के मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय, योग और आयु का परिणाम—ये पाँच कारण बतलाये हैं।[5] आयु के परिणाम को बन्ध का कारण वट्टकेर के अलावा अन्य कोई जैन दार्शनिक नहीं मानता है। रामसेन ने तत्त्वानुशासन में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को बन्ध का कारण माना है।[6] स्थानांग, समवायांग एवं तत्त्वार्थसूत्र में कर्मबन्ध के पाँच कारण माने गये हैं :— (१) मिथ्यादर्शन, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग।[7] समवायांग में कषाय और योग को कर्मबन्ध का कारण कहा गया है।[8] योग से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होता है तथा कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है।[9] गोम्मटसार (कर्मकाण्ड)[10] द्रव्यसंग्रह[11] आदि में भी यही कहा गया है।

(१) मिथ्यादर्शन : मिथ्यादर्शन का अर्थ विपरीत श्रद्धान होना है। दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन से उल्टा मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन में तत्त्वों का यथार्थ

---

१. समयसार, गा० २३७-२४१।
२. समयसार, गाथा १७७।
३. वही, गाथा १०९ (ख) बारस अणुपेक्खा, गा० ४७।
४. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० ७८६।
५. मिच्छादंसण अविरदि कसाय जोगा हवंति बंधस्स।
आऊसज्झवसाणं हेदव्वो ते दु णायव्वा ॥ मूलाचार, गाथा १२१९।
६. स्युर्मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि समासतः।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥ — तत्त्वानुशासन, ८।
७. (क) जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ४३२ पर उद्धृत।
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ९।१।
८. समवायांग, २।
९. जोगा पयडि-पएसा ठिदिअणुभागा कसायदो कुणदि।—सर्वार्थसिद्धि, ८।३।
१०. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा २५७।
११. पयडिट्ठिदि—जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥
—द्रव्यसंग्रह, गा० ३३।

श्रद्धान होता है और मिथ्यादर्शन के कारण तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता है।[1] भगवती आराधना[2] एवं सर्वार्थसिद्धि[3] में कहा भी है—"जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है।" कारण विपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूप विपर्यास की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन तीन प्रकार का होता है।[4]

(२) अविरति : विरति का अभाव अविरति है।[5] सर्वार्थसिद्धिकार ने विरति का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत होना अर्थात् अनासक्त होना विरति है और इनसे विरति न होना अविरति है। अतः हिंसा आदि पाँच पापों को नहीं छोड़ना या अहिंसादि पाँच व्रतों का पालन न करना अविरति है।[6]

ब्रह्मदेव ने कहा भी है "अन्तरंग में अपने परमात्मस्वरूप की भावना एवं परमसुखामृत में उत्पन्न प्रीति के विपरीत बाह्य विषय में व्रत आदि का पालन न करना, अविरति है।[7]" आचार्य कुन्दकुन्द के बारस-अणुवेक्खा में अविरति के पाँच भेदों का उल्लेख है— (१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) कुशील और (५) परिग्रह।[8]

(३) प्रमाद : प्रमाद का अर्थ है—उत्कृष्ट रूप से आलस्य का होना। क्रोधादि कषायरूप भार के कारण जीव इतना भारी हो जाता है कि अहिंसा आदि अच्छे कार्यों के करने में उसका आदरभाव नहीं होता है। यही कारण है कि आचार्य पूज्यपाद[9], भट्ट अकलंकदेव[10] ने कषायसहित अवस्था और कुशल

---

१. निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते।—द्रव्यसंग्रहटीका, गा० ४२, पृ० ७९।

२. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
—भगवती आराधना, गा० ५६।

३. (क) सर्वार्थसिद्धि, २।६। (ख) नयचक्र, गाथा ३०३।

४. सर्वार्थसिद्धि, १।३२।

५. विरतिरुक्ता। तत्प्रतिपक्षभूता अविरतिर्ग्राह्या।—सर्वार्थसिद्धि, ८।१।

६. वही, ७।१।

७. द्रव्यसंग्रह टीका, गा० ३०, पृ० ७८।

८. बारस-अणुवेक्खा, गा० ४८।

९. (क) प्रमादः सकषायत्वं।—सर्वार्थसिद्धि, ७।१३।
(ख) स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः।—वही, ८।१।

१०. तत्त्वार्थवार्तिक, ८।१।३।

(शुभ) कार्यों में अनादर भाव रखने को प्रमाद बतलाया है। वीरसेन ने क्रोध, मान, माया और लोभ रूप संज्वलन कषाय और हास्य आदि नो उप-कषायों के तीव्र उदय होने को प्रमाद कहा है।[1] महापुराण में मन, वचन, काय की उस प्रवृत्ति को प्रमाद बतलाया गया है, जिससे छठवें गुणस्थानवर्तीजीव को व्रतों में संशय उत्पन्न हो जाता है।[2] स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, राजकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत, निद्रा और स्नेह की अपेक्षा से प्रमाद पन्द्रह प्रकार का होता है।[3]

(४) कषाय : आत्मा के भीतरी वे कलुष परिणाम, जो कर्मों के श्लेष के कारण होते हैं, कषाय कहलाते हैं।[4]

(५) योग : मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशों के परि-स्पन्दन को योग कहते हैं।[5] इन्हीं के कारण कर्मों का आत्मा के साथ संयोग होता है।

उपर्युक्त कर्मबन्ध-प्रक्रिया के विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में इसका सूक्ष्म विवेचन किया गया है। कर्मबन्ध-प्रक्रिया का इतना सूक्ष्म चिन्तन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। यद्यपि कर्मबन्ध के कारणों के विषय में जैन दर्शन और अन्य दर्शनों में कुछ भेद है, लेकिन मूलतः उनमें भेद नहीं है। क्योंकि मिथ्याज्ञान को सभी दार्शनिकों ने कर्मबन्ध का कारण माना है। इस कर्मबन्ध का उच्छेद भी हो सकता है। अतः कर्मबन्ध-प्रक्रिया की तरह कर्मोच्छेद-प्रक्रिया का विवेचन करना भी आवश्यक है।

(घ) बन्ध-उच्छेद :

बन्ध-उच्छेद का अर्थ है, आत्मा के कर्मबन्ध का नष्ट होना। भारतीय दार्शनिकों ने कर्मबन्ध और उसके कारणों की भाँति, बन्ध-उच्छेद का भी विशद् तथा तार्किक विवेचन किया है। वैदिक-दार्शनिक एकमात्र ज्ञान से बन्धोच्छेद होना मानते हैं, लेकिन जैन-दार्शनिक इस विषय में उनसे सहमत नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि ज्ञानमात्र या आचरणमात्र से कर्मबन्ध का निरोध नहीं

---

१. धवला, पु० ७, खं० २, भाग १, सूत्र ७।
२. महापुराण, ६२।३०५।
३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ३४।
४. (क) सर्वार्थसिद्धि, ६।४, पृ० ३२०।
   (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ६।४।२, पृ० ५०८।
५. सर्वार्थसिद्धि, २।२६, पृ० १८३।

हो सकता है। इसके विपरीत ज्ञान और आचरण के संयोग से कर्मवन्ध-निरोध अवश्य हो जाता है। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को समष्टि रूप से मोक्ष का कारण बतलाया है।

जैन दर्शन में कर्मबन्ध-उच्छेद की दो विधियाँ प्रतिपादित की गयी हैं।[1] पहली विधि के द्वारा नवीन कर्मबन्ध को रोका जाता है, इसे आगम में संवर कहते हैं।[2] दूसरी विधि के द्वारा आत्मा से पूर्वबद्ध कर्मों को अपने विपाक के पूर्व ही तपादि के द्वारा अलग किया जाता है, इसे जैन आचार्यों ने निर्जरा कहा है। कर्मबन्ध-निरोध-प्रक्रिया एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है। जिस प्रकार किसी तालाब के पानी को खाली करने के लिए पहले उन नालों को बन्द करना पड़ता है, जिनसे तालाब में पानी आता है। इसके बाद तालाब के अन्दर का पानी किसी यन्त्र से बाहर निकाल देते हैं। ऐसा करने से तालाब पानी से खाली हो जाता है। उसी प्रकार नवीन कर्म-आस्रवों का निरोध और उसके बाद पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करने से आत्मा कर्मों से रहित हो जाती है। बन्धोच्छेद के प्रसंग में संवर के बाद निर्जरा करने से ही साधक मोक्ष प्राप्त कर सकता है। संवरविहीन निर्जरा निरर्थक होती है। आचार्य शिवकोटि ने कहा भी है, "जो मुनि संवरविहीन है, केवल उसके कर्म का नाश तपश्चरण से नहीं हो सकता है। यदि जल-प्रवाह आता ही रहेगा तो तालाब सूखेगा कब[1] ?" उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कर्मबन्धोच्छेद में संवर और निर्जरा का महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख स्थान है, इसलिए उनका यहाँ संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

(क) संवर : कर्मों के आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं।[2] अकलंकदेव ने एक उदाहरण द्वारा बताया है कि जिस प्रकार नगर की अच्छी तरह से घेराबन्दी कर देने से शत्रु नगर के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता है, उसी प्रकार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र द्वारा इन्द्रिय, कषाय और योग को भली-भाँति संवृत कर देने पर आत्मा में आने वाले नवीन कर्मों के द्वार का रुक जाना संवर है। एक दूसरे उदाहरण द्वारा भी संवर को आचार्यों ने समझाया है। जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका के छेद को बंद कर देने से उसमें जल नहीं प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने

---

१. भगवती आराधना : शिवकोटि, गाथा १८५४।

२. आस्रवनिरोधः संवरः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।११, पृ० १८, तथा ९।१, पृ० ५८७।

पर संवृत जीव के नवीन कर्मों का आना रुक जाता है।[1] हेमचन्द्रसूरि ने एक यह भी उदाहरण दिया है कि जिस तरह तालाब में समस्त द्वारों से जल का प्रवेश होता है किन्तु द्वारों को बन्द कर देने से उसके अन्दर जल प्रवेश नहीं करता है, उसी प्रकार योगादि आस्रवों को सर्वतः अवरुद्ध कर देने से संवृत आत्मा के प्रदेशों में कर्म द्रव्य प्रविष्ट नहीं होता है।[2]

जिन क्रियाओं से संसार होता है, उसे रोकने वाला आत्मा का परिणाम भाव-संवर और कर्म-पुद्गलों को रोकने वाला कारण द्रव्य-संवर कहलाता है।[3] इस प्रकार संवर दो प्रकार का होता है।

संवर के कारण : आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार[4] में अविपरीत ज्ञान को संवर का कारण बतलाया है। वे कहते हैं कि उपयोग में उपयोग है, क्रोध में उपयोग नहीं है, क्रोध में क्रोध है, उपयोग में क्रोध नहीं। आठ प्रकार के कर्म और नो-कर्म में उपयोग नहीं है तथा उपयोग में कर्म और नो-कर्म नहीं हैं। इस प्रकार का अविपरीत अर्थात् सम्यक् ज्ञान होने पर जीव उपयोग से शुद्ध आत्मा अन्य भावों को नहीं करती है। अतः ज्ञानयुक्त आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा का ध्यान कर कर्मों से रहित हो जाता है। पञ्चास्तिकाय में भी कहा है "जिसके समस्त द्रव्यों में राग-द्वेष-मोह नहीं होता है, उस सुख-दुःख में समभाव रखने वाले मुनि के शुभ-अशुभ कर्मोंका आस्रव न होने से पुण्य और पाप रूप कर्मों का संवर हो जाता है।"[5] बारस-अणुवेक्खा में सम्यक्त्व, महाव्रत, कषाय-निरोध, चारित्र और ध्यान—संवर के कारण बतलाये गये हैं।[6]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषाय-जय और योगों का अभाव एवं विषय-विरक्ति, मन और इन्द्रिय-निरोध—संवर के कारण

---

१. रुंधिय छिद्दसहस्से जलजाणे जह जलं तु णासवदि।
मिच्छत्ताइअभावे तह जीवे संवरो होई ॥—नयचक्र, गा० १५६।

२. नवतत्त्व साहित्य संग्रह (सप्त तत्त्व प्रकरण), ११८-१२२।
जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० ४९९ पर उद्धृत।

३. (क) सर्वार्थसिद्धि, ९।१, पृ० ४०६।
(ख) चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो।—द्रव्यसंग्रह, गा० ३४।

४. समयसार, संवराधिकार, गा० १८१–१९२

५. पञ्चास्तिकाय, गा० १४२-१४३।

६. द्वादशानुप्रेक्षा, गा० ६१-६४।

कहे गये हैं।[1] धवला में भी सम्यग्दर्शन, विषय-विरक्ति, कषाय-निग्रह और योग के निरोध को संवर बतलाया गया है।[2] स्थानांग और समवायांग आगम में भी सम्यक्त्व-व्रत, अप्रमाद, अकषाय और योग का अभाव संवर के कारण माने गये हैं।[3] उमास्वामी और उनके तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों ने (१) गुप्ति, (२) समिति, (३) धर्म, (४) अनुप्रेक्षा, (५) परीषहजय (६) चारित्र और (७) तप को संवर का कारण माना है।[4]

१. गुप्ति : गुप्ति का अर्थ है—रक्षा करना अर्थात् आत्मा की रक्षा करना गुप्ति कहलाती है। गुप्ति के बिना कर्मों का संवर नहीं हो सकता है। भगवती आराधना, मूलाचार आदि आगमों में कहा भी है "जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिए काटों की बाड़ी होती है अथवा नगर की रक्षा के लिए नगर के चारों ओर खाई-कोट (प्राकार) होता है, उसी प्रकार पाप को रोकने के लिए गुप्ति होती है।"[5] पूज्यपाद ने कहा है कि संक्लेशरहित योगों का निरोध करने से उनसे आने वाले कर्मों का आगमन रुक जाता है। अतः गुप्ति से संवर होना सिद्ध है।[6] संवर के अन्य कारण गुप्ति पर निर्भर हैं। महाव्रतों का निर्दोष पालन भी गुप्ति पर निर्भर करता है। तत्त्वार्थसूत्र में मन, वचन और काय को योग कह कर उस योग को सम्यक् (भलिभाँति) रूप से रोकने को गुप्ति कहा गया है।[7]

---

१. सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
   एदे संवर - णामा जोगाभावो तहा चेव॥
   जो पुण विसयविरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ।
   मणहर विसएहितो तस्स फुडं संवरो होदि॥
   —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ९५, १०१।

२. धवला, पु० ७, खं० २, भा० १, सूत्र ७, गा० २।

३. जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ० २०४।

४. (क) स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२-३।
   (ख) सर्वार्थसिद्धि, ९।२-३। (ग) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२-३।
   (घ) तत्त्वार्थसार, ६।३।

५. (क) भगवती आराधना, गा० ११८९। (ख) मूलाचार, गा० ३३४।

६. तस्मात् सम्यग्विशेषणविशिष्टात, संक्लेशाप्रादुर्भावपरात्कायादियोग निरोधो सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या।
   —सर्वार्थसिद्धि, ९।४। तुलना के लिए—(क) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।४।४।
   (ख) तत्त्वार्थसार, ६।५।

७. तत्त्वार्थसूत्र, ९।४ और भी द्रष्टव्य—मूलाचार, गा० ३३१।

गुप्ति के भेद : पूज्यपाद[1] आदि आचार्यों ने गुप्ति के तीन प्रकार बतलाये हैं—(१) कायगुप्ति (२) वचनगुप्ति और (३) मनोगुप्ति।

(२) समिति : समिति का पालन करने से साधु को हिंसा का पाप नहीं लगता है। समिति का भलीभांति पूर्वक आचरण करना समिति है।[2] तात्पर्य यह है कि गुप्ति का पालन हमेशा नहीं किया जा सकता है और साधक को भी प्राण-यात्रा के लिए कुछ बोलना, खाना, पीना, रखना, उठाना, मलमूत्र आदि का त्याग करना पड़ता है। ऐसा करने से कर्म-आस्रव हो सकते हैं, अतः कर्म-आस्रव को रोकने के लिए और संयम की शुद्धि के लिए साधक को चाहिए कि उपर्युक्त क्रियाएं आगम के कथनानुसार इस प्रकार करें कि दूसरे प्राणियों का विनाश न हो। जीवों की रक्षा का इस प्रकार का विचार (भावना) समिति है। पूज्यपाद आदि आचार्यों ने कहा भी है "पीड़ा के परिहार (दूर करने) के लिए सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति होना समिति है[3]।"

समिति के भेद : आगमों में समिति के पांच भेद बतलाये गये हैं[4]—(१) ईर्यासमिति (२) भाषासमिति (३) एषणासमिति (४) आदाननिक्षेपणसमिति और (५) उत्सर्गसमिति।

(३) धर्म : जैन दर्शन में धर्म की व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से की गई है। समता, माध्यस्थता, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र और स्वभाव की आराधना—ये धर्मवाचक शब्द हैं।[5]

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और भावपाहुड़ आदि ग्रन्थों में चारित्र एवं राग-द्वेष से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म बतलाया गया है।[6]

धर्म के भेद : धर्म निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा से दो प्रकार का होता

---

१. स त्रितयीकायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति।—सर्वार्थसिद्धि, ९।४ और भी द्रष्टव्य (क) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।४।४। (ख) तत्त्वार्थसार, ६।४।

२. समितिरिती, सम्यगिति : समितिरिति।—तत्त्वार्थवार्तिक, ९।५।२।

३. प्राणिपीड़ापरिहारार्थं, सम्यगयनं समितिः। (क) सर्वार्थसिद्धि, ९।२। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२।२। (ग) भगवती आराधना, विजयोदयाटीका, गा० १६।५।

४. (क) मूलाचार, गा० १० एवं ३०१। (ख) चारित्रपाहुड़, गा० ३७। (ख) तत्त्वार्थसूत्र, ९।५ और उसकी टीकायें।

५. नयचक्र, गा० ३५६-५७।

६. प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, १/७।

है।[1] पात्र (धर्मी) की अपेक्षा से भी धर्म दो प्रकार का बतलाया गया है : गृहस्थ-धर्म और मुनि-धर्म। प्रकृत में मुनि-धर्म ही अभीष्ट है। क्योंकि मुनि-धर्म पालन करने से ही पूर्णरूप से संवर हो सकता है। यह मुनिधर्म उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के भेद से दस प्रकार का है।[2]

४. अनुप्रेक्षा : अनुप्रेक्षाओं से न केवल नवीन कर्मों का आना ही बन्द होता है, बल्कि पुराने संचित कर्मों की निर्जरा भी होती है। वैराग्य की वृद्धि एवं सम्पुष्टि भी अनुप्रेक्षाओं द्वारा होती है। अध्यात्म मार्ग के पथिक (साधक) की कषाय-अग्नि का शमन अनुप्रेक्षाओं से ही होता है।[3]

अनुप्रेक्षा, भावना, चिन्तन समानार्थक हैं। उमास्वामी ने तत्त्वों के बार-बार चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा कहा है।[4] सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में अनुप्रेक्षा की दो परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं। शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा कहा गया है।[5] इसी प्रकार ज्ञात विषय का अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है।[6] वीरसेन ने भी धवला में कहा है "कर्मों की निर्जरा के लिए पूर्णरूप से हृदयंगम हुए श्रुत ज्ञान का परिशीलन करना अनुप्रेक्षा है।"[7]

---

१. पंचपरमेष्ठ्यादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहारधर्मस्तावदुच्यते।
—प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, १।८।

२. बारस अणुवेक्खा, गाथा ६८-७०।

३. (क) विध्याति कषायाग्निर्विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम। उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात् ॥—ज्ञानार्णव, सर्ग २। उपसंहार का० २।
(ख) तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम् ॥—पञ्चविंशतिका, ६।४२।

४. ....स्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।७।

५. शरीरादीनां स्वाभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा (क) सर्वार्थसिद्धि, ९।२। पृ० ३१२।
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२।४।

६. (क) वही, ९।२५। (ख) वही, ९।२५।३।

७. (क) कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठिभज्जायुगमस्स। सुदणाणस्सपरिमलणमणुपेक्खण-णाम।—धवला, पु० ९, खं० ४, भा० १, सूत्र ५५।
(ख) सुदत्थस्स सुदाणुसारेण चिंतण मणुपेहणंणां। वही, पृ० १४, खं० ५ भा० ६, सूत्र १४।

अनुप्रेक्षाओं की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भावों को शुद्ध करने हेतु पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा के भेद : जैनागमों में अनुप्रेक्षा के बारह भेद बतलाये गये हैं[1]—(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचित्व (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोक (११) बोधिदुर्लभ और (१२) धर्म। बारस अणुपेक्खा, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थसार, ज्ञानार्णव, योगसार आदि में उपर्युक्त अनुप्रेक्षाओं का विशद् स्वरूप-विवेचन उपलब्ध है।

५. परीषहजय : मोक्षमार्ग पर आरूढ़ साधक नवीन कर्मों का संवर करता हुआ संचित कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि की वेदना को स्वयं अविचलित एवं अविकारी भाव से सहन करता है, यही परीषह है। तत्त्वार्थसूत्र[2] में कहा भी है "मार्ग से भ्रष्ट न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए सहने योग्य को सहन करना परीषह है।"

पूज्यपाद ने परीषहजय का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि क्षुधादि की वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा के लिए उन्हें सहन करना परीषह है और परीषह को जीतना परीषहजय है।[3] भट्ट अकलंकदेव ने भी यही कहा है।[4]

परीषह के भेद : तत्त्वार्थसूत्र में[5] परीषह के बाईस भेद बतलाये गये हैं—(१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंशमशक (६) नग्नता (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषधा (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) वध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन।

६. चारित्र : चारित्र कर्मास्रव के निरोध का, परम संवर का एवं मोक्ष मार्ग का साक्षात् और प्रधान कारण है।[6] समता, माध्यस्थ्य, शुद्धोपयोग, वीतरागता, धर्म

१. (क) बारस अणुवेक्खा। (ख) तत्त्वार्थसूत्र, ९।७। (ग) प्रशमरति प्रकरण, का० १४२-१५०।

२. तत्त्वार्थसूत्र, ९।८।

३. क्षुधादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परिषहः। परिषहस्य जयः परिषहजयः।—सर्वार्थसिद्धि, ९।२, पृ० ३१२।

४. तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२।६।

५. तत्त्वार्थसूत्र, ९।९।

६. (क) चारित्रमन्ते गृह्यते मोक्षप्राप्तेः साक्षात्कारणमिति ज्ञापनार्थम्।—सर्वार्थसिद्धि, ९।१८, पृ० ३३३। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१८।५, पृ० ६१७, एवं

और स्वभाव की आराधना के अर्थ में 'चारित्र' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है।[1] सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद ने चारित्र की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र चारित्र है।[2] मोक्षपाहुड़ में पुण्य और पाप के त्याग को चारित्र कहा गया है।[3] पुण्य और पाप रूप क्रियाएँ हैं, इनसे संसार में आवागमन होता है अर्थात् पुण्य-पाप क्रियाओं के करने से कर्मों का आस्रव होता है जिससे संसार में बार-बार आना पड़ता है। यही कारण है कि आचार्यों ने मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना पूर्वक संसार के कारणभूत क्रियाओं के त्याग को चारित्र कहा है।[4]

चारित्र के भेद : तत्त्वार्थसूत्र[5] में चारित्र के निम्नांकित पाँच भेद बतलाये गये हैं : (१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्म-सांपराय, और (५) यथाख्यात।

(७) तप : इच्छाओं का निरोध करना तप है।[6] तप से कर्मों का आना भी रुकता है और पुराने कर्मों की निर्जरा भी होती है।[7]

आचार्य कुन्दकुन्द ने तप का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि "विषय और कषाय को नष्ट करने का भाव करना, ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा का चिन्तन भाव करना, तप है।[8] सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में भी कहा गया है कि "शक्ति को न छिपा कर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश (कष्ट) देना तप है"।[9]

९।१७।७, पृ० ६१६। (ग) तदेतच्चारित्रं पूर्वास्रव निरोधकारणत्वात्परम संवरहेतुरवसेयः। वही, ९।१८।१४।

१. नयचक्र, गा० ३५६।

२. सर्वार्थसिद्धि, १।१।

३. तंचारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं।—मोक्षपाहुड़, गा० ३७।

४. (क) सर्वार्थसिद्धि, १।१। (ख) १।१।३।
   (ग) वहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणपणासट्टं।
   णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं॥—द्रव्यसंग्रह, गा० ४६।
   (घ) तत्त्वानुशासन, का० २७।

५. तत्त्वार्थसूत्र, ९।१८ और भी द्रष्टव्य, चारित्रभक्ति, गा० ३-४।

६. इच्छानिरोधस्तपः—धवला, पु० १३, खं० ५, भाग ४, सूत्र २६।

७. तपसा निर्जरा च—तत्त्वार्थसूत्र, ९।३।

८. बारस अणुवेक्खा, गा० ७७।

९. अनिगूहितवीर्यस्यमार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः।
   (क) सर्वार्थसिद्धि, ६।२४; (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ६।२४।७।

तप के भेद : तप दो प्रकार का है।[१] (१) बाह्य तप, और (२) आभ्यन्तर तप।

(१) बाह्य तप : जो तप बाहरी पदार्थों के आलम्बन से किये जाते हैं और जिन्हें दूसरे भी देख सकते हैं, उसे बाह्यतप कहते हैं।[२] बाह्य तप छह प्रकार का है[३] : (१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन और (६) कायक्लेश।

२. आभ्यन्तर तप : आभ्यन्तर अर्थात् आन्तरिक तप से सम्बन्धित तप, आभ्यन्तर तप कहलाता है। आचार्य पूज्यपाद, भट्ट अकलंकदेव आदि के ग्रन्थों में[४] आभ्यन्तर तप की अनेक विशेषताएँ बतलाई गई हैं।

तत्त्वार्थसूत्र[५] में आभ्यन्तर तप के छह भेद बतलाये गये हैं—(क) प्रायश्चित्त (ख) विनय (ग) वैयावृत्य (घ) स्वाध्याय (ङ) व्युत्सर्ग (च) ध्यान।

संवर के उपर्युक्त विश्लेषणात्मक विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संवर के कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप से नवीन कर्मों का आना अवरुद्ध हो जाता है। कर्म-संवर का इस प्रकार का विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि जैनेतर धर्म-दर्शन में मान्य तीर्थयात्रा, गंगादि-स्नान, दीक्षा लेना, शीर्षोपहार (बलिदान), देवताओं की आराधना आदि कर्म-संवर के कारण नहीं हैं, क्योंकि उपर्युक्त कार्य राग-द्वेष पूर्वक ही किये जाते हैं। राग-द्वेष और मोह रूप कर्मों की निर्जरा रागादि से नहीं हो सकती है। अतः तीर्थयात्रा आदि संवर के कारण नही हैं।[६]

निर्जरा मोक्ष का साक्षात् कारण है। अतः प्रसंगवश अब निर्जरा का विवेचन प्रस्तुत है—

(ख) निर्जरा : संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आत्मा में प्रवेश होना रुक

---

१. तत्त्वार्थसार, ६।७।

२. बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्।
(क) सर्वार्थसिद्धि, ९।१९, पृ० ३३६; (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१९।१७।

३. तत्त्वार्थसूत्र, ९।१९।

४. (क) मनोनियमनार्थत्वात्।—सर्वार्थसिद्धि, ९।२०।
(ख) अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम्। अन्तःकरणव्यापारात्, बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च।—तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२०।१-३।

५. तत्त्वार्थसूत्र, ९।२०।

६. सर्वार्थसिद्धि; ९।२, (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२।१२।

जाता है, लेकिन आत्मा के साथ वँधे हुए पुराने कर्मो का क्षय करना भी उसी प्रकार जरूरी है, जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका के छेद वन्द कर देने के वाद उसमें भरे हुए जल को उलीच कर वाहर फेंक देना अनिवार्य होता है। पुराने कर्मों के क्षय किये विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। पूर्ववद्ध कर्मों के क्षय करने की विधि को जैनागम में निर्जरा कहते हैं।[1] पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है कि जिस प्रकार भात आदि का मल निवृत्त होकर निर्जीण हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा का अच्छा-बुरा करके पूर्व की अवधि (स्थिति) नष्ट हो जाने पर कर्म का आत्मा से अलग हो जाना निर्जरा कहलाती है।[2] अकलंकदेव ने एक दूसरे उदाहरण द्वारा समझाया है कि "जिस प्रकार मन्त्र या औपधि के द्वारा शक्तिहीन किया गया विप दोप उत्पन्न नहीं करता है, उसी प्रकार तप आदि से नीरस किये गये और शक्तिहीन कर्म संसार को नहीं चला सकते हैं"।[3]

निर्जरा के भेद : कर्मों की निर्जरा दो प्रकार से होती है।[4] अतः निर्जरा के दो भेद हैं—१. सविपाक निर्जरा और २. अविपाक निर्जरा। यथासमय स्वयं कर्मों का उदय में आकर फल देकर अलग होते रहना सविपाक निर्जरा है। इस प्रकार की निर्जरा का कोई महत्त्व नहीं है। जिस प्रकार कच्चे आम आदि को पाल आदि के द्वारा अकाल में पका लिया जाता है, उसी प्रकार समय से पहले तप के द्वारा कर्मों का आत्मा से अलग कर देना अविपाक निर्जरा कहलाती है। अविपाक निर्जरा ही मोक्ष का कारण है। कर्म निर्जरा का प्रमुख कारण तप है। तप का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इस प्रकार वन्ध के निरोध अर्थात् संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मो का क्षय हो जाने से आत्मा का स्वाभाविक शुद्ध स्वरूप चमकने लगता है, इसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं। उमास्वामी ने कहा भी है कि वन्ध के हेतुओं का अभाव होने से और पुराने कर्मो की निर्जरा होने से समस्त कर्मो का आत्मा से समूल अलग हो जाना मोक्ष है।

अनादि कर्मों का अन्त कैसे होता है ? :

प्रश्न : अनादि कर्मवन्ध सन्तति का अन्त कैसे हो सकता है ?

उत्तर : भट्ट अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते

---

१. पुव्वकदकम्म सडणं तु णिज्जरा।—भगवती आराधना, गा० १८४७।

२. सर्वार्थसिद्धि, ८।२३, पृ० ३९९।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।१९, पृ० २७।

४. सर्वार्थसिद्धि, ८।२३, पृ० ३९९।

हुए कहा है कि जिस प्रकार बीज और अंकुर की सन्तति अनादि होने पर भी अग्नि द्वारा बीज को जला देने पर फिर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शनादि प्रत्यय और कर्मबन्ध सन्तति के अनादि होने पर भी ध्यान रूपी अग्नि से कर्मबन्ध सन्तति को जला देने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता है।[1] कषायपाहुड़ में उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर विस्तार से दिया गया है[2] इसमें एक तर्क यह भी दिया गया है कि जिस प्रकार खान से निकले हुए स्वर्ण-पाषाण के अन्तर्गत और बहिरंग कीटकालिमादि का निर्मूल-क्षय अग्नि में डालने आदि से हो जाता है, उसी प्रकार कर्मास्रव का भी तप से निर्मूल-क्षय हो जाता है अन्यथा आस्रव की हानि में तर-तम भाव नहीं बन सकता है।[3] आचार्य वीरसेन[4] और मल्लिषेण ने भी यही युक्ति दी है। अतः सिद्ध है कि कर्मबन्ध सन्तति अनादि होने पर उसका अन्त हो सकता है, लेकिन इस कर्मसन्तति का अन्त एक ही समय में पूर्णरूप से नहीं होता है। इसके विपरीत साधक-आत्मा के कर्मों का विनाश क्रमशः होता है।

(ङ) गुणस्थान : जैन दर्शन की अपूर्व देन :

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि संसार में जन्म और मृत्यु के चक्र में फँसा प्राणी किस प्रकार विविध दुःखों से पीडित होकर संसरण करता है। दुःख किसी भी मनुष्य के लिए इष्ट नहीं है, यह सर्वमान्य तथ्य है। फिर इस दुःख से मुक्ति कैसे हो? इस दिशा में जैन दार्शनिकों ने गहराई से विचार किया है। उन्होंने मनुष्य की दुःख से पूर्ण मुक्ति के लिए मोक्ष मार्ग का निरूपण किया है। वह मोक्ष मार्ग रत्नत्रयरूप है, जिसके अन्तर्गत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र समाहित है। इन तीनों की उपलब्धि के लिए मनुष्य को जिन सोपानों पर आरोहण करना पड़ता है, उन्हें गुण-स्थान की संज्ञा दी गयी है। प्रकृत में इन गुणस्थानों का विवेचन करना उचित होगा।

गुणस्थान का स्वरूप :

गुणस्थान को ओघ और संक्षेप कहते हैं। आगम में मोह और योग के कारण जीव के अन्तरंग-परिणामों में प्रति क्षण होने वाले उतार-चढ़ाव को गुण

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १०।२।३, पृ० ६४१।

२. कषाय पाहुड, पुस्तक १, प्रकरण सं० ४४, पृ० ६१।

३. वही,

४. धवला, पु० ९, खं० ४, भाग १, सूत्र ४४, पृ० ११८।

स्थान कहा गया है।[1] कर्मों का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम गुणस्थान का प्रमुख कारण है।[2] जैन शास्त्रों में गुणस्थान १४ माने गये हैं—१. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरत सम्यग्दृष्टि, ५. देशविरत, ६. प्रमत्त विरत, ७. अप्रमत्त विरतं, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्म सांपराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीण मोह, १३. सयोगीजिन, और १४. अयोग केवलि।[3] गुणस्थानों का यह विभाजन उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट, विशुद्ध परिणामों तक तथा उससे ऊपर जघन्य वीतराग परिणाम से लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणाम तक की विभिन्न अवस्थाओं के क्रम के आधार पर किया गया है।[4]

१. मिथ्यादृष्टि : आचार्य वीरसेन ने धवला में मिथ्या को वितथ, व्यलीक, असत्य तथा दृष्टि को दर्शन, श्रद्धान, रुचि और प्रत्यय कहा है।[5] जो जीव तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप में रुचि न रख कर असत्य रुचि या श्रद्धा रखता है, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इसका मूल कारण मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होना है।[6] आचार्यों ने मिथ्यादृष्टि की उपमा पित्तज्वर के रोगी से दी है। क्योंकि पित्तज्वर के रोगी को जिस प्रकार मीठा रस अच्छा नहीं लगता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को यथार्थ धर्म अच्छा नहीं लगता है। आचार्य अमितगति ने श्रावकाचार में कहा है कि मिथ्यादृष्टि उस सर्प की तरह है, जो दूध पीकर भी अपने विष को नहीं छोड़ता है, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जिनोपदिष्ट आगमों का अध्ययन करता हुआ भी मिथ्यात्व को कभी नहीं छोड़ता है।[7] मिथ्यादृष्टि विवेकहीन होता है। उसमें धर्म-अधर्म के स्वरूप को पहचानने की शक्ति का अभाव रहता है।[8]

---

१. (क) संखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा स च मोहजोगभवा।—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ३।
   (ख) गुण्यन्ते लक्ष्यन्ते दृश्यंते वा जीवस्ते जीवपरिणामः गुणस्थान संज्ञा भवतीति।—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), मन्दप्रबोधिनी टीका, गा० ८।
२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ८।
३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ९-१०।
४. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० २४५।
५. धवला, १।१।१, पृ० १६२।
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा १५-१६।
७. पठन्नपि वचो जैनं मिथ्यात्वं नैव मुंचति।
   कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं पिवन्नपि महाविषम्॥—अमितगतिश्रावकाचार, २।१५।
८. गुणस्थान क्रमारोह : रत्नशेखर सूरि, श्लोक ८।

२. सासादन : यह आत्मा के विकास की दूसरी अवस्था है। सासादन गुण-स्थान का मूल कारण चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होना है। सासादन को षट्खंडागम और गोम्मटसार जीवकांड में सासन भी कहा गया है।[१] 'आसादनं सम्यक्त्व विराधन, सह आसादनेन इति सासादन' अर्थात् सम्यक्त्व के विनाश को आसादन कहते हैं और आसादन से युक्त सासादन है। सम्यक्त्व से रहित होना सासादन कहलाता है, यह व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है।[२] सासादन गुण स्थानवर्ती जीव के सम्यक्त्व की विराधना तो हो जाती है, किन्तु मिथ्यात्वजनित परिणामों का अभाव होते हुए भी वह मिथ्यात्व की ओर उन्मुख होता है। गोम्मटसार जीवकांड में आचार्य नेमिचन्द्र ने सासादन गुणस्थान का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि "प्रथमोपशम या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त काल में कम से कम एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली समय शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चार कषायों में से किसी एक के उदय से जीव सम्यक्त्व से गिर कर, उतने मात्र काल के लिए जिस गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं।[३]" एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है कि पर्वत से गिरने और पृथ्वी तक पहुंचने के बीच की अवस्था की तरह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच की अवस्था सासादन गुणस्थान की होती है।[४] सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता इसलिए इसे आगम में सम्यग्दृष्टि गुणस्थान भी कहा गया है।[५] षट्खंडागम में इसे पारिणामिक भाव कहा है क्योंकि यहां मिथ्यात्व का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम नहीं है।[६] धवला में इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।[७] अकलंकदेव ने कहा है कि सासादन गुणस्थानवर्ती जीव गिरता हुआ नियमतः प्रथमगुणस्थान में जाता है।[८]

---

१. (क) षट्खण्डागम, १।१।१०। (ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० १९।
(ग) आसनं क्षेपणं सम्यक्त्व विराधनं तेन सह वर्त्तते यः स सासनः। गोम्मटसार (जीवकाण्ड), मंदप्रबोधिनी टीका, गा० १९।
२. (क) धवला, १।१।१, पृ० १६३। (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१।१३।
३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० १९।
४. वही, गा० २०।
५. (क) षट्खंडागम १।१।१, सू० १०। (ख) विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य धवला, १।१।१, सू० १०, पृ० १६३ एवं १६६।
६. सासणसम्मादिट्ठी त्ति को भावो, पारिणामिओ भावो।
—षट्खंडागम, ५।१।७ सूत्र ३।
७. धवला, ५।१।७, सूत्र ३, पृ० १९६।
८. तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१।१३, पृ० ५८९।

३. मिश्र गुणस्थान : मिश्र गुणस्थान को सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान भी कहते हैं।[1] आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार जीवकांड में कहा है कि जिस प्रकार दही और गुड़ को भली-भाँति मिला देने पर उन दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता है और उसका स्वाद न केवल खट्टा होता है और न केवल मीठा ही वल्कि खट्टा-मीठा मिश्रित स्वाद होता है। इसी प्रकार तीसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व-मिथ्यात्व रूप मिश्रित परिणाम होते हैं। इस प्रकार के मिश्रित परिणाम होने का मूल कारण सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होना है।[2] मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव एक ही समय में सर्वज्ञोपदिष्ट तथा असर्वज्ञोपदिष्ट सिद्धान्तों में मिश्ररूप श्रद्धा करता है।[3] भट्टाकलंकदेव ने भी तत्त्वार्थवार्तिक में मिश्र-गुणस्थान का यही स्वरूप प्रतिपादित किया है।[4] इस गुणस्थान की आगम में निम्नांकित विशेषताएं उपलब्ध हैं[5]—

(१) मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव को तत्त्वों में युगपत् श्रद्धान और अश्रद्धान प्रकट होता है।

(२) इस गुणस्थानवर्ती के न सकल-संयम होता है और न देश-संयम।

(३) आयुकर्म का वन्ध नहीं होता है।

(३) इस गुणस्थान में जीव की मृत्यु नहीं होती है। सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों के होने पर ही मृत्यु होती है।

(५) इस गुणस्थान के प्राप्त करने से पूर्व सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों में से जिस परिणाम के मोजूद रहने पर आयु कर्म का वन्ध किया होगा, वैसा परिणाम होने पर ही उसका मरण होता है।

६. यहाँ मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं होता है।

७. इस गुणस्थान में सिर्फ क्षायोपशमिकभाव ही होता है। इसका विवेचन धवला में विस्तृत रूप से हुआ है।[6]

---

१. षट्खंडागम, १।१।१, सूत्र ११।

२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० २१-२२।

३. मिस्सुदये—तच्चमियरेण सद्दहदि एक्कसमणे। —लाटी संहिता, गा० १०७।

४. सम्यङ्मिथ्यात्वसञ्ज्ञिकाया: प्रकृतेरुदयात् आत्माक्षीणाक्षीण मदशक्ति-क्रोद्रवो-परिणामवत् तत्त्वार्थश्रद्धानाश्रद्धानरूप:।—तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१।१४, पृ० ५८९।

५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा २३-२४।

६. षट्खण्डागम धवला टीका, १।१।१, सूत्र ११, पृ० १६८-६९।

८. इस गुणस्थान से जीव प्रथम या चौथे गुणस्थान में जाता है, अन्य में नहीं।[1]

९. मिश्र गुणस्थानवर्ती के मति, श्रुत और अवधिज्ञान भी मिश्र प्रकार के होते हैं।[2] आचार्य वीरसेन ने इसका विस्तृत विवेचन किया है।[3]

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान : चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के विषय में आचार्यों ने कहा है कि इस गुणस्थानवर्ती जीव की दृष्टि सम्यक् होते हुए भी यह विषय वासना आदि हिंसा से विरत (दूर) नहीं होता है, इसलिए इसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।[4] इस गुणस्थान को असंयत सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं, क्योंकि अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय होने से संयम का पूर्णतया अभाव रहता है, किन्तु जन्मोपदिष्ट तत्त्वों का श्रद्धान रहता है।[5] इस गुणस्थान की अन्य निम्नांकित विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं :—

(१) संवेगादि[6] गुणों से युक्त होने के कारण अविरत सम्यग्दृष्टि विषयों में अत्यधिक अनुरागी नहीं होता है।[7]

(२) निरीह और निरपराध जीवों की हिंसा नहीं करता है।[8]

(३) अपने दोषों की निन्दा तथा गर्हा दोनों करता है।[9]

(४) पुत्र, स्त्री आदि पदार्थों में गर्व नहीं करता है।

---

१. षट्खण्डागम, ४।१०५, सूत्र ९, पृ० ३४३।

२. अतएवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि। —तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१।१४।

३. धवला, १।१।१, सूत्र ११९, पृ० ३६३।

४. णोइन्दियेसु विरदोणो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० २९।

५. असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च असंयत सम्यग्दृष्टिः।
—धवला, १।१।१, सूत्र १८, पृ० १७१।

६. प्रशम (कषायों के उपशमन से उत्पन्न), संवेग (संसार से भीत रूप परिणामों का होना), अनुकम्पा (जीवों पर दयाभाव रखना), आस्तिक्य (जीवादि पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास करना)।

७. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रबोधिनी टीका, गा० २९।

८. वही,

९. दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमोगुणः।
तत्राभिव्यंजकं बाह्यान्निदनं चापि गर्हणम्॥
—पंचाध्यायी (उत्तरार्ध), कारिका, ४७२।

(५) उत्तम गुणों के ग्रहण करने में तत्पर रहता है।

(६) देव, गुरु, धर्म, तत्त्व एवं पदार्थ आदि जो कुछ जिनोपदिष्ट हैं, उन्हें नहीं जानता हुआ भी उनमें श्रद्धा करता है।[1]

(७) आर्त्त (दुःखी) जीवों की पीड़ा देखकर उसका हृदय करुणा से द्रवीभूत हो जाता है। रत्नशेखरसूरि ने कहा है कि जिनेन्द्रदेव की नित्य पूजा, गुरु एवं संघ की सेवा तथा जिनशासन की उन्नति का प्रयास करना अविरत सम्यग्दृष्टि के कर्तव्य हैं।[2]

५. देशव्रत गुणस्थान : पांचवें गुणस्थान को देशव्रत, संयतासंयत और विरता-विरत कहते हैं। नैतिक विकास का यथार्थ आरम्भ इसी गुणस्थान से होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से एक देश संयम के होने को देशव्रत गुणस्थान कहते हैं।[3] जिनदेव, जिना-गम और जिन गुरुओं में श्रद्धा रखने वाला जो श्रावक एक ही समय में त्रस जीवों की हिंसा से विरत और स्थावर तथा एकेन्द्रिय विषयक हिंसा से विरत नहीं रहता है, उसे परमागम में विरताविरत कहा गया है।[4] यह विरताविरत श्रावक पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का निरतिचार पूर्वक पालन करता है। अकलंकदेव ने इस क्षायोपशमिक विरताविरत को संयमासंयम और इससे युक्त जीव को संयमासंयमी कहा है।[5] संयमभाव की उत्पत्ति का कारण त्रसहिंसा से विरत होना तथा असंयमभाव की उत्पत्ति का कारण स्थावर हिंसा से युक्त होना है। इस प्रकार इन दोनों की उत्पत्ति के कारण भिन्न-भिन्न होने से इनके एक आत्मा में युगपत् होने में कोई विरोध नहीं है।[6] इस गुणस्थान में केवल क्षायोपशमिक भाव ही होता है, अन्य नहीं। तत्त्वार्थवार्तिक[7] तथा धवला[8] में इस विषय पर विस्तृत ऊहापोह किया गया है। क्षायिक, क्षायो-पशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शन में से कोई एक सम्यग्दर्शन इस गुणस्थान

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० २७-२८।
२. गुणस्थानक्रमारोह, श्लोक २३।
३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ३०।
४. वही, गा० ३१।
५. (क) तत्त्वार्थवार्तिक, २।५।८, पृ० १०८। (ख) पञ्चसंग्रह (प्राकृत), गा० १३५।
६. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), मन्दप्रबोधिनी टीका, गा० ३१।
७. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० १०८।
८. धवला, १।१।१, सूत्र १३, पृ० १७३-१७४।

में होता है। रत्नशेखरसूरि ने गुणस्थानक्रमारोह में कहा है कि पंचम गुणस्थान[1] में आर्त्तध्यान मंद तथा धर्मध्यान मध्यम होता है।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थान : इस अवस्था तक आते-आते आत्मा के क्रोधादि संज्वलन कषाय और हास्यादि नो-कषायों को छोड़कर शेष समस्त मोहनीय कर्म का अभाव हो जाता है। प्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव आगम में मुनि या महाव्रती कहलाता है, क्योंकि मुनि के मूल और उत्तर गुणों से प्रमत्तसंयत जीवयुक्त होता है[2]। प्रमत्तसंयत जीव के सकल संयम तो होता है किन्तु इसको दूषित करने वाले संज्वलन कषाय तथा नो-कषाय के उदय से उत्पन्न व्यक्त तथा अव्यक्त प्रमाद[3] का सद्भाव होता है। छठे गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव के अलावा अन्य औदायिक आदि भाव नहीं होते हैं। इसका विशेष विवेचन धवला में आचार्य वीरसेन ने किया है।[4] रत्नशेखरसूरि ने गुणस्थानक्रमारोह में कहा है कि प्रमत्तविरत गुणस्थान में आर्त्तध्यान प्रमुख रूप से होता है।[5]

७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान : जिस गुणस्थान में स्त्रीकथा आदि पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित संयम होता है, उसे अकलंकदेव ने अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा है।[6] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में भी कहा है, 'क्रोधादि संज्वलन कषाय और हास्य आदि नो-कषाय का मंद उदय होने से अप्रमत्त गुण से युक्त अप्रमत्तसंयत होता है'।[7] इस गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव तथा सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षायिक और औपशमिक भाव भी होता है। यह गुणस्थान दो प्रकार का है—(क) स्वस्थानाप्रमत्त संयत और (ख) सातिशय अप्रमत्त।[8]

---

१. गुणस्थानक्रमारोह, श्लोक २५।
२. (क) वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्त संजदो होदि।
सयलगुणसील कलिओ, महव्वई चित्तलायरणो ॥—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ३३।
(ख) धवला, १।१।१, सू० १५, गा० ११३।
३. स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, निद्रा और स्नेह—ये पन्द्रह प्रमाद हैं।
४. धवला १।१।१, सूत्र १४, पृ० १७६-१७७।
५. गुणस्थानक्रमारोह, श्लोक २८।
६. (क) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१।१८, पृ० ५९०।
(ख) धवला, १।१।१, सूत्र १५, पृ० १७८।
७. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ४५।
८. स्वस्थानाप्रमत्तः सातिशयाप्रमत्तश्चेति द्वौ भेदौ।—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रबोधिनी टीका, गाथा ४५।

(क) स्वस्थानाप्रमत्तसंयत : इसे निरतिशय अप्रमत्त भी कहते हैं, क्योंकि शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान तथा मोक्ष के कारणभूत ध्यान में लीन रहने पर भी स्वस्थानाप्रमत्त संयत उपशम या क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं करता है।[1] यह साधक अप्रमत्तसंयत से प्रमत्तसंयत और प्रमत्तसंयत से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में उतरता-चढ़ता रहता है।

(ख) सातिशयाप्रमत्त : मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों—चार अप्रत्याख्यानी, चार प्रत्याख्यानी तथा चार संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ एवं ९ हास्यादि नो-कषाय—के उपशम या क्षय के कारणभूत आत्मा के तीन करण (विशुद्ध परिणाम)—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं। इनमें से श्रेणी का आरोहण करने वाला सातिशयाप्रमत्त प्रथम अधःकरण को ही करता है।[2] गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में आचार्य नेमिचन्द्र ने इसकी निम्नांकित विशेषताएं प्रतिपादित की हैं :

(१) अभिन्नसमय और भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं। ऊपर और नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणाम संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं। इसलिए इसे अधःप्रवृतकरण कहते हैं।[3]

(२) इस करण का काल अन्तर्मुहूर्त होता है।

(३) इसमें असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं।[4]

८. अपूर्वकरण गुणस्थान : 'करण' का अर्थ है—परिणाम या भाव। जो विशुद्ध परिणाम पहले नहीं उत्पन्न हुए थे उनका उत्पन्न होना, अपूर्वकरण गुणस्थान है।[5] इसकी कुछ विशेषताएं निम्नांकित हैं :

१. अपूर्वकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के विशुद्ध परिणाम विसदृश ही

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ४६।

२. वही, गाथा ४७।

३. वही, गाथा ४८।

४. वही, गाथा ४९।

५. (क) करणाः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः। तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां ते अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धयः। — धवला, १।१।१, सूत्र १६, पृ० १८०।

(ख) एदम्मि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जम्हा होंति यपुव्वा हु परिणामा॥ —गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ५१।

होते हैं, किन्तु एक समयवर्ती जीवों के सादृश्य और वैसादृश्य दोनों प्रकार के होते हैं।[1]

२. इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।[2]

३. अपूर्वकरण में परिणाम की संख्या पहले अधः करण के परिणामों की अपेक्षा असंख्यात गुणी है। ये परिणाम उत्तरोत्तर प्रति समय समान रूप से बढ़ते रहते हैं।[3]

४. इस गुणस्थान में साधक शेष चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करने के लिए उद्धत होता है।[4]

५. षट्खंडागम में कहा है कि मोहनीय कर्म का उपशमन करने वाला साधक उपशम श्रेणी पर अथवा मोहनीय कर्म का क्षय करने वाला साधक क्षपक श्रेणी पर आरोहण करता है।[5]

६. उपशम श्रेणी पर आरोहण करने वाले साधक के औपशमिकभाव और क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाले साधक के क्षायिक भाव होते हैं।

७. रत्नशेखरसूरि ने गुणस्थानक्रमारोह[6] में कहा है कि यहाँ पर पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्ल ध्यान होता है।

९. अनिवृत्तिकरणगुणस्थान : समान समयवर्ती जीवों के विशुद्ध परिणामों की भेदरहित वृत्ति अर्थात् निवृत्ति होती है।[7] कहा भी है "अन्तर्मुहूर्त मात्र अनिवृत्तिकरण के काल में से किसी एक समय में रहने वाले अनेक जीवों में शरीर के आकार, वर्ण आदि तथा ज्ञानोपयोग आदि की अपेक्षा भेद होता है। जिन विशुद्ध परिणामों के द्वारा उनमें भेद नहीं होता है, वे अनिवृत्तिकरण परिणाम कहलाते हैं। उनके प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धि से बढ़ते हुए

---

१. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ५२।
२. वही, गाथा ५३।
३. वही, गाथा ५३।
४. गाथा ५४।
५. षट्खण्डागम, १।१।१, सूत्र १६।
६. गुणस्थानक्रमारोह, ५१।
७. (क) समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः।
—धवला : १।१।१, सूत्र १७, पृ० १८३।
(ख) न विद्यते निवृत्तिः विशुद्धिपरिणामभेदो येषां ते अनिवृत्तय इति——। गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रबोधिनी टीका, गाथा ५७।

एक से ही (समान विशुद्धि को लिये हुए ही) परिणाम पाए जाते हैं तथा वे अत्यन्त निर्मल ध्यान रूपी अग्नि की शिखाओं में कर्म-वन को भस्म करने वाले होते हैं।[1]" वीरसेन ने कहा है कि निवृत्ति का अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतः जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है (कभी भी नहीं छूटते हैं), उन्हें अनिवृत्ति कहते हैं।[2] अनिवृत्तिकरण में प्रति समय (एक-एक समय) में एक-एक ही परिणाम होता है, क्योंकि इस गुणस्थान में एक समय में परिणामों के जघन्य और उत्कृष्ट भेद नहीं होते हैं।[3] यहाँ क्रोध, मान, माया और वेद का समूल क्षय हो जाता है।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में भेद :

(१) अपूर्वकरण में अनिवृत्तिकरण की भाँति समान समयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्तिरहित होने का कोई नियम नहीं है।[4]

(२) अपूर्वकरण के परिणाम में प्रतिसमय जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद होते हैं किन्तु अनिवृत्तिकरण के परिणामों में इस प्रकार के भेद नहीं होते हैं।[5]

१०. सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थान : सूक्ष्मसाम्पराय का अर्थ है—सूक्ष्म कषाय।[6] जिस गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ कषाय का सद्भाव होता है, वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान कहलाता है।[7] आचार्य नेमिचन्द्र ने इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है कि रंग से रंगे हुए वस्त्र को धोने के पश्चात् जिस प्रकार वस्त्र में सूक्ष्म लालिमा रहती है, उसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्मराग सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में भी होता है।[8] इस गुणस्थान के साधक सूक्ष्म कषाय का उपशमन करने के

---

१. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ५६-५७।

(ख) वही, गाथा ९११-१२।

(ग) षट्खण्डागम की धवला टीका, १।१।१, सूत्र १७, गाथा ११९-२०।

२. अथवा निवृत्तिर्व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तिर्येषां तेऽनिवृत्तयः।
—धवला : १।१।१, सूत्र १७, पृ० १८३।

३. वही, ६।१, भा० ९।८, सूत्र ४, पृ० २२१।

४. वही, १।१।१, सूत्र १७, पृ० १८३।

५. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष, भाग २, पृ० १४।

६. साम्परायः कषायः, —। तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१।२१, पृ० ५९०।

७. सूक्ष्म साम्पराय सूक्ष्म संज्वलन लोभः। — गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), जीवप्रबोधिनी, टीका : केशववर्णी, गाथा ३३९।

८. धुवकोसुंभयवत्थं होदि जहा सुहुमरायसंजुत्तं।
एवं सुहुमकसाओ सुहुमसरागोत्ति णादव्वो।— गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ५८।

लिए उपशमन श्रेणी का और क्षय करने के लिए क्षपक श्रेणी का आरोहण करते हैं। क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वाला दसवां गुणस्थानवर्ती साधक समस्त कषायों का क्षय करके सीधा बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है[१], दसवें गुणस्थानवर्ती साधक में कुछ न्यून यथाख्यातचारित्र होता है।[२]

११. उपशान्तमोह अथवा उपशान्तकषाय गुणस्थान : यह आत्म-विकास की वह अवस्था है, जहाँ समस्त मोहनीय कर्म का उपशम होता है। इस गुणस्थान-वर्ती साधक की समस्त कषायों और नोकषायों का शमन उसी प्रकार हो जाता है, जैसे निर्मली संयुक्त जल का कीचड़ या शरद्ऋतु में तालाब के जल से कीचड़ के नीचे बैठ जाने से पानी स्वच्छ हो जाता है। समस्त मोहनीय कर्म के शमन हो जाने से आत्मा विशुद्ध हो जाता है।[३] अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् कषाय और नो-कषाय का उदय होने से इस गुणस्थानवर्ती आत्मा का पतन होता है। यहाँ साधक के ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म रहते हैं। इसलिए षट्खण्डागम में इसे उपशान्त वीतराग छद्मस्थ कहा गया है।

१२. क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान : क्षपकश्रेणी पर चढ़ने वाले मुनि के समस्त मोहनीय कर्मों के क्षय होने से आत्मा में उत्पन्न होने वाली विशुद्धि आगम में क्षीणकषाय-गुणस्थान के नाम से जानी जाती है।[४] आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा भी है, 'मोहकर्म के निःशेष क्षीण हो जाने से जिसका चित्त स्फटिक के निर्मल बर्तन में रखे हुए जल की तरह निर्मल हो गया है, इस प्रकार के निर्ग्रन्थ साधु को वीतरागियों ने क्षीण कषाय कहा है।[५] अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक[६]

---

१. गुणस्थानक्रमारोह, श्लोक ७३।

२. ——। सो सुहुमसाम्परावो जहखाएणूणओ किंचि।
—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ६०।

३. (क) वही, गाथा ६१।
(ख) उपशांताः साकल्येन उदयायोग्याः कृताः कषायाः नोकषायाः येन असौ उपशान्तकषायाः इति निरुक्तया अत्यन्त प्रसन्न चित्तता सूचिता।—गोम्मट-सार (जीवकाण्ड), मन्दप्रबोधिनी टीका, पृ० १८८।

४. जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं॥—समयसार : गाथा ३३। (ख) द्रव्यसंग्रह टीका, गा० १३, पृ० ३५।

५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ६२।

६. तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१।२२, पृ० ५९०।

में भी वारहवें गुणस्थान का यही स्वरूप वतलाया है। पट्खंडागम में वारहवें गुणस्थान को क्षीणकषायछद्मस्थ कहा गया है।[1] वीरसेन ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है, 'जिनकी कपाय क्षीण हो गयी है, उन्हें क्षीणकपाय कहते हैं। जो क्षीणकषाय होते हुए वीतराग होते हैं, उन्हें क्षीणकपाय वीतराग कहते हैं। जो ज्ञानावरण-दर्शनावरण में स्थित हैं, उन्हें छद्मस्थ कहते हैं। जो क्षीणकपाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं, वे क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाते हैं।[2]' अभयचन्द्र चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीवकाण्ड की मन्दप्रबोधिनी[3] टीका में कहा है कि यहाँ पर संसार के कारणभूत अन्तरंग और वहिरंग परिग्रह का सर्वथा अभाव होता है, इसलिये यह गुणस्थान निर्ग्रन्थ कहलाता है।

१३. सयोगकेवली जिन : आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का घात करने वाले समस्त घातिया कर्म—मोहनीय (जिसका क्षय क्षपक श्रेणी में हो गया था), ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय हो जाने से केवलज्ञान और केवल-दर्शन के होने के कारण साधक केवली कहलाने लगता है। मन, वचन और काय सम्वन्धी योग सहित होना सयोग है। सयोग होते हुए जो केवली होते हैं, उन्हें परमागम में सयोगकेवली कहते हैं।[4] घातिया कर्मों से रहित होने से ये जिन कह-लाते हैं। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को सयोगकेवली-जिन कहते हैं।[5] इस गुणस्थानवर्ती आत्मा को परमात्मा भी कहते हैं, क्योंकि घातिया कर्मों के क्षय से यहाँ क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य रूप नौ केवल लब्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।[6] इसके अतिरिक्त इसे अरहंत, तीर्थंकर, परमेष्टि, भावमोक्ष एवं जीवन्मुक्त भी कहते हैं क्योंकि यहाँ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति

---

१. षट्खण्डागम, १।१।१, सूत्र २०।

२. धवला : १।१।१, सूत्र २०, पृ० १८९।

३. ग्रथयंति रचयंति संसारकारणं कर्मवन्धमिति ग्रन्था परिग्रहा : मिथ्यात्वोदा-दय : अन्तरंगाश्चतुर्दश, वहिरंगाश्च क्षेत्रादयो दशतेभयो : निष्क्रांत : सर्वा-त्मना निर्वृत्तो निर्ग्रन्थ लक्षणसद्भावात्।—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), प्रबो-धिनी टीका, गाथा ६२ की टीका।

४. धवला : १।१।१, सूत्र २२, पृ० १९२।

५. असहायणाणदंसणसहियो इति केवली हु जोगेण।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो॥—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ६४।

६. वही, गा० ६३।

हो जाती है।[1] इस गुणस्थान की तुलना हम वैदिक दर्शनों में अभिमत जीवन्मुक्त अवस्था से कर सकते हैं। यही वह अवस्था है जिसमें तीर्थंकर जैन धर्म का प्रवर्तन करते हैं। सयोगकेवली के क्षायिकभाव[2] एवं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यान होता है। अन्तर्मुहूर्त से कम आयु रहने पर सयोगकेवली ध्यानस्थ हो जाते हैं।

१४. अयोगकेवली जिन : चौदहवें गुणस्थान में आत्मा का चरम विकास हो जाता है। षट्खण्डागम की धवला टीका में वीरसेन ने कहा है कि जिसके मन, वचन और कायरूप योग नहीं होता है, वह अयोगकेवली कहलाता है।[3] जो योग, रहित केवली और जिन होता है। वह अयोगकेवली जिन कहलाता है। अभय-चन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी गोम्मटसार (जीवकाण्ड) की टीका मन्दप्रबोधिनी में तथा केशववर्णी ने जीवप्रबोधिनी में भी यही कहा है।[4] घातिया कर्मों का अभाव तेरहवें गुणस्थान में रहता है, इस गुणस्थान में अघातिया कर्मों का भी क्षय हो जाता है। आत्मा का स्वाभाविक रूप इस गुणस्थान में चमकने लगता है। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में कहा भी है, 'जो (अठारह हजार[5] प्रकार के) शील का स्वामी है, जिसके कर्मो के आगमन का आस्रवरूपी दरवाजा पूर्ण रूप से वन्द हो गया है अर्थात्—सपूर्ण संवर से युक्त है, तपादि के द्वारा जिसके समस्त कर्मो की निर्जरा हो चुकी है, ऐसा काययोगरहित केवली अयोगकेवली कहलाता है।[6] चौदहवें गुणस्थान मे क्षायिकभाव एवं व्युपरतक्रियानिर्वत्ति

---

१. (क) तत्र भावमोक्ष, केवलज्ञानोत्पत्ति : जीवन्मुक्तोऽर्हत्पदमित्येकार्थ :।
—पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति, टीका गा० १५०, पृ० २१६।
(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रबोधिनी टीका, गा० ६३।

२. (क) प्रवचनसार, १।४५। (ख) विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—धवला, १।१।२९, पृ० १९१ एवं १९९।

३. न विद्यते योगो यस्य स भवत्योग :, केवलमस्यास्तीति केवली। अयोग-श्चासौ केवली च अयोगकेवली।—धवला, १।१।१, सूत्र २२, पृ० १९२।

४. (क) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), मन्दप्रबोधिनी टीका, गाथा ६५। (ख) वही, जीवप्रबोधिनी टी०, गा० १०।

५. शीलानां अष्टादशसहस्र संख्यानां ऐश्यं ईश्वरत्वं स्वामित्वं संप्राप्त :।
—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ६५।

६. सीलेसिं संपत्तो, निरुद्धणिस्सेसआसओ जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ।।—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा० ६५।

नामक चौथा शुक्ल ध्यान होता है। आयुकर्म को नष्ट करके अयोगकेवली सदैव के लिए सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

उपर्युक्त चौदह गुणस्थानों के संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा उत्तरोत्तर विकास करती हुई चौदहवें गुणस्थान में अपने आयुकर्म का भी क्षय करके सिद्ध और मुक्त कहलाने लगती है। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में कहा भी है, "ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित, शान्तिमय, भाव और द्रव्य कर्म रूपी रज से मुक्त, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, अव्याबाध-अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु अष्टगुणों से युक्त, कृतकृत्य और लोक के अग्र-भाग में रहने वाले सिद्ध होते हैं[1]।" वीरसेन ने भी कहा है, "जिसने अष्टकर्मों का क्षय कर दिया है, बाह्य पदार्थों से जो निरपेक्ष है, अनन्त अनुपमेय स्वाभाविक निरबाध सुख का जो अनुभव कर रहा है, सम्पूर्ण गुणों से विहीन तथा सकल गुणों से युक्त है एवं जिनकी आत्मा का आकार मुक्त हुए शरीर से किंचित् न्यून है, जो परिग्रहरहित है और लोकाग्र में निवास करते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं[2]।" सिद्धों के उपर्युक्त विशेषणों की व्याख्या करते हुए गोम्मटसार (जीवकांड) की टीका में कहा है कि सदाशिव सिद्धान्ती मानते हैं कि आत्मा सदैव कर्मों से रहित होती है, उनके इस सिद्धान्त का निराकरण करने के लिए कहा गया है कि मुक्तावस्था में ही आत्मा कर्मों से रहित होता है। सांख्य दार्शनिक मुक्त आत्मा को सुखस्वरूप नहीं मानते हैं, उनके इस मत का खंडन करने के लिए कहा गया है कि मुक्त आत्मा अनुपमेय स्वाभाविक सुख का अनुभव करता है। मस्करी मत वाले मुक्तात्मा का संसार में पुनः वापस आना मानते हैं, उनके इस कथन का निराकरण करने के लिए कहा गया है कि भाव और द्रव्य कर्मों के अभाव में संसार में जीवों का पुनरागमन नहीं होता है। यही कारण है कि सिद्ध को निरंजन कहा गया है। बौद्धों के क्षणिकवाद का खंडन करने के लिए सिद्ध को नित्य कहा गया है। न्यायवैशेषिक मुक्तात्मा को ज्ञानादि गुणों से शून्य होना मानते हैं, उनके खण्डन के लिए कहा है कि सिद्ध अष्टगुणों से

---

१. गोम्मटसार, (जीवकाण्ड) गा० ६८।

२. धवला, १।१।१, सूत्र २३, पृ० २००।

सदाशिवः सदाऽकर्म्मा सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितम्।
मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम्॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो यौगश्च मन्यते।
कृतकृत्यं त्यमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनम्॥

—गोम्मटसार, (जीवकाण्ड) जीवप्रबोधिनी टीका, गा० ६८।

युक्त होते हैं। धर्मस्थापना के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है। इसके निराकरण के लिए सिद्ध को कृतकृत्य कहा गया है। मण्डली मत वाले मानते हैं कि मुक्त आत्मा सदैव ऊर्ध्व गमन करता रहता है, इस मत का खण्डन करने के लिए कहा है कि सिद्ध लोकाग्र भाग में रहते हैं। इन विशेषणों की विस्तृत मीमांसा आगे करेंगे।

२. मोक्ष-स्वरूप और उसका विश्लेषण :

(क) मोक्ष का अर्थ और स्वरूप : 'मोक्ष' का अर्थ है—मुक्त होना। संसारी आत्मा कर्मबन्ध से युक्त होता है। अतः आत्मा और बन्ध का अलग हो जाना मोक्ष है। मोक्ष शब्द 'मोक्ष आसने धातु' से बना है, जिसका अर्थ छूटना या नष्ट होना होता है। अतः समस्त कर्मों का समूल आत्यन्तिक उच्छेद होना मोक्ष कहलाता है[1]। पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा भी है, "जब आत्मा कर्म-मलकलंकरूपी शरीर को अपने से सर्वथा अलग कर देती है। तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं[2]।" अकलंकदेव ने तत्त्वार्थ-वार्तिक में एक उदाहरण द्वारा मोक्ष को समझाते हुए कहा है कि जिस प्रकार बन्धन में पड़ा हुआ प्राणी जंजीर आदि से छूट कर स्वतन्त्र होकर इच्छानुसार गमन करते हुए सुखी होता है, उसी प्रकार समस्त कर्म बन्धन के नष्ट हो जाने पर आत्मा स्वाधीन होकर अत्यधिक ज्ञानदर्शनरूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।[3] आचार्य वीरसेन ने भी यही कहा है।[4] अकलंकदेव[5] और विद्या-नन्दी[6] ने आत्मस्वरूप के लाभ होने को मोक्ष कहा है।

जैन-दर्शन में कर्ममलों से मुक्त आत्मा को सिद्ध कहा गया है। कुन्दकुन्दा-चार्य ने नियमसार में कहा है कि सिद्ध क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व इन

---

१. (ख) कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः।—सर्वार्थसिद्धि, १।४।
   (ख) स आत्यन्तिकः सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते।
   —तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।३७, पृ० १०।

२. सर्वार्थसिद्धि, उत्थानिका, पृ० १।

३. तत्त्वार्थवार्तिक, १।४।२७, पृ० १२।

४. धवला, पु० १३, खं० ५, भा० ५, सू० ८२, पृ० ३४८।

५. आत्मलाभ मोक्षः—सर्वार्थसिद्धि, ७।१९।

६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।१।४।

अष्टगुणों से युक्त परम, लोकाग्र में स्थित, नित्य होते हैं।[1] धवला में भी कहा गया है, 'जिन्होंने अनेक स्वभाव वाले अष्टकर्मों का नाश कर दिया है, जो तीन लोक के मस्तक के शिखर स्वरूप हैं, दुःखों से रहित हैं, सुख रूपी सागर में निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, निर्दोष है, कृतकृत्य हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, वज्रशिला से निर्मित अभग्न प्रतिमा के समान अभेद्य, आकारविहीन और अतीन्द्रिय हैं।[2] भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि ने कहा है कि अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, शरीर-रहित्व, अचलत्व, अलेपावत्व ये सिद्धों के आत्यंतिक गुण होते हैं।[3]

मोक्ष में जीव का असद्भाव नहीं होता : बौद्ध दार्शनिकों ने मोक्ष में जीव का अभाव माना है। जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने से प्रकाश का अन्त हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के क्षय हो जाने से निर्वाण में चित्तसन्तति का विनाश हो जाता है। अतः मोक्षमें जीव का अस्तित्व नहीं होता है।[4]

बौद्धों के उपर्युक्त मत की मीमांसा करते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा है कि मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता है। विद्यानन्दी का कहना है कि मोक्ष में जीव के अभाव को सिद्ध करने वाला न तो कोई निर्दोष प्रमाण है और न कोई सम्यक् हेतु है। इसलिए मोक्ष में जीव का अभाव कहना अनुचित है। दूसरी बात यह है कि जीव एक भव से भवान्तर रूप परिणमन करता है। जिस प्रकार देवदत्त के एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने पर उसका अभाव नहीं माना जाता है, उसी प्रकार जीव के मुक्त होने पर उसका अभाव नहीं होता।[5] भट्टाकलंक देव[6] ने बौद्धमत की समीक्षा करते हुए कहा है कि दीपक के बुझ जाने पर दीपक (प्रकाश) का विनाश नहीं होता, बल्कि उस दीपक के तैजस् परमाणु अन्धकार में बदल जाते हैं। इसी प्रकार मोक्ष होने पर जीव का विनाश नहीं होता है। कर्मों के क्षय होते ही आत्मा अपनी शुद्ध चैतन्यावस्था में परिवर्तित हो जाती है। कुन्दकुन्द[7] ने भी कहा है कि मोक्ष में जीवों का असद्भाव मानने

---

१. नियमसार, गा० ७२।
२. धवला : १।१।१, सू० १, गाथा २६-२८।
३. भगवती आराधना, गाथा २१५७।
४. प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन, पृ० १२७।
५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १।१।४। प्र० र० प्र०, टीका, २१।२९०।
६. तत्त्वार्थवार्तिक, १०।४।१७, पृ० ६४४।
७. पञ्चास्तिकाय, गा० ४६।

से उस जीव के शाश्वत-उच्छेद, भव्य-अभव्य, शून्य-अशून्य, और विज्ञान अविज्ञान रूप भावों का अभाव हो जाएगा, जो अनुचित है। अतः मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता है।

मुक्तात्मा का आकार : कुछ भारतीय दार्शनिकों का मन्तव्य है कि मुक्त आत्मा निराकार होती है, लेकिन जैन दार्शनिक उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं।[1] उनका मत है कि यद्यपि निश्चयनय की अपेक्षा मुक्त आत्मा निराकार होती है, क्योंकि वह इन्द्रियों से दिखलाई नहीं पड़ती है, लेकिन व्यवहारनय की अपेक्षा साकार होती है।[2] मुक्तात्मा का आकार मुक्त हुए शरीर से किंचित् न्यून अर्थात् कुछ कम होता है।[3] मुक्त जीव के अंतिम शरीर से कुछ कम होने का कारण यह है कि चरम-शरीर के नाक, कान, नाखून आदि कुछ अंगोपांग खोखले होते हैं, अर्थात् उनमें आत्मप्रदेश नहीं होते हैं।[4] कहा भी है "शरीर के कुछ खोखले भागों में आत्म-प्रदेश नहीं होते हैं। मुक्तात्मा छिद्ररहित होने के कारण पहले शरीर से कुछ कम, मोमरहित सांचे के बीच के आकार की तरह अथवा छाया के प्रतिबिम्ब की तरह, आकार वाली होती है।[5]"

मुक्त जीव सर्वलोक में व्याप्त नहीं होता है : मुक्त जीव सर्वलोकव्यापी नहीं होता है, क्योंकि सांसारिक जीव के संकोच-विस्तार का कारण शरीर नाम-कर्म होता है और उस कर्म का यहाँ सर्वथा अभाव होता है, अत : कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता है।[6]

प्रश्न : ढके हुए दीपक पर से आवरण के हटा लेने पर उसका प्रकाश फैल जाता है, उसी प्रकार शरीर के अभाव में सिद्धों की आत्मा लोकाकाश प्रमाण क्यों नहीं हो जाती है ?

उत्तर : यद्यपि दीपक में स्वभावतः प्रकाश का विस्तार रहता है, तथापि आवरण से ढका होता है। लेकिन जीव के प्रदेशों का विकसित होना स्वभाव नहीं है, बल्कि हेतुक है, इसलिए वह लोकाकाश में व्याप्त नहीं होता। अतः

१. सर्वार्थसिद्धि, १०।४, पृ० ३६०।
२. द्रव्यसंग्रह, टीका, गा० ५१, पृ० १९६।
(क) तिलोयपण्णत्ति ९।१०
३. तत्त्वानुशासन, पद्य २३२-२३३।
४. द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा १४, पृ० ३८।
५. वही, गाथा ५१, पृ० १९६। और भी देखें—तिलोयपण्णत्ति : यतिवृषभाचार्य, ९।१६।
६. (क) सर्वार्थसिद्धि, १०।४, पृ० ३६०; (ख) तत्त्वार्थसार, ८।९-१६।।

सूखी मिट्टी के वर्तन की तरह मुक्त आत्मा में कर्म के अभाव से संकोच-विस्तार नहीं होता है।[१]

मुक्त स्थान में मुक्त जीव के अवस्थान का अभाव : कुछ बौद्ध दार्शनिकों का मन्तव्य है कि मुक्त जीव जिस स्थान से मुक्त होता है, उसी स्थान पर अवस्थित रहता है, क्योंकि उसमें संकोच-विकास तथा गति के कारणों का अभाव होता है। अतः वह न तो किसी दिशा और विदिशा में गमन करता है और न ऊपर और न नीचे ही जाता है।[२] सांकल आदि से मुक्त हुए किसी प्राणी की तरह जीव मुक्त हुए स्थान पर ही अवस्थित रहता है।[3] लेकिन जैन दार्शनिक उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। इनका मन्तव्य है कि मुक्तात्मा मुक्त हुए स्थान पर एक क्षण भी अवस्थित नहीं रहता है, वल्कि अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन शक्ति के कारण ऊर्ध्वगमन करता है।[४] कहा भी है—"लघु पांच अक्षरों का उच्चारण जितनी देर में होता है, उतने समय तक चौदहवें गुणस्थान में ठहर कर कर्मबन्धन से रहित होकर शुद्धात्मा स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करती है।"[५] यदि जीव का ऊर्ध्वगमन न मान कर उसे यथास्थान अवस्थित माना जाए, तो पुण्यात्माओं और पापात्माओं का स्वर्ग-नरक गमन सिद्ध नहीं हो सकेगा और परलोक भी असिद्ध हो जाएगा। अतः सिद्ध है कि देह त्याग के स्थान में आत्मा अवस्थित नहीं रहती है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन का कारण : जीव का कर्मक्षय और ऊर्ध्वगमन एक साथ होता है।

शंका : मुक्त आत्मा का अधोगमन तथा तिर्यक्-गमन क्यों नहीं होता है?

समाधान : जीव को अधोलोक तथा तिर्यक् दिशा में गति कराने वाला कारण कर्म होता है और उसका मुक्त जीव में अभाव होता है, इसलिए मुक्त जीव तिर्यक् या अधो दिशा में गमन करके स्वाभाविक गति से ऊर्ध्वगमन करता है।[६] उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन के हेतुओं का दृष्टांत सहित उल्लेख किया है[७], जो निम्नांकित है :

---

१. (क) द्रव्यसंग्रह टीका, १४, पृ० ३९।
   (ख) परमात्मप्रकाश टी०, गा० ५४, पृ० ५२।
२. अश्वघोष-कृत सौन्दरानन्द।
३. सर्वार्थसिद्धि, १०।४, पृ० ३६०।
४. तत्त्वार्थसूत्र, १०।६।
५. (क) ज्ञानार्णव, ४२।५९। (ख) तत्त्वार्थसार, ८।३५।
६. द्रव्यसंग्रह टीका, गा० १४ एवं ३७।
७. तत्त्वार्थसूत्र, १०।६-७।

तप के भेद : तप दो प्रकार का है।[1] (१) बाह्य तप, और (२) आभ्यन्तर तप।

(१) बाह्य तप : जो तप बाहरी पदार्थो के आलम्बन से किये जाते हैं और जिन्हें दूसरे भी देख सकते हैं, उसे बाह्यतप कहते हैं।[2] बाह्य तप छह प्रकार का है[3] : (१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन और (३) कायक्लेश।

२. आभ्यन्तर तप : आभ्यन्तर अर्थात् आन्तरिक तप से सम्बन्धित तप, आभ्यन्तर तप कहलाता है। आचार्य पूज्यपाद, भट्ट अकलंकदेव आदि के ग्रन्थों में[4] आभ्यन्तर तप की अनेक विशेषताएँ बतलाई गई हैं।

तत्त्वार्थसूत्र[5] में आभ्यन्तर तप के छह भेद बतलाये गये हैं—(क) प्रायश्चित्त (ख) विनय (ग) वैयावृत्य (घ) स्वाध्याय (ङ) व्युत्सर्ग (च) ध्यान।

संवर के उपर्युक्त विश्लेषणात्मक विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संवर के कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप से नवीन कर्मो का आना अवरुद्ध हो जाता है। कर्म-संवर का इस प्रकार का विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि जैनेतर धर्म-दर्शन में मान्य तीर्थयात्रा, गंगादि-स्नान, दीक्षा लेना, शीर्षोपहार (बलिदान), देवताओं की आराधना आदि कर्म-संवर के कारण नहीं हैं, क्योंकि उपर्युक्त कार्य राग-द्वेष पूर्वक ही किये जाते हैं। राग-द्वेष और मोह रूप कर्मो की निर्जरा रागादि से नहीं हो सकती है। अतः तीर्थयात्रा आदि संवर के कारण नही हैं।[6]

निर्जरा मोक्ष का साक्षात् कारण है। अतः प्रसंगवश अब निर्जरा का विवेचन प्रस्तुत है—

(ख) निर्जरा : संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आत्मा में प्रवेश होना रुक

---

१. तत्त्वार्थसार, ६।७।

२. बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्।
(क) सर्वार्थसिद्धि, ९।१९, पृ० ३३६; (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।१९।१७।

३. तत्त्वार्थसूत्र, ९।१९।

४. (क) मनोनियमनार्थत्वात्।—सर्वार्थसिद्धि, ९।२०।
(ख) अन्यतीर्थ्यानभ्यस्तत्वादुत्तरत्वम्। अन्तःकरणव्यापारात्, बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च।—तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२०।१-३।

५. तत्त्वार्थसूत्र, ९।२०।

६. सर्वार्थसिद्धि; ९।२, (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२।१२।

गति में सहायक निमित्त कारण रूप धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होता है। उमास्वामी ने कहा भी है—"धर्मास्तिकायाभावात्" ।[1]

लोकान्त में जाकर सभी मुक्त जीव एक स्थान-विशेष पर विराजमान रहते हैं, जिसे आगमिक शब्दावली में 'सिद्धशिला'[2] कहते हैं।

मुक्त जीव संसार में वापस नहीं आते हैं : जैनागमों में मस्करी (मंखलि) दार्शनिकों का उल्लेख मिलता है, जो आजीविक-मतानुयायी माने जाते हैं। इस मत का तथा सदाशिव-मतानुयायियों का सिद्धान्त है कि मुक्त जीव संसार में धर्म का तिरस्कार देख कर उसके संस्थापनार्थ मोक्ष से पुनः संसार में वापस आ जाते हैं।[3] कहा भी है : "सदाशिववादी १०० कल्प प्रमाण समय व्यतीत होने पर जब जगत् शून्य हो जाता है, तब मुक्त जीव का संसार में वापस होना मानते हैं[4]।"

जैन दार्शनिक उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि जीव एक बार संसार के कारणभूत भावकर्म और द्रव्य-कर्म का सर्वथा विनाश करके मोक्ष पाने के बाद वहाँ से कभी वापस नहीं आते हैं। सांख्य और वेदान्त दार्शनिक भी मुक्त जीवों का वापस आना नहीं मानते हैं।[5] जैन आचार्यों का मत है कि संसार के कारणभूत मिथ्यादर्शनादि का मुक्त जीव में अभाव होता है, इसलिए वे संसार में पुनः वापस नहीं आते हैं। यदि कर्मों के अभाव में भी मुक्त जीव का संसार में आगमन माना जाए, तो कारणकार्य की व्यवस्था नष्ट हो जाएगी, जो अनुचित है। किसी स्थान-विशेष पर रखे हुए बर्तन आदि की तरह मुक्त जीव का संसार की ओर पतन मानना ठीक नहीं है।[6] दूसरी बात यह है कि गुरुत्व स्वभाव वाले पौद्गलिक पदार्थ ऊपर से नीचे गिरते हैं, मुक्तात्मा में यह स्वभाव नहीं होता है।[7] संसारी आत्मा कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १०।८।

२. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—भगवती आराधना, ११३३; त्रिलोकसार, ५५६-५८, तिलोयपण्णत्ति, ८।६५२-६५८।

३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रबोधिनी टीका, गा० ६९। स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ४२।

४. द्रव्यसंग्रह, गा० १४, पृ० ४०। मुण्डकोपनिषद्, ३।२।६। स्याद्वादमञ्जरी, हिन्दी टीका०, का० २९।

५. सांख्यदर्शन, ६।१७। वेदान्तसूत्र, ४।४।२२।

६. तत्त्वार्थवार्तिक, १०।४।४, पृ० ६४२। तत्त्वार्थसार, ८।८।११।

७. तत्त्वार्थवार्तिक, १०।४।८, पृ० ६४३।

से गुरुत्व रूप हो जाती है और उनका मुक्तात्मा में अभाव होता है। अतः अगुरुलघु स्वभाव वाली आत्मा की मोक्ष से च्युति उस प्रकार से नहीं होती है, जिस प्रकार गुरुत्व स्वभाव वाले आम का डाल से टपकना होता है या पानी भर जाने से जहाज का डूबना हो जाता है।[१]

मुक्तात्मा को ज्ञाता और द्रष्टा होते हुए भी, वीतराग होने के कारण करुणादि के उत्पन्न न होने से, कर्मबन्ध नहीं होता, इसलिए भी मुक्तात्मा संसार में वापस नहीं आता है।[२] मुक्त जीव के संसार में न आने का एक कारण यह भी है कि उसे अपरिमित अनाकुल सुख की उपलब्धि होती है।[३] इसके अतिरिक्त जो आत्मा एक बार कर्मरहित हो गया है, वह पुनः कर्मों से युक्त उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार एक बार सोने से किट्टकालिमादि निकल जाने पर पुनः सोना उससे युक्त नहीं होता।[४] मुक्त जीव का संसार में पुनः वापस आना माना जाए, तो संसारी और मुक्त जीवों में कोई अन्तर नहीं रहेगा। अतः सिद्ध है कि मुक्त जीव वापस नहीं आते।

आकाश में अवगाहन-शक्ति है, इसलिए थोड़े-से आकाश में अनेक सिद्ध उसी प्रकार से रह सकते हैं, जिस प्रकार अनेक मूर्तमान् दीपक का प्रकाश अल्प स्थान में अविरोध रूप से रहता है। अतः मुक्त जीवों में परस्पर अविरोध नहीं पाया जाता।[५]

मुक्त जीव का पुनरागमन न होने पर भी संसार की जीव-शून्यता का अभाव : संसार में मुक्त जीवों का पुनरागमन मानने वालों का कथन है कि मोक्ष से मुक्त जीव वापस नहीं आते हैं और जीवराशि सीमित है, (उसमें किसी तरह की वृद्धि नहीं होती), तो एक दिन ऐसा आ सकता है, जब सब जीव मुक्त हो जायेंगे और यह संसार जीवों से खाली हो जायगा।[६] किन्तु उपर्युक्त प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही जीव

---

१. तत्त्वार्थसार, ८।११-२। तत्त्वार्थवार्तिक, १।९।८, पृ० ६४३।
२. तत्त्वार्थवार्तिक, १०।४।५-६।
३. योगसार, ७।८।
४. वही, ९।५३।
५. (क) तत्त्वार्थवार्तिक, १०।४।९, पृ० ६४३।
   (ख) तत्त्वार्थसार, ८।१३-१४।
६. नन्वनादिकालमोक्षगच्छतां जीवानां जगच्छून्यं भवतीति।
   —द्रव्यसंग्रह, ३७।१४१।

'निगोद' (अनन्त जीवों का निवास स्थान) से निकलते रहते हैं।[1] कहा भी है—"जितने जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, उतने प्राणी अनादि निगोदवनस्पति-राशि में से आ जाते हैं। इसलिए निगोदराशि में से जीवों के निकलते रहने के कारण संसारी जीवों का कभी सर्वथा क्षय नहीं हो सकता है। जितने जीव अब तक मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और आगे जाने वाले हैं, वे निगोद जीवों के अनन्तवें भाग भी न हैं और न हुए हैं और न होंगे[2]।" अतः सिद्ध है कि मुक्त जीवों के वापस न होने पर संसार जीवों से खाली नहीं हो सकता है। इसी प्रकार और भी अनेक टीकाकारों ने अपना मत व्यक्त किया है। गोम्मटसार की टीका में लिखा है, "कदाचित् आठ समय अधिक छह माह में चतुर्गतिक जीव राशि से निकल कर १०८ जीव मोक्ष जाते हैं और उतने ही जीव नित्य निगोद भव को छोड़कर चतुर्गति भव में आ जाते हैं"।[3]

द्रव्यसंग्रह की टीका में जीवराशि के अन्त न होने को सिद्ध करते हुए कहा है कि भविष्यत् काल के समय क्रम से नष्ट होते रहने से भविष्यत् काल की न्यूनता होती है, किन्तु समय राशि का अन्त नहीं होता है, उसी प्रकार जीवों के मुक्त होने से यद्यपि जीवराशि की न्यूनता होती है, तथापि उस जीवराशि का अन्त नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि अभव्य के समान सभी भव्य जीवों को भी मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती है, अतः जीवराशि का अन्त किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।[4] परिमित वस्तु ही घटती-बढ़ती है तथा उसी का अन्त सम्भव है। अपरिमित वस्तु में न्यूनाधिकता तथा सर्वथा विनाश होने का प्रश्न नहीं होता। जीवराशि अनन्त अर्थात् अपरिमित है, अतः भव्य जीवों की मुक्ति होने पर भी संसार जीवराशि से रिक्त नहीं होता।[5]

(ख) जैनेतर भारतीय दार्शनिक परम्परा में मान्य मोक्ष-स्वरूप की मीमांसा :

भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को महत्वपूर्ण मानकर उस पर गम्भीरतापूर्वक

---

१. सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ।
   एंति अणाइवणस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि॥
   —स्याद्वादमञ्जरी, का० २९ पृ० २५९ पर उद्धृत।

२. वही, पृ० २५९-६०।

३. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रदीपिका टीका, गा० १९७ पृ० ४४१।

४. बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, गा० ३७, पृ० १४१।

५. स्याद्वादमञ्जरी, का० २९, पृ० २६०।

चिन्तन किया है। सभी भारतीय दार्शनिक इस बात से सहमत हैं कि आत्म-स्वरूप का लाभ ही मोक्ष है। लेकिन आत्म-स्वरूप की तरह मोक्ष-स्वरूप में भी विभिन्नता है। दार्शनिक बुद्ध्यादि विशेषगुणों का उच्छेद होना मोक्ष मानते हैं, कुछ शुद्ध चैतन्य मात्र में आत्मा का अवस्थान होना ही मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं, कुछ मोक्ष को सुखोच्छेद अर्थात् सुखविहीन रूप और कुछ मोक्ष को एक मात्र आनन्द स्वभाव की अभिव्यक्ति रूप मानते हैं। जैन दार्शनिक मोक्ष के उपर्युक्त स्वरूप से सहमत नहीं हैं। अतः यहाँ उन पर विचार करना आवश्यक है।

(अ) बुद्ध्यादिक नौ विशेष गुणों का उच्छेद होना मोक्ष नहीं है :

न्याय-वैशेषिक, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर का यह सिद्धान्त कि बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार का समूल उच्छेद होना ही मोक्ष है, लेकिन मोक्ष का यह स्वरूप जैन-दार्शनिकों को स्वीकार नहीं है।[१] प्रभाचन्द्र न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों से प्रश्न करते हैं कि आप बुद्धि आदि जिन नौ गुणों का मोक्ष में उच्छेद होना मानते हैं, वे गुण आत्मा से भिन्न हैं या अभिन्न या कथंचिद् भिन्न ?[२] यदि बुद्धि आदि गुणों को आत्मा से भिन्न माना जाए, तो हेतु आश्रयासिद्ध (हेतु का पक्ष में अभाव) हो जाता है, क्योंकि सन्तानी से सर्वथा भिन्न सन्तान कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः आत्मा से भिन्न बुद्धि आदि सन्तान रूप गुणों का आश्रय पक्ष सिद्ध न होने से आत्मा से उन्हें भिन्न मानना ठीक नहीं है।[३] उपर्युक्त दोष से बचने के लिए माना जाय कि बुद्धि आदि गुण आत्मा से अभिन्न हैं और उसके इन अभिन्न गुणों का उच्छेद होना मोक्ष है, तो उनका यह पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभिन्न होने का तात्पर्य है आत्मा और गुणों का एक होना। यदि आत्मा से अभिन्न गुणों का उच्छेद होना मोक्ष माना जाए, तो गुणों के नष्ट होने से आत्मा का भी उच्छेद हो जाएगा, फिर मोक्ष की प्राप्ति किसको होगी ? जब आत्मा का विनाश हो जाएगा, तब यह कहना व्यर्थ हो जाएगा कि मोक्ष में आत्मा बुद्धि आदि गुणों से शून्य हो जाती है। अतः बुद्धि आदि गुणों को आत्मा से अभिन्न मानकर उनका उच्छेद मानना भी ठीक नहीं है।[४] अब यदि न्याय-वैशेषिक यह

---

१. अमितगतिश्रावकाचार, ४।३९।

२. न्यायकुमुदचन्द्र : प्रभाचन्द्र, पृ० ८२५। षड्दर्शनसमुच्चय, टीका : गुणरत्न, पृ० २८५।

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड, ३१७।

४. वही।

मानें कि बुद्धि आदि गुण आत्मा से कथंचिद् अभिन्न हैं तो वैसा मानने से निम्नांकित दोष आते हैं[1]—

१. सिद्धान्त विरोध नामक दोष आता है क्योंकि नैयायिकादि मत में कथंचिद्भाव मान्य नहीं है।

२. दूसरी बात यह कि कथंचिद् अभेद मानने पर बुद्धि आदि गुणों का अत्यन्त उच्छेद नहीं हो सकता।

३. तीसरा दोष यह है कि कथंचिद् अभिन्न सिद्धान्त जैन मानते हैं, अतः इससे जैन मत की सिद्धि हो जाएगी।

अतः, उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मोक्ष में आत्मा के बुद्धि आदि गुणों का उच्छेद नहीं होता।

'सन्तानत्वात्' हेतु भी ठीक नहीं है : न्याय-वैशेषिकों ने मोक्ष में आत्मा के बुद्धि आदि गुणों के उच्छेद हेतु यह तर्क दिया था कि दीपक की सन्तान-परम्परा की तरह आत्मा के बुद्धि आदि विशेष गुणों की सन्तान-परम्परा का उच्छेद हो जाता है। यहाँ 'सन्तानत्वात्' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास से दूषित है [विपरीत साध्य को सिद्ध करता है]। कार्य-कारण क्षणों का प्रवाह सन्तान है, किन्तु इस सन्तान का लक्षण एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य तत्त्व में नहीं बनता। इसके विपरीत कथंचिद् नित्य, कथंचिद् अनित्य सिद्धान्त में ही सन्तान का स्वरूप घटित होने से 'सन्तानत्वात्' हेतु से कथंचिद् नित्य एवं कथंचिद् अनित्य की सिद्धि होती है। अतः, विरुद्ध हेत्वाभाव[2] से दूषित होने के कारण यह हेतु बुद्धि आदि गुणों के मोक्ष में उच्छेद-रूप साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि 'सन्तानत्व'-हेतु सामान्य है या विशेष? यदि इस हेतु को सामान्य माना जाए, तो अनैकान्तिक दोष आता है, (हेतु का विपक्ष में भी रहना अनैकान्तिक दोष है) क्योंकि गगन आदि में भी 'सन्तानत्व'-हेतु रहता है, किन्तु उसका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता।[3] इसी प्रकार, 'सन्तानत्व'-हेतु को विशेष मानना ठीक नहीं है, क्योंकि इस विषय में भी विकल्प होते हैं कि 'सन्तानत्व' हेतु उत्पादन-उपादेयभूत बुद्धि आदि क्षण-विशेष रूप हैं अथवा पूर्वापर सामान्य जाति क्षण प्रवाह-रूप?[4] प्रथम विकल्प असाधा-

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८२६।

२. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८२७। (ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३१७।
(ग) षड्दर्शनसमुच्चय, टीका : गुणरत्न, पृ० २८६।

३. वही।

४. वही।

रणानैकान्त (साध्य के अभाव वाले अधिकरण में हेतु का रहना असाधारण-अनैकान्त है) नामक दोष से दूषित है, क्योंकि सन्तानत्व-हेतु दृष्टान्त में नहीं रहता है।

पूर्व-अपर सामान्य जाति क्षण प्रवाह रूप सन्तानत्व है, यह दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह अनैकान्तिक दोष से दूषित है। पाकज परमाणु के रूपादि में सन्तानत्व-हेतु रहता है, किन्तु पाकज परमाणु के रूपादि का अत्यन्त उच्छेद नही होता। प्रभाचन्द्र की तरह मल्लिषेण ने भी 'स्याद्वादमंजरी' में सन्तानत्व-हेतु को दूषित बतला कर सिद्ध किया है कि इस हेतु से बुद्धि आदि गुणों से विहीन मोक्ष का स्वरूप-मानना ठीक नहीं है।[1]

उदाहरण भी ठीक नहीं है : अपने सिद्धान्त की पुष्टि में न्यायवैशेषिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया दीपक का उदाहरण भी ठीक नहीं है, क्योंकि दीपक का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। दीपक के बुझने पर दीपक के चमकने वाले (भासुर रूप) तैजस परमाणु की पर्याय बदल जाती है। तात्पर्य यह कि वे तैजस परमाणु भासुर रूप को छोड़ कर अन्धकार-रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार, सिद्ध है कि शब्द, विद्युत् एवं प्रदीपादि का उच्छेद पर्याय-रूप से होता है, अर्थात्—पूर्व-पर्याय नष्ट हो जाती है और वे उत्तर पर्याय धारण कर लेते हैं। अतः, साध्य विकल दृष्टान्त होने के कारण बुद्धि आदि गुणों के उच्छेद-रूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता।[2]

ज्ञान मात्र निःश्रेयस् का हेतु नहीं : विपर्यय ज्ञान के व्यवच्छेद के क्रम-रूप तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस् (मोक्ष) का हेतु मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विपर्यय ज्ञान का विनाश होने पर धर्म-अधर्म का अभाव हो सकता है और धर्म-अधर्म के अभाव से उनके कार्य—शरीर, इन्द्रिय का अभाव होने पर भी अनन्त और अतीन्द्रिय समस्त पदार्थों को जानने वाले सम्यग्ज्ञान और सुखादि सन्तान का अभाव नहीं होता।[3]

इन्द्रियज ज्ञानादि गुणों का उच्छेद जैन दर्शन को भी मान्य : प्रभाचन्द्राचार्य प्रश्न करते हैं कि दो प्रकार के बुद्धि आदि गुणों में से मोक्ष में कौन-से गुणों का विनाश होता है, क्या इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले बुद्धि आदि गुणों का अथवा

---

१. स्याद्वादमञ्जरी, का० ८, पृ० ६१-६२।

२. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, भाग १, पृ० ८२७।
   (ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड, परि० २, पृ० ३१८।

३. वही।

आत्मा से उत्पन्न होने वाले बुद्धि आदि गुणों का[1] ? यदि यह माना जाय कि मोक्ष में इन्द्रियों से उत्पन्न बुद्धि आदि गुणों का विनाश हो जाता है तो सिद्ध-साधन नामक दोष आता है, क्योंकि जैन सिद्धान्त में भी यह माना गया है कि मोक्ष में इन्द्रियज ज्ञानादि सन्तान का उच्छेद हो जाता है ।[2]

अतीन्द्रिय गुणों के उच्छेद से आत्मा की जड़वत्ता : यदि न्याय-वैशेषिक यह मानते हैं कि आत्मा-जन्य अतीन्द्रिय गुणों का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है, तो इनका यह मन्तव्य भी ठीक नहीं है, क्योंकि अतीन्द्रिय बुद्धि आदि गुणों के उच्छेद होने से आत्मा पत्थर के समान हो जाएगा । अतः, इस प्रकार सर्व-विनाशी निरर्थक मोक्ष के लिए मोक्षार्थी तपश्चरण, योग-साधना, समाधि वगैरह क्यों करेंगे ? न्याय-वैशेपिकों के मोक्ष-स्वरूप से खिन्न हो कर विचारकों ने ऐसी मुक्ति पाने की अपेक्षा वन में गीदड़ बन कर रहना स्वीकार किया है ।[3] अतः, सिद्ध है कि बुद्धि आदि गुणों के उच्छेद रूप मोक्ष का स्वरूप मानना ठीक नहीं है ।

शुद्ध चैतन्यमात्र में आत्मा का अवस्थान होना मोक्ष नहीं :

सांख्य दार्शनिक मानते हैं कि प्रकृति और पुरुष को एक मानना अज्ञान है और इसी अज्ञान का विनाश हो जाने पर पुरुष भेद-विज्ञान से अपने को प्रकृति से भिन्न मानने लगता है । इस तरह पुरुष अपने स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसी का नाम मोक्ष है ।[4] सांख्य भी न्याय-वैशेषिक की तरह यह मानते हैं कि मोक्ष मे आत्मा या पुरुष में दुःख-सुख और ज्ञानादि नहीं रहते हैं ।[5] क्योंकि सुख-दुःख आदि सांख्य-मत में प्रकृति का कार्य है, अतः प्रकृति के अलग हो जाने से सुखादि का भी विनाश हो जाता है । न्याय-वैशेषिकों की अपेक्षा सांख्यों के मोक्ष-स्वरूप की यह विशेषता है कि न्याय-वैशेषिक मोक्ष में आत्मा के चैतन्य का विनाश मानता है, जब कि सांख्य चैतन्य स्वरूप में पुरुष के अवस्थित होने को मोक्ष मानता है ।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ०८ २७ ।

२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३१८ ।

३. वरं वृन्दावने वासः, शृगालेश्च सहोषितम् ।
न तु वैशेषिकींमुक्तिं, गौतमो गन्तुमिच्छति ॥

—षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० २८७ ।

४. (क) अष्टसहस्री : विद्यानन्दि, पृ० ६६ । (ख) स्याद्वादमञ्जरी, का० १५, पृ० १४१ । (ग) प्रमेयकमलमार्तण्ड : परि० २, पृ० ३१६ ।

५. (क) सांख्यकारिका, ६५-६६ । (ख) सांख्यसूत्र प्रवचनभाष्य ६।९,

—एवं ६।५ ।

जैन दार्शनिकों ने सांख्य के उपर्युक्त मोक्ष-स्वरूप पर विमर्श करते हुए कहा है कि सिर्फ चैतन्य-स्वरूप में अवस्थान होना मोक्ष नहीं है, क्योंकि सिर्फ चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा अनन्तज्ञानादि स्वरूप है, इसलिए अपने अनन्तज्ञानादि 'चैतन्य-विशेष' में अवस्थित होना मोक्ष कहलाता है।[1] यदि पुरुष को अनन्तज्ञानादि स्वरूप न माना जाए, तो आत्मा सर्वज्ञ नहीं हो सकेगी।[2] प्रकृति को आकाश की तरह अचेतन होने के कारण सर्वज्ञ मानना असंगत है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानादि को भी सर्वज्ञ मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव की तरह ज्ञानादि भी उत्पत्ति-विनाशयुक्त होने से आत्मा का स्वभाव है। ज्ञानादि अनुभव की तरह स्वसंवेद्य हैं।[3] विद्यानन्द ने 'अष्टसहस्री' में कहा है कि ज्ञानादि अनुभव की तरह आत्मा के स्वभाव हैं और सुख भी चैतन्य होने से ज्ञानादि की तरह आत्मा का स्वभाव है। अतः, सिद्ध है कि चैतन्य में अवस्थान होना आत्मा का मोक्ष नहीं है।[4]

सांख्यमत में भेद-विज्ञान सम्भव नहीं है : सांख्य-मत में भेद-विज्ञान भी सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि विवेक ज्ञान में जिज्ञासा होती है कि यह विवेक ज्ञान किसको होता है, प्रकृति को अथवा पुरुष को[5] ? प्रकृति ज्ञान से शून्य होने के कारण उसे विवेक हो नहीं सकता। पुरुष को भी विवेक नहीं हो सकता है, क्योंकि वह अज्ञान समूह में स्थित रहता है, फलतः वह स्वयं अज्ञानी है।[6]

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि प्रकृति जड़ होने के कारण यह नहीं समझ सकती है कि पुरुष ने मुझे कुरूप समझ लिया है, अतः प्रकृति पुरुष से अलग नहीं हो सकती है।[7]

प्रकृति को मुक्त पुरुष से अलग होने में दोष : एक बात यह है कि यदि पुरुष ने प्रकृति को कुरूप समझ भी लिया है, तो भी उसे संसारी स्त्री की तरह मुक्त पुरुष के पास भी भोगार्थ पहुँच जाना चाहिए, क्योंकि पुरुष के पास

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प० २, पृ० ३२७। (ख) अष्टसहस्री, पृ० ६६।
२. वही।
३. अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्वाद् घटादिवत्——, न हेतोरनुभवेनानेकान्तात्।—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३२७।
४. अष्टसहस्री, पृ० ६७।
५. (क) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८२१। (ख) षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० २९२।
६. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८२२।
७. वही।

भोगार्थ जाना उसका स्वभाव ही है। यदि प्रकृति मोक्ष की स्थिति में पुरुष के पास पहुँच जाती है, तो उसे मोक्ष नहीं कहा जा सकता है।[1] यदि वह मुक्तात्मा के पास नहीं जाती है, तो इसका तात्पर्य होगा कि उसने अपना स्वभाव छोड़ दिया है। प्रकृति के स्वरूप में भेद मानने का तात्पर्य होगा प्रकृति का अनित्य होना, जो कि सांख्यों को मान्य नहीं है। यदि परिणामी होते हुए भी प्रकृति को नित्य माना जाए तो पुरुष को भी इसी प्रकार परिणामी होने से नित्य मानना चाहिए, क्योंकि पुरुष पहले के मुक्तस्वभाव को छोड़कर अमुक्त स्वभाव को धारण कर लेता है। अतः मुक्त से अमुक्त स्वभाव की तरह यह भी मान लेना चाहिए कि आत्मा सुखादि रूप में भी परिणत होता है।[2] इस प्रकार, सिद्ध है कि मात्र चैतन्यस्वरूप में अवस्थान होना मोक्ष नहीं है।

मोक्ष अत्यन्त सुखोच्छेद रूप नहीं है : भारतीय-दर्शन में यह विचारणीय है कि क्या मोक्ष अत्यन्त दुःखोच्छेद रूप है या सुखोच्छेद रूप या दोनों का एक साथ उच्छेद रूप, अर्थात्-मोक्ष में केवल दुःखों का विनाश होता है या सुख का विनाश होता है या सुख-दुःख दोनों का होता है ? हम पीछे विवेचन कर आये हैं कि इस विषय में सभी भारतीय दार्शनिक एकमत हैं कि मोक्ष में दुःख का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है। किन्तु न्याय-वैशेषिक, प्रभाकर, सांख्य तथा बौद्ध दार्शनिक यह मानते हैं कि मोक्ष में दुःख की तरह सुख का भी अत्यन्त उच्छेद हो जाता है। इसके विपरीत वेदान्ती दर्शनिक कुमारिलभट्ट[3] तथा जैन-दार्शनिक मोक्ष में आत्मीय अतीन्द्रिय सुख का उच्छेद होना नहीं मानते हैं।

मोक्ष में आत्मिक, अनन्तसुख का अनुभव होता है : जैन दार्शनिकों का कथन है कि सुख दो प्रकार का होता है :—इन्द्रियज और आत्मज अथवा वैभाविक (आगन्तुक) और स्वाभाविक। इन्द्रियजन्य सुख का मोक्षावस्था में विनाश हो जाता है, क्योंकि उस समय इन्द्रिय शरीरादि का अभाव हो जाता है। अतः इन्द्रियजन्य सुख मोक्षावस्था में नहीं होता है। किंतु मोक्ष में आत्मिक सुख का अभाव मानना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा सुखरूप है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यदि आत्मा का स्वभाव ही नष्ट हो जाएगा, तो क्या बचेगा ? अतः

---

१. न्यायकुमुदचंद्र : प्रभाचन्द्र, पु० ८२३।

२. वही। और भी देखें—ष० द० स० : टीका—गुणरत्न, पृ० २९३-९४।

३. दुःखात्यन्त समुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तितः।
सुखस्य मनसा मुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः ॥—भारतीय दर्शन : डा० बलदेव उपाध्याय, पृ० ६१२।

सिद्ध है कि मोक्ष में आत्मा के स्वाभाविक सुख का उच्छेद नहीं होता।[1] आचार्य गुणरत्न ने भी षड्दर्शनसमुच्चय की टीका मे कहा गया है[2] कि 'जिस अवस्था में अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति होती है, वही मोक्ष है और यह पापी आत्माओं को प्राप्त नहीं होता।'[3]

अतः मोक्षावस्था में आत्मजन्य अतीन्द्रिय अनन्त सुख का अनुभव होता है।

यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संसार के विषयजन्य सुख की तरह मोक्ष का सुख, दुःख से युक्त नहीं है और न उससे रागबन्ध होता है। क्योंकि राग कर्मों के कारण होता है और मोक्ष में सम्पूर्ण कर्मो का क्षय होता है। अतः, मोक्षावस्था में सुख का उच्छेद नहीं होता।[4] मोक्ष का सुख अनन्त, अपूर्व, अव्याबाध, अनुपम और अविनाशी होता है।[5]

मोक्ष आनन्दैक स्वभाव की अभिव्यक्ति-स्वरूप मात्र नहीं :

अद्वैत वेदान्त दर्शन की मान्यता है कि मुक्त होने पर जीव सच्चिदानन्द ब्रह्म में लीन हो जाता है और वह अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। अतः आनन्द मात्र की अनुभूति होना ही मोक्ष है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा आदि दार्शनिकों की तरह वेदान्ती यह भी मानते हैं कि मोक्ष में ज्ञानादि का अभाव होता है।[6]

जैन दार्शनिक वेदान्त की तरह यह मानते हैं कि मोक्ष आनन्द-स्वरूप है लेकिन, आनन्द को चिद्रूपता की तरह एकान्त रूप से नित्य मानना जैनों को मान्य नहीं है। क्योंकि चिद्रूपता भी एकान्तरूप से नित्य नहीं है। सभी वस्तुएँ न तो सर्वथा नित्य होती हैं और न सर्वथा अनित्य, किन्तु कथंचिद् नित्य और कथंचिद् अनित्य होती हैं।[7] आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रदीप से आकाश-

---

१. स्याद्वादमञ्जरी : मल्लिषेण, का० १, ८, पृ० ६०।

२. षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० २८८।

३. गीता, ६।२१।

४. (क) स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ७३-६४। (ख) तत्त्वानुशासन, श्लोक २३७-३९, ४१।

५. धर्मशर्माभ्युदय, २१।१६५।

६. अनन्तसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैक स्वभावाभिव्यक्ति-मोक्षः——अष्टसहस्री, पृ० ६९।
   ननु परमप्रकर्षप्राप्तसुखस्वभावतैव आत्मनो मोक्षः न तु ज्ञानादि स्वभावता, तत्र प्रमाणाभावात्।—न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८३१।

७. प्रमेयकमलमार्तण्ड, परि० २, ३२०।

पर्यन्त समस्त पदार्थों को नित्यानित्य स्वभाव वाला बतलाया है।[1] आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि आनन्दरूपता के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) कारणों के नष्ट हो जाने पर मोक्षावस्था में आत्मा ज्ञानसुखादि का कारण होता है। संसारी अवस्था में भी विशिष्ट ध्यानादि में अवस्थित समवृत्ति वाले पुरुषों को आनन्द-रूप अनुभव होता है।[2] इसी प्रकार जैन दार्शनिक यह भी मानते हैं कि अनादि अविद्या के विलय से आनन्द-रूपता की अभिव्यक्ति होती है। ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मप्रवाह-रूप अनादि अविद्या के नष्ट होने पर अनन्तसुख, अनन्तज्ञानादि रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3]

मुक्त आत्मा संवेद्य स्वभाव है या असंवेद्य? : अद्वैत वेदान्ती मोक्ष को ज्ञानादि स्वरूप न मानकर केवल अनन्तसुखस्वरूप मानते हैं। अतः आचार्य विद्यानन्दी उनसे प्रश्न करते हैं कि मुक्त पुरुष अनन्तसुख का अनुभव करता है या नहीं?[4] यदि मुक्ति में आत्मा सुख का अनुभव करती है, तो संवेद्य, अर्थात् जानने योग्य के रूप में अनन्तज्ञान की सिद्धि हो ही जाती है। क्योंकि अनन्तसुख के अनुभव होने का तात्पर्य यही है कि उसका संवेदन होता है। यदि अनन्तसुख का संवेदन नहीं होता है, तो फिर आत्मा के लिए अनन्तसुख संवेद्य होता है, यह कहना परस्पर विरोधी बात है। अतः, मोक्ष में संवेद्य स्वभाव आत्मा को मानने से सिद्ध है कि अनन्तसुख की तरह अनन्त ज्ञानादि की भी अभिव्यक्ति होती है।[5] यदि वेदान्ती मुक्त आत्मा को संवेद्य रूप नहीं मानेंगे तो उसे आनन्द-स्वरूप कहना भी असंगत होगा।

मुक्त आत्मा को बाह्य पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं होता : अद्वैत वेदान्त का यह कथन भी ठीक नहीं है कि मुक्त आत्मा को अनन्त सुख का संवेदन होता है, किन्तु उसे बाह्य पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। विद्यानन्दी प्रश्न करते हैं कि मुक्तात्माओं को बाह्य पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं होता, बाह्य पदार्थों का अभाव होने से अथवा इन्द्रियों का अभाव होने से? बाह्य पदार्थों का अभाव है इसलिए मुक्तात्मा को सुख का भी संवेदन (अनुभव) नहीं हो सकेगा। क्योंकि, बाह्य पदार्थों की तरह सुख का भी अभाव मानना पड़ेगा, यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो ब्रह्म और सुख की सत्ता होने से द्वैत होने का प्रसंग आयेगा। अब

---

१. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक ५।

२. प्रमेयकमलमार्तण्ड, ३२०।

३. वही।

४. अष्टसहस्री, पृ० ६९।

५. वही।

यदि यह माना जाए कि इन्द्रियों का अभाव होता है, इसलिए बाह्य पदार्थों का ज्ञान मुक्तात्मा को नहीं होता, तो यह कथन भी ठीक नहीं है। यदि ऐसा मान लें तो इन्द्रियों का अपाय (विनाश) मानने से अनन्त सुख का संवेदन नहीं हो सकेगा।[1] इसका परिणाम यह होगा कि मुक्तात्मा अनन्त सुख-स्वरूप है, यह कथन निरर्थक हो जाएगा। अतः, मानना चाहिए कि अनन्त सुख की अभिव्यक्ति की तरह ज्ञानादि की अभिव्यक्ति भी होती है और इसी का नाम मोक्ष है।

सुख-संवेदन की तरह बाह्य पदार्थ का ज्ञान भी अतीन्द्रिय ज्ञान से : मुक्तात्मा के *अन्तःकरण का अभाव* होने पर अतीन्द्रिय संवेदन के द्वारा सुख का अनुभव होता है, किन्तु बाह्य पदार्थ का ज्ञान मुक्त-जीव को नहीं होता है। इसके प्रत्युत्तर में विद्यानन्दी का कथन है कि सुख-संवेदन की तरह बाह्य पदार्थ का संवेदन भी जीव को अतीन्द्रियज्ञान से होता है।[2] अतः, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख की अभिव्यक्ति का नाम ही मोक्ष है।[3]

अनन्तज्ञान और कुछ दार्शनिक समस्याएँ : सिद्ध (मुक्तात्मा) को अनन्तज्ञान स्वरूप मानने पर कुछ दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ वे भी विचारणीय हैं।

प्रश्न : मुक्त आत्मा के जब इन्द्रियाँ नहीं होती हैं तो वह अतीन्द्रिय केवलज्ञान से पदार्थों को कैसे जानता है?

उत्तर : जैन दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि केवलज्ञान दर्पण की तरह है। जिस प्रकार दर्पण के सामने पदार्थों के होने से ही पदार्थ उसमें अपने आप झलकने लगते हैं उसी प्रकार केवलज्ञान में समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। अतः केवली को पदार्थों के जानने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है : अपने आत्मा को जानने से सर्वज्ञ तीन लोक को जानता है, क्योंकि आत्मा के स्वभाव रूप केवलज्ञान में यह लोक प्रतिबिम्बित हो रहा है।[4]

प्रश्न : अनन्तज्ञान दर्पण की तरह है तो उसमें सभी पदार्थ एक साथ छोटे-बड़े कैसे प्रतिबिम्बित हो सकते हैं?

उत्तर : उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और

१. अष्टसहस्री, पृ० ६९।
२. वही।
३. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ८३६।
४. प्रवचनसार, गा० ९९।

ज्ञान ज्ञेय के बराबर है और ज्ञेय लोक और अलोक है। अतः अनन्तज्ञान सर्वगत है।[1] दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ का अनन्त ज्ञान युगपत्—एक साथ समस्त त्रिकालवर्ती पदार्थों को सूर्य की तरह प्रकाशित करता है।[2]

इसके अतिरिक्त अनन्तज्ञान के विषय में ये प्रश्न भी उठते हैं कि अनुत्पन्न पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है? क्या अनुत्पन्न पदार्थ पहले से नियत हैं या नहीं? यदि नियत हैं तो जैन-दर्शन को नियतिवाद का सिद्धान्त मानना चाहिए, और यदि नियत नहीं हैं तो अनुत्पन्न पदार्थों का ज्ञान होता है, यह कथन सिद्ध नहीं होता है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न होता है कि अनन्त को अनन्त-ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है या नहीं? तीसरी दार्शनिक समस्या यह है कि अनन्तज्ञान अमूर्त है, उसमें मूर्त पदार्थ कैसे प्रतिविम्बित होते हैं? चौथा प्रश्न यह है कि क्या अनन्तज्ञान अपरिणामी है या परिणामी? यदि अपरिणामी है तो वह परिणामी पदार्थों को कैसे जानता है? यदि वह परिणामी है तो उसे उत्पत्ति विनाश स्वभाव वाला मानना पड़ेगा। पांचवां प्रश्न यह है कि केवली आत्मा के एक देश से समस्त पदार्थों को एक साथ जानता है अथवा समस्त प्रदेशों से? जैनागमों में इन प्रश्नों का सूक्ष्म दृष्टि से समाधान किया गया है।[3]

(ग) मोक्ष के हेतु :

भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरूप की तरह मोक्ष के उपाय के विषय में भी विभिन्न मत हैं। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, वेदान्त, बौद्ध आदि दार्शनिक ज्ञानमात्र को मोक्ष का कारण मानते हैं।[4] पाशुपत आदि कुछ दार्शनिक मात्र आचरण को मोक्ष-प्राप्ति का कारण मानते हैं। कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर कर्म (आचरण) और ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं, जबकि रामानुज भक्ति को। जैन दार्शनिक श्रद्धा, ज्ञान और आचरण के समष्टि रूप को मोक्ष का साधन मानते हैं। सामान्यज्ञान, सामान्यदर्शन और सामान्यचारित्र मोक्ष-प्राप्ति के उपाय नहीं हैं। इसलिए उमास्वामी आदि जैन दार्शनिकों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समष्टि को मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बतलाया है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो

---

१. प्रवचनसार, गाथा २३।
२. भगवतीआराधना, गा० २१४२।
३. (क) कषायपाहुड़, पुस्तक १। (ख) धवला, पु० १, सूत्र २२, पुस्तक ६, सूत्र १४। (ग) तत्त्वार्थवार्तिक, ५।९।
४. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, १।१।

सकती है।[१] आचार्यों का कथन है कि केवल मोक्ष के विषय में श्रद्धा रखने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि श्रद्धा तो मात्र रुचि की परिचायिका है। यदि श्रद्धा मात्र से मोक्ष की प्राप्ति मानी जाए, तो भूख लगने पर उसके प्रति श्रद्धा मात्र से भोजन पक जाना चाहिए।[२] दूसरी बात यह है कि श्रद्धा से मोक्ष मानने से संयमादि धारण करना व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा।[3] इसके अतिरिक्त दीक्षा धारण करने मात्र से भी सांसारिक दोष नष्ट नहीं हो सकते हैं। दीक्षा धारण के पहले और बाद में सांसारिक दुःख मौजूद रहते हैं।[४] अतः मात्र श्रद्धा से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार, मात्र सम्यग् ज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यदि सम्यग् ज्ञान मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी जाएगी, तो सम्यग् ज्ञान प्राप्त होते ही साधक मुक्त हो जाएगा, फिर वह धर्मोपदेश आदि कार्य आकाश की तरह नहीं कर सकेगा।[५] यदि कुछ संस्कारों के रहने के कारण पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर भी मोक्ष नहीं होता है, तो इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी संस्कार नष्ट हुए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। संस्कारों का क्षय चारित्र से हो सकता है, ज्ञान से नही। अन्यथा, ज्ञान-प्राप्ति के साथ ही संस्कारों का भी क्षय हो जाएगा, और धर्मोपदेश न होने को समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। अतः, केवलज्ञान से भी मोक्ष नहीं होता है।[६] सोमदेव सूरि ने केवलज्ञान को मोक्ष का हेतु मानने वालों की समीक्षा में कहा है कि ज्ञान से तो सिर्फ पदार्थों की जानकारी होती है। यदि पदार्थों के जानने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति होने लगे, तो पानी को देखते ही प्यास नष्ट हो जानी चाहिए, जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः ज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।[७]

जो आचरण या चरित्र मात्र से मोक्ष मानते हैं उनका सिद्धान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धा पुरुष जिस प्रकार छाया का आनन्द ले सकता है, उसी

---

१. सर्वार्थसिद्धि, १।१।
२. उपासकाध्ययन, १, १७, पृ० ५।
३. वही, १।१८।
४. वही, १।१९।
५. (क) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, उत्थानिका, आ ५२-५३।
   (ख) तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।५०।
६. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।५१-५३।
७. उपासकाध्ययन, १।२०, पृ० ६।

प्रकार फूलों की शोभा का आनन्द नहीं ले सकता ।[1] कहा भी है कि क्रियारहित ज्ञान की तरह अज्ञानी की क्रियाएं भी व्यर्थ हैं । अग्नि से व्याप्त जंगल में अन्धे की तरह लंगड़ा व्यक्ति भी नहीं बच सकता है । दोनों के सम्मिलित प्रयास से ही उनकी प्राण रक्षा हो सकती है । अतः मात्र सम्यग्दर्शन, मात्र सम्यग्ज्ञान या मात्र सम्यक्चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है । कहा भी है "ज्ञान विहीन क्रिया व्यर्थ होती है और श्रद्धा-रहित ज्ञान एवं क्रियाएं निरर्थक होती हैं[2] ।" पूज्यपाद ने उपर्युक्त कथन को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र व्यष्टि रूप से मोक्ष के साधक नहीं हैं । रोगी का रोग दवा में विश्वास करने मात्र से दूर न होगा, जब तक उसे दवा का ज्ञान न हो और वह चिकित्सक के अनुसार आचरण न करे । इसी प्रकार, दवा की जानकारी मात्र से रोग दूर नहीं हो सकता है जब तक रोगी दवा के प्रति रुचि न रखे और विधिवत् उसका सेवन न करे । इसी प्रकार दवा में रुचि और उसके ज्ञान के बिना मात्र सेवन से रोग दूर नहीं हो सकता है । तभी दूर हो सकता है जब दवा में श्रद्धा हो, जानकारी हो और चिकित्सक के अनुसार उसका सेवन किया जाए । इसी प्रकार, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।[3]

मूलाचार में एक उपमा देते हुए कहा गया है "जहाज चलाने वाला निर्मापक ज्ञान है, पवन की जगह ध्यान है, और जहाज चारित्र है । इस प्रकार ज्ञान, ध्यान और चारित्र, इन तीनों के मेल से भव्य जीव संसार-समुद्र से पार उतर जाते हैं[4] ।"

एक बात यह भी है कि 'अनन्ताः सामायिक सिद्धाः' अर्थात् सामायिक[5] चारित्र से अनन्त जीव सिद्ध हो गये हैं । इस कथन से भी सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनादि का समष्टि रूप मोक्ष का कारण है क्योंकि मोक्ष समता भाव रूप चारित्र, ज्ञान से सम्पन्न आत्मा को ही तत्त्वश्रद्धानपूर्वक हो सकता है ।[6]

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जहाँ कहीं 'ज्ञान' मात्र को मोक्ष

---

१. उपासकाध्ययन, १।२१ ।

२. (क) तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।४९, पृ० १४ । (ख) सम्मतितर्कप्रकरण, २।६९ ।

३. सर्वार्थसिद्धि, उत्थानिका, पृ० ३ ।

४. मूलाचार, गाथा ८९८ । और भी देखें गाथा ८९९ ।

५. समस्त पाप योगों से निवृत्त होकर अभेद समता और वीतराग में प्रतिष्ठित होना सामायिक चारित्र है ।

६. तत्त्वार्थवार्तिक, १।१।४९, पृ० १४ ।

कहा गया है, उसका तात्पर्य ही यह है कि सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के मार्ग हैं। कहा भी है—'वास्तव में, सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के हेतु हैं। जीवादि पदार्थों के श्रद्धान स्वभाव रूप ज्ञान का परिणमन होना सम्यग्दर्शन है। उन पदार्थों के स्वभाव स्वरूप ज्ञान का परिणमन करना सम्यग्ज्ञान है और उस ज्ञान का ही रागादि के परिहार स्वभाव स्वरूप परिणमन करना सम्यग् चारित्र है।'[1] उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शनादि ज्ञान के ही परिणाम हैं, इसीलिए ज्ञान से मोक्ष होना बतलाया गया है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहीं-कहीं सम्यग्दर्शनादि के अतिरिक्त 'तप' को भी मोक्ष का कारण माना है।[2] लेकिन तप का अन्तर्भाव चारित्र में हो जाने के कारण उमास्वामी आदि आचार्यों ने 'तप' का अलग से उल्लेख नहीं किया है। सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के परम कारण होने से ही जैन दार्शनिकों ने इन्हें रत्नत्रय कहा है।

जैन-दार्शनिक मुक्तात्माओं का किसी शक्ति में विलीन होना नहीं मानते हैं। समस्त मुक्त आत्माओं की स्वतन्त्र सत्ता रहती है। मोक्ष में प्रत्येक आत्मा अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त है, इसलिए इस दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है। क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक-बोधित बुद्ध-बोधित, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, अल्प-बहुत्व की अपेक्षा जो मुक्त आत्माओं में भेद की कल्पना की गयी है, वह सिर्फ व्यवहार नय की अपेक्षा से की गयी है, वास्तव में उनमें भेद करना सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दार्शनिकों ने मोक्ष का स्वरूप और उसके प्राप्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्म, तर्कसंगत और वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। उपर्युक्त मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया द्वारा ही साधक अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

१. समयसार, आत्मख्याति टीका।

२. दर्शनपाहुड, गा० ३०।

उपसंहार

जैसा कि हमने भूमिका में कहा है भारतीय दर्शन में आत्म-तत्त्व का विश्लेषण मुख्यतया मोक्षवाद की दृष्टि से किया गया है। इसके फलस्वरूप कुछ वैदिक दर्शनों में आत्मा और जीव का भेद करते हुए जीव-तत्त्व को कम महत्त्व दिया गया है। इन दर्शनों के अनुसार मोक्षावस्था में आत्मा जीव-भाव से मुक्त हो जाती है, किन्तु जैन दर्शन में आत्मा और जीव में भेद नहीं किया गया है।

जहाँ तक आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न है, वैदिक तथा जैन दार्शनिकों ने प्रायः समान तर्क दिये हैं। चार्वाक तथा बौद्धों की आलोचना में भी उक्त दर्शन-पद्धतियों में समानतायें हैं, किन्तु मोक्ष के स्वरूप एवं प्रक्रिया को लेकर वैदिक-दर्शनों एवं जैन-दर्शन में दूरगामी विभिन्नताएँ हैं।

अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में आचार्य शंकर ने केवल बौद्ध और जैन दर्शन का ही नहीं, अपितु वैशेषिक, सांख्य आदि हिन्दू दर्शनों का भी सशक्त खण्डन किया है। यों मोक्षवाद की दृष्टि से अद्वैत वेदान्त और सांख्य में पर्याप्त समानता है, दोनों यह मानते हैं कि बन्ध और मोक्ष आत्मा के मूल रूप को नहीं छूते, उनकी प्रतीति या अध्यास अविवेक के कारण है। यह मान्यता जैन दार्शनिक कुन्दकुन्द में भी किसी सीमा तक पायी जाती है। वे यह मानते हैं कि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा बन्धन और मुक्ति के परे है। यद्यपि व्यवहारनय या वैभाविक दृष्टि से वे आत्मा के बन्धन-मोक्ष को स्वीकार करते हैं। शंकर ने सांख्य का खण्डन मुख्यतया उसके प्रकृति के कारणत्व को लेकर किया है। सांख्य जगत् का कारण प्रकृति को मानता है, जबकि अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को। किन्तु दोनों के मोक्ष-वाद में गहरी समानता है। बन्धन, मोक्ष, सुख-दुःखादि मनोदशायें मूल आत्म-तत्त्व में नहीं हैं। इसे प्रमाणित करने के लिए सांख्य तथा वेदान्त तर्क देते हैं कि कोई वस्तु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकती—उष्णता को छोड़कर अग्नि की सत्ता सम्भव नहीं है। यदि सुख-दुःख, बन्धनादि आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं तो वह उनसे कभी छुटकारा नहीं पा सकेगा। शंकर कहते हैं कि यदि ज्ञान बन्धन को काटता है तो बन्धन को अतात्विक मानना पड़ेगा। ज्ञान यथार्थ को प्रकाशित करता है, वह उसे नष्ट नहीं कर सकता। माया रूप बन्धन ही ज्ञान से नष्ट हो सकता है, असली बन्धन नहीं। इसलिए आत्मा को मूलतः शुद्ध-बुद्ध मानना चाहिए। दूसरे, यदि हम वैशेषिकों की भाँति आत्मा में सुख,

दुःख, इच्छा, राग, द्वेष आदि मानें तो आत्मा अनित्य हो जायेगा। क्योंकि हर विकारी पदार्थ अनित्य होता है। इसी तर्क के बल पर शंकर आदि दार्शनिक जैन सम्मत आत्मा की धारणा की आलोचना करते हैं। पुनर्जन्म और मोक्ष की सम्भावना के लिए नित्य आत्मा की आवश्यकता है। इसलिए जैन-दर्शन की यह धारणा कि आत्मा अस्तिकाय—प्रदेशवान् है और शरीर के अनुरूप उसका आकार घटता-बढ़ता है, वैदिक दार्शनिकों को विशेषतः सांख्य एवं वेदान्त के अनुयायियों को विचित्र और अग्राह्य जान पड़ती है।

इसमें सन्देह नहीं कि उपरोक्त व्याप्ति को अर्थात् जो-जो विकारी है वह-वह अनित्य है, स्वीकार कर लेने पर जैन सम्मत आत्मा या जीव की नित्यता को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। लेकिन सांख्य-वेदान्त की आत्मा सम्बन्धी धारणा भी निर्दोष नहीं है। प्रश्न यह है कि निर्गुण, निष्क्रिय आत्मा या पुरुष हमारे अनुभवगम्य चेतन जीवन की व्याख्या कैसे कर सकते हैं? प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सांख्य-वेदान्त की आत्मा को न माना जाय और चार्वाक तथा बौद्धों की भांति चैतन्य को जड़ तत्त्वों से उत्पन्न (मनोधर्म की भांति) मान लिया जाय तो क्या हर्ज है? यहाँ समस्या यह है कि पूर्णतः अनित्य आत्मवाद में बन्धन-मुक्ति एवं पुनर्जन्म की व्याख्या सम्भव नहीं है।

इस दृष्टि से जैनदर्शन की आत्मा की अवधारणा उतनी असंगत नहीं है। आत्मा नित्य होते हुए भी विकारी या परिवर्तनशील और देशगत हो, यह मन्तव्य अनुचित नहीं जान पड़ता।

देकार्त ने आत्मा का व्यावर्तक गुण चिन्तन शक्ति या सोचना माना था। जैनदर्शन के आलोचकों का कहना है कि सोचने की क्रिया देश में घटित नहीं होती। इसलिए हम दो विचारों या मनोदशाओं की लम्बाई, चौड़ाई, वजन आदि की तुलना नहीं करते। हाथी का प्रत्यय या विचार आकार में चींटी के प्रत्यय या विचार से बड़ा नहीं होता। इस दृष्टि से जैन-दर्शन की प्रदेशवान् आत्मा की धारणा दोषपूर्ण जान पड़ती है। इसी से सम्बन्धित जैन-दर्शन का यह सिद्धान्त कि कर्म पुद्गल आत्मा में प्रवेश कर जाता है या उससे चिपक जाता है—समीचीन नहीं जान पड़ता। अच्छे, बुरे कर्मों को परमाणुओं की गति से संकेकित करना समझ में आने वाली बात नहीं है। कर्म विशेष की अच्छाई, बुराई का सम्बन्ध अच्छे-बुरे संकल्पों से अधिक होता है न कि भौतिक गतियों मात्र से।

तो क्या जैन दर्शन का सिद्धान्त एकदम ही निराधार है? वस्तुतः ऐसा नहीं है। आधुनिक काल की फिजियोलोजिकल साइकालोजी उक्त सिद्धान्त को

बहुत कुछ समर्थन देती है। फिजियोलोजीकल साइकालोजी के अनुसार हमारे चिन्तन आदि मनोविकारों का मस्तिष्क अथवा स्नायुमण्डल की क्रियाओं से गहरा सम्बन्ध होता है। जैन दर्शन का आत्मवाद भी चित् और अचित् (कर्म) के बीच ऐसा ही सम्बन्ध मानता है। इस सिद्धान्त को मानने का अर्थ चेतनामय जीवन के आधारभूत आत्म-तत्त्व को नकारना नहीं है, जैसा कि चार्वाक ने किया है। विचार और संकल्प के भौतिक आधार को स्वीकार करना आत्मवाद के विरुद्ध नहीं है। आत्मवाद के परित्याग का अर्थ नैतिकता, धर्म और मोक्षवाद का परित्याग होगा। जो अन्ततः हमें भौतिकवाद के दुश्चक्र में फँसा देगा।

वैदिक दर्शन का कूटस्थ आत्मवाद भी जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की व्याख्या करने में असमर्थ है। बौद्धों का आत्मवाद भी सन्तोषप्रद नहीं है। वह व्यक्तित्व की एकता, स्मृति आदि की व्याख्या नहीं कर सकता। बौद्ध मत में यह भी समझना-समझाना कठिन हो जाता है कि दुःखों से किसे छुटकारा मिलता है और मुक्ति किसे मिलती है ? इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क की कसौटी पर निर्विकार कूटस्थ आत्मा की अवधारणा तथा विकारी क्षणिक आत्मा की अवधारणा कोई भी समीचीन नहीं है। इस दृष्टि से जैन दर्शन का परिणामी आत्मवाद का सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक तथा तर्कसंगत है।

सांख्य, वेदान्त आदि इस पूर्व मान्यता को लेकर चलते हैं कि जो-जो विकारी है, वह अनित्य है। किन्तु यदि हम भौतिक जगत् को देखें तो यह मान्यता उतनी प्रामाणिक नहीं जान पड़ती। भौतिक जगत् के मूलभूत तत्त्व, जैसे विद्युत एवं अणु गतिशील एवं परिवर्तनशील होते हुए भी नित्य कहे जा सकते हैं। न्याय-वैशेषिक यह मानते हैं कि परमाणुओं में रंगादि का परिवर्तन होता है, फिर भी परमाणु नित्य समझे जाते हैं। इस दृष्टि से जैनदर्शन का आत्मवाद स्पिनोजा के सिद्धान्त के निकट है। स्पिनोजा मानता है कि विचार (Thought) और विस्तार (Extension) द्रव्य के धर्म या गुण हैं। नित्य द्रव्य के धर्म होने के नाते वे नित्य हैं। किन्तु प्रत्येक धर्म (Atribute) के प्रकार (Modes) भी होते हैं, जो निरन्तर परिणाम के कार्य हैं। विचार और विस्तार दोनों अपने को विभिन्न प्रकारों में अभिव्यक्त करते रहते हैं। स्पिनोजा का यह सिद्धान्त जैन दर्शन की आत्मा की ज्ञान-पर्यायों से समानता रखता प्रतीत होता है।

जैन दर्शन की यह मान्यता कि मोक्षावस्था में आत्मा निर्विकार हो जाती है असंगत नहीं है। जैन दर्शन हमारे अनुभवगम्य सचेतन जीवन के समझ में आने योग्य विवरण देता है। जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि परिवर्तनमय जीवन की व्याख्या के लिए किसी न किसी तत्त्व को विकारी मानना आवश्यक

है। उपनिषद् सम्मत अद्वैत-वेदान्त तथा सांख्य परिवर्तन का आश्रय अन्तःकरण और बुद्धि को मानते हैं, जबकि जैन दर्शन स्वयं आत्मा में पर्यायों की स्थिति स्वीकार करता है। यों जैन दर्शन भी द्रव्य रूप में आत्मा को ध्रुव या अविनाशी स्वीकार करता है। स्पिनोजा का द्रव्य भी जहाँ द्रव्य रूप में ध्रुव, नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, वहाँ वह विचार और विस्तार नामक धर्मो के पर्यायों के रूप में परिवर्तनशील भी हैं। इस प्रकार जैन दर्शन की आत्म-तत्त्व-मीमांसा उनके अनेकान्तवाद सिद्धान्त के अनुरूप है।

यद्यपि जैन दर्शन एवं स्पिनोजा के मत के विरुद्ध सांख्य-वेदान्त की ओर से यह कहा जा सकता है कि आश्रयभूत द्रव्य में गुणों का परिवर्तन स्वयं उस द्रव्य को परिवर्तनशील या विकारी बना देगा। किन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है—सांख्य-वेदान्त की निष्क्रिय आत्मा भी हमारे चेतनामय जीवन की, जो सतत परिवर्तनशील है, उचित व्याख्या नहीं करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो सांख्य एवं वेदान्त का निष्क्रिय (कूटस्थ) आत्मवाद और न बौद्धों का एकान्त क्षणिकवाद आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में और न उसके बन्धन-मुक्ति आदि के सम्बन्ध में कोई सन्तोषजनक समाधान दे पाता है। यह तो जैन दर्शन की अनेकान्तवादी दृष्टि है जो एकान्त शाश्वतवाद और एकान्त उच्छेदवाद के मध्य आनुभविक स्तर पर एक यथार्थ समन्वय प्रस्तुत कर सकती है तथा नैतिक एवं धार्मिक जीवन की तर्कसंगत व्याख्या कर सकती है।

नैतिक दृष्टि से भी जैन दर्शन का साधना-सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त के ज्ञानमार्ग से अधिक सन्तोषप्रद है। जैन-दर्शन सम्यक्दृष्टि और सम्यक्ज्ञान के साथ सम्यक्चरित्र को महत्त्व देता है और इस प्रकार नैतिक जीवन और अध्यात्म जीवन के बीच एक सामञ्जस्य स्थापित कर देता है।

●

परिशिष्ट १

जैनेतर कोशों में आत्मा के लिए प्रयुक्त विभिन्न नाम :

आत्मा के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द अमरकोश, मेदिनी आदि संस्कृत कोशों में उपलब्ध होते हैं। इनमें आत्मा, यत्न, धैर्य, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म, परमात्मा, शरीर, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, मन, चेतना, जीव, स्व, पर ब्रह्म, सार, अहंकार, स्वरूप, विशेषता, प्राकृतिक प्रवृत्ति, चिन्तन, विवेक, बुद्धि या तर्कना शक्ति, प्राण, उत्साह, पुत्र, सूर्य, अग्नि और वायु[1] शब्द आत्मा के वाचक बतलाये गये हैं।

जैन-शास्त्रों में आत्मा के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्द :

जीव या आत्मा को जैनागमों में विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। आदिपुराण में आत्मा के लिए जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा, ज्ञ और ज्ञानी पर्यायवाची नाम बतलाये गये हैं।[2] इसी प्रकार धवला में भी जीव, कर्ता, वक्ता, प्राणी, भोक्ता, पुद्गल, वेद, विष्णु, स्वयंभू, शरीरी, मानव, सक्ता,

---

१—[क] आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ॥
—अमरकोष, ३।३।१०६।

[ख] क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः। वही, १।४।२६।
आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि। चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च ॥—इति धरणिः।

[ग] आत्मा पुंसि स्वभावेऽपि प्रयत्नमनसोरपि।
धृतावपि मनोषायां शरीरब्रह्मणोरपि ॥—इति मेदिनी, ८५।३८-३९।

[घ] क्षेत्रज्ञावात्मनिपुणौ।—इति हैमः, ३।१५०।
आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे।
परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः ॥ स्वभावे इति हैमः, ३।२६१-६२।

[ङ] हिन्दी शब्द सागर, प्र० भा०, प्र० सं०, १९६५, पृ० ४३७।

[च] दार्शनिक त्रैमासिक, सम्पादक—यशदेव शल्य, वर्ष २१, अंक २, अप्रैल १९७५, पृ० १२४।

२—जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा।
पुमानात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः ॥
—आदिपुराण (महापुराण), २४।१०३।

जन्तु, मानी, मायी, योगी, संकुट, असंकुट, क्षेत्रज्ञ और अन्तरात्मा आदि नामों का उल्लेख किया गया है।[1]

१. जीव—आत्मा को जीव कहा जाता है, क्योंकि वह व्यवहार नय की अपेक्षा दस प्राणों से और निश्चय नय की अपेक्षा केवल ज्ञान और दर्शन रूप चित्प्राणों से वर्तमान काल में भी जीवित है, भूतकाल में जीवित था और अनागत काल में भी जीवित रहेगा।[2] द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि आगमों में 'जीव' शब्द की यही व्याख्या उपलब्ध है। यद्यपि सिद्धों में पाँच इन्द्रिय, मनोवल, वचनवल, कायवल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये प्राण नहीं होते हैं, किन्तु पूर्व जन्मों में वे इन प्राणों सहित जीवित थे, इसलिए वे भी जीव कहलाने योग्य हैं। इसके अलावा ज्ञान दर्शन में भावप्राण होने से निश्चय नय से सिद्ध जीव हैं ही।[3]

२. प्राणी—आत्मा को प्राणी भी कहा जाता है, क्योंकि स्पर्शनादि पाँच इन्द्रिय, मनोवल, वचनवल और कायवल ये तीन वल, आयु एवं श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण जीव में होते हैं।[4]

३. जन्तु—आत्मा को जन्तु भी कहा जाता है, क्योंकि वह अनेक वार चतुर्गतियों में तथा अनेक योनियों में जन्म धारण करके संसार में उत्पन्न होता है। इसलिए संसारी जीव (आत्मा) जन्तु कहलाता

१—जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।
वेदो विण्हू सयंभू य सरीरी तह माणवो॥
सत्ता जंतू य माणी य माई जोगी य संकडो।
असंकडो य खेत्तण्हू अंतरप्पा तहेव य॥
—षड्खंडागम धवला टीका, १।१।१।२।८१-८२।

२—आदिपुराण (महापुराण), २४।१०४।

३—द्रव्यसंग्रह, भाग २। पंचास्तिकाय, गा० ३०। प्रवचनसार, गा० २।५५। सर्वार्थसिद्धि, २।८। तत्त्वार्थराजवार्तिक, १।४।६। जीवति प्राणान्धारयति इति जीवः—मूलाराधना विजयोदया टीका, १।४०।

४—[क] नयद्वयोक्त प्राणाः सन्त्यास्येति प्राणी। गोम्मटसार (जीवकाण्ड), जीवप्रबोधिनी टीका, ३३६।
[ख] प्राणा दशास्य सन्तीति प्राणी……।—आदिपुराण (महापुराण) २४।१०५।

है। किन्तु निश्चय नय से शुद्धात्मा अजन्तु है, क्योंकि मुक्त आत्मा को संसार में जन्म धारण नहीं करना पड़ता है।[1]

४. क्षेत्रज्ञ—आत्मा को क्षेत्रज्ञ भी कहा जाता है। जीव का स्वरूप क्षेत्र कहलाता है और वह अपने स्वरूप एवं लोकालोक रूप क्षेत्र को जानता है, इसलिए वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।[2]

५. पुरुष—आत्मा पुरु अर्थात् स्वादिष्ट या सुन्दर भोगों में प्रवृत्ति करता है, इसलिए वह पुरुष भी कहलाता है।[3]

६. पुमान्—आत्मा को पुमान् इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह अपने आप को तप आदि के द्वारा पवित्र करता है, इसलिए वह पुमान् कहलाता है।[4]

७. आत्मा—संसारी जीव नरकादि अनेक पर्यायों में सदैव गमन करता रहता है, इसलिए वह आत्मा कहलाता है। दूसरी बात यह है कि सभी गमनात्मक धातुएँ ज्ञानात्मक अर्थ में भी प्रयुक्त होती हैं। अतः ज्ञान सुखादि गुण रूप परिणमन करने वाला तत्त्व आत्मा कहलाता है अथवा मन, वचन, काय की क्रिया द्वारा यथासम्भव तीव्रादि रूप से वर्तने वाला तत्त्व आत्मा है।[5]

८. अन्तरात्मा—संसारी आत्मा को अन्तरात्मा भी कहते हैं, क्योंकि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के भीतर वह रहता है।[6]

९. ज्ञ—ज्ञान गुण से युक्त है, इसलिए जीव को 'ज्ञ' भी कहा गया है। इसी कारण इसे ज्ञानी भी कहते हैं।[7]

१०. वक्ता—संसारी जीव को वक्ता भी कहते हैं, क्योंकि वह

१—[क] व्यवहारेण चतुर्गतिसंसारे नानायोनि जायतः इति जंतु संसारीत्यर्थं। निश्चयेन जन्तुः। गोम्मटसार (जीवकाण्ड),जीवप्रबोधिनी टीका, ३३६।
[ख] जन्तुश्च जन्मभाक्।—आदिपुराण (महापुराण), २४।१०५।

२—क्षेत्रं स्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात् स तथोच्यते।—वही, २४।१०५।

३—पुरुषः पुरुभोगेषु शयनात् परिभाषितः।—वही, २४।१०६।

४—पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते।—आदिपुराण, २४।१०६।

५—भवेष्वतति सातत्याद् एतीत्यात्मा निरुच्यते।—वही, २४।१०७। द्रव्य-संग्रह टीका, गा० ५७।

६—आदिपुराण, २४।१०७।

७—वही, २४।१०८।

सत्य या असत्य, योग्य-अयोग्य वचनों को बोलता है। किन्तु निश्चय नय की अपेक्षा वह वक्ता नहीं है।[1]

११. पुद्गल—संसारी जीव को पुद्गल भी कहा जाता है, क्योंकि व्यवहार रूप से कर्म और नोकर्म पुद्गलों को अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म और शरीरों के माध्यम से छह प्रकार के संस्थानों को पूर्ण करता है अर्थात् गलाता है। बौद्ध दर्शन में भी आत्मा को पुद्गल कहा गया है।[2]

१२. वेद—जीव सुख-दुःख का वेदन करता है, जानता है, अनुभव करता है, इसलिए वह वेद कहलाता है।[3]

१३. विष्णु—व्यवहार की अपेक्षा कर्मों के प्राप्त देह को या समुद्घात अवस्था में समस्त लोक को व्याप्त कर लेता है एवं निश्चय नय से समस्त ज्ञान से व्याप्त होता है, इसलिए वह विष्णु कहलाता है।[4]

१४. स्वयम्भू—जीव को स्वयंभू भी कहा गया है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति का कोई अन्य कारण नहीं है। वह स्वयं ज्ञानदर्शन स्वरूप से परिणत होता रहता है।[5]

१५. शरीरी—जीव को शरीर भी कहा जाता है, क्योंकि वह औदारिकादि शरीरों को आधार बनाकर उसमें रहता है। उपनिषद् में भी अनेक जगह जीवात्मा को शरीरी कहा गया है।

१६. मानव—संसारी जीव को मानव भी कहा जाता है, क्योंकि वह मानवादि पर्यायों में परिणत होता रहता है। किन्तु निश्चय नय की अपेक्षा मनुष्यादि पर्यायों में परिणत होने के कारण जीव को मानव नहीं कहा गया है, किन्तु मनु ज्ञान को कहते हैं और ज्ञान

१—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवप्रबोधिनी टीका, ३३६।

२—वही, ३३६।

३—वही, ३३६।

४—व्यवहारेण स्वोपात्त देहं समुद्घते सर्वलोकं, निश्चयेन ज्ञानेन सर्वं वेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः। वही, ३३६।

५—वही, ३३६।

उसमें उत्पन्न होता है या उसमें परिणत होता है, इसलिए वह मानव कहलाता है।[1]

१७. मायी—जीव में माया कषाय होती हैं, जिससे वंचना आदि करता है, इसलिए वह मायावी कहलाता है।

१८. योगी—काय, वाङ् और मन ये तीन योग जीव में होते हैं, इसलिए उसे योगी कहा गया है।

१९ संकुट—अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थात् सर्वजघन्य शरीर से प्राप्त होने पर जीव प्रदेशों को संकुचित करके उसमें रहता है, इसलिए वह संकुट कहलाता है।[2]

२०. असंकुट—समुद्घात अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त कर लेता है, इसलिए वह असंकुट कहलाता है।[3]

२१. सक्ता—संसारी जीव अपने सगे सम्बन्धी, मित्रों तथा परिग्रह आदि में आसक्त रहता है, इसलिए संसारी जीव को सक्ता भी कहते हैं।[4]

२२. अग्र—आत्मा अग्र भी कहलाती है। अग्र शब्द का निरुक्त अर्थ गमन करना या जानना है। आत्मा ही ज्ञाता है, इसलिए वह अग्र कहलाती है। दूसरी बात यह है कि छह द्रव्यों, सात तत्त्वों में तथा नव पदार्थों में आत्मा अग्र है अर्थात् प्रधान है, इसलिए वह अग्र कहलाती है।[5]

२३. समय—आत्मा को जैन आचार्यों ने समय कहा है। अमृत-चन्द्र सूरि ने कहा है 'जीव नामक पदार्थ समय है। जो एकत्व रूप से

१—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) जीवप्रबोधिनी टीका, ३३६।

२—व्यवहारेणं सूक्ष्मनिगोद लब्धप्रर्याप्तक सर्वजघन्य शरीर प्रमाणेन संकुटति संकुचित प्रदेशोभवतीति संकुटः।—वही० ३३६।

३—वही, ३३६।

४—व्यवहारेणं स्वजनमित्रादि परिग्रहेषु सजतीति सक्ता, निश्चयेनासक्ता। —वही, ३३६।

५—अयवाङ्गति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः—तत्त्वानुशासन : नागसेन-मुनि, ६२; तत्त्वार्थवार्तिक, ९, २७, २१।

एक ही समय में जानता तथा परिणत होता है, वह समय है।'[1] आचार्य जिनसेन ने समयसार तात्पर्य वृत्ति में लिखा है–'सम्यग् अर्थात् संशय आदि रहित ज्ञान जिसका होता है, वह जीव समय है।'[2] पं० जयचन्द छाबड़ा ने भाषा वचनिका में लिखा है कि 'सम' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एक साथ' है और 'अय गतौ' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है, इसलिए एक साथ ही जानना और परिणमन करना–यह दोनों क्रियाएँ जिसमें हों, वह समय है। यह जीव नामक पदार्थ एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है, इसलिए वह समय है।[3]

●

१—समयसार, आत्मख्याति टीका, गा० २।

२—वही, तात्पर्यवृत्ति, गा० १५१।

३—समयसार, गा० २।

परिशिष्ट २

अन्तर्मुहूर्त : मुहूर्त से कम और आवली से अधिक अन्तर्मुहूर्त कहलाता है।

अक्ष : अक्ष का अर्थ आत्मा होता है, जो यथायोग्य सर्वपदार्थों को जानता है, उसे अक्ष या आत्मा कहते हैं।

अगाढ़ : यह सम्यग्दर्शन का एक दोष है। वृद्ध आदमी के हाथ में रहती हुई लाठी के कम्पन की तरह क्षयोपशम सम्यग्दर्शन देवगुरु और तत्त्वादि की श्रद्धा में स्थित रहते हुए संशय करना (सकम्प होना) अगाढ़वेदक सम्यग्दर्शन कहलाता है।

अगारी : अणुव्रती श्रावक अगारी कहलाता है।

अज्ञान : जैनागमों में अज्ञान शब्द के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं—(१) ज्ञान के अभाव में यह कर्म के उदय से होता है, इसलिए इसे औदायिक अज्ञान कहते हैं। (२) मिथ्या-ज्ञान के अर्थ में यह क्षायोपशमिक अज्ञान कहलाता है।

अचेतन : जो पदार्थों को स्वयं नहीं जानता है, वह अचेतन गुण कहलाता है।

अतिचार : व्रत के एक अंश का खण्डित होना अतिचार कहलाता है।

अध्यात्म : आत्मा सम्बन्धी अनुष्ठान या आचरण अध्यात्म है और जिस शास्त्र में आत्मतत्त्व सम्बन्धी व्याख्यान हो, वह अध्यात्म शास्त्र कहलाता है।

अनन्त : जिसका अन्त नहीं है, वह अनन्त है।

अनगार : उत्तम संयम (चारित्र) वाले मुनि को जैनागम में अनगार या अनगारी कहते हैं।

अनाचार : विषयों में अत्यन्त आसक्ति रखना अनाचार है।

अनाहारक : उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण न करना अनाहारक है।

अनिन्द्रिय : जिसके इन्द्रियाँ नहीं होती हैं, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं।

अनुयोग : जैनागम चार भागों में विभक्त है, जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग, और (४) द्रव्यानुयोग।

अनुयोगद्वार : अर्थ के जानने का उपायभूत अधिकार अनुयोगद्वार कहलाता है।

अनेकान्त : एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्म युगलों का प्रतिपादन करना अनेकान्त है।

अर्हन्त : कर्मों का विनाश करके परमात्मा बनने की पहली (जीवनमुक्त) अवस्था को जैनागम में अर्हन्त कहते हैं।

अलोक : लोक के अतिरिक्त अनन्त आकाश अलोकाकाश कहलाता है।

अवगाहना : जीवों के शरीर की ऊँचाई-लम्बाई आदि को अवगाहना कहते हैं।

अवर्णवाद : गुणवाले महान् पुरुषों में जो दोष नहीं हैं, उनको उन दोषों से युक्त कहना अवर्णवाद कहलाता है।

असत् : जो अविद्यमान हो।

अहिंसा : मन, वचन और काय से किसी जीव को किंचित् भी दुःख न देना तथा उसको पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है।

आकाश : खाली जगह को आकाश कहते हैं। जैनदर्शन में यह एक व्यापक, अखण्ड, निष्क्रिय और अमूर्त द्रव्य माना जाता है। यह समस्त द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देता है।

आगम : आचार्य परम्परा से आगत मूल सिद्धान्तों का जिसमें कथन हो, वह आगम कहलाता है।

आत्माश्रय : स्वयं अपने लिए अपनी अपेक्षा करना आत्माश्रय नामक दोष है।

आबाधा : कर्म का बंध हो जाने के बाद जितने समय तक वह उदय या उदीरणा को प्राप्त नहीं होता, उतने काल का नाम आबाधा काल है।

आम्नाय : शुद्ध उच्चारण द्वारा पाठ को बार-बार दोहराना आम्नाय है।

आवली : काल का एक प्रमाण विशेष। जघन्य युक्तासंख्यात समयों की एक आवली होती है।

ईर्यापथ : ईर्या का अर्थ योग है। जिन कर्मों का आस्रव होता है लेकिन बन्ध नहीं होता, बल्कि बिना फल दिये ही जो

कर्म दूसरे क्षण में झड़ जाते हैं, उन्हें ईर्यापथ कर्म कहते हैं।

उत्सेधांगुल : क्षेत्र प्रमाण का एक भेद। ८ लीख का एक जूं, ८ जूं का एक यव और ८ यव का एक उत्सेधांगुल होता है।

उपयोग : चेतना की परिणति विशेष का नाम उपयोग है।

ऋद्धि : तपश्चरण के प्रभाव से कदाचित् किन्हीं योगियों को प्राप्त होने वाली चमत्कारिक शक्तियां विशेष ऋद्धि कहलाती हैं। ये अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघाती, अन्तर्धान काम, रूपित्व आदि अनेक प्रकार की हैं।

करण : जीव के शुभ-अशुभ आदि परिणाम करण कहलाते हैं। अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण तीन करण होते हैं, जो उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं।

कार्मण शरीर : समस्त कर्मों का आधार भूत कार्मण शरीर कहलाता है।

काल : पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श से रहित, अगुरुलघु, अमूर्त और वर्तना लक्षण वाला काल कहलाता है।

क्षय : कर्मों के समूल नाश को क्षय कहते हैं।

क्षेत्र : स्थान को क्षेत्र कहते हैं।

गर्हा : गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करना गर्हा है।

गव्यूति : यह क्षेत्र का एक प्रमाण है। इसको कोश भी कहते हैं। २००० दण्ड (धनुष) का एक कोश होता है।

घनांगुल : क्षेत्र का प्रमाण विशेष। प्रतरांगुल को दूसरे सूच्यंगुल से गुणित करने पर घनांगुल होता है।

चित्त : आत्मा का चैतन्य विशेष रूप परिणाम चित्त कहलाता है।

चेतना : जिस शक्ति के होने से आत्मा, ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता होता है, वह चेतना है। यह जीव का स्वभाव है।

धनुष : धनुष क्षेत्र का एक प्रमाण है। इसे दण्ड, युग, मुसल, नालिका एवं नाड़ी भी कहते हैं। चार हाथ प्रमाण माप का धनुष होता है।

नय : वक्ता का अभिप्राय विशेष नय कहलाता है। यह वस्तु के एक देश का ज्ञान कराता है।

निग्रह : स्वच्छन्द प्रवृत्ति को रोकना निग्रह है।

निह्नव : ज्ञान का अपलाप करना निह्नव है।

पल : काल का प्रमाण विशेष पल है। २४ सेकेण्ड का एक पल होता है।

पल्य : एक योजन गोल गहरे गड्ढे में १-७ दिन तक के उत्पन्न भेड़ के बच्चे के बालों के अग्र कोटियों से भर कर सौ-सौ वर्ष में एक-एक बाल के अग्र भाग के निकालने में जो काल लगता है, उतने काल को पल्य कहते हैं।

पुण्य : दया, दानादि रूप शुभ परिणाम पुण्य कहलाता है।

पुद्गल : भेद और संघात से पूरण और गलन को प्राप्त होने वाला पदार्थ पुद्गल कहलाता है।

प्रदेश : एक परमाणु जितना स्थान घेरता है, उसे प्रदेश कहते हैं।

प्रमाणांगुल : यह क्षेत्र प्रमाण का एक भेद है। ५०० उत्सेधांगुल का १ प्रमाणांगुल होता है।

मात्सर्य : दान करते हुए भी आदर का न होना या दूसरे दाता के गुणों को न सह सकना मात्सर्य है।

मुहूर्त : ३७७३ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है अथवा ४८ मिनट (दो घड़ी) का एक मुहूर्त होता है।

विभाव : कर्मों के उदय से होने वाले जीव के रागादि विकारी भावों को विभाव कहते हैं।

वीतराग : जिनके राग का विनाश हो गया है, उसे वीतराग कहते हैं।

संयत : बहिरंग और अन्तरंग आस्रवों से विरत रहने वाला महाव्रती श्रमण संयत कहलाता है।

सागरोपम : क्षेत्र प्रमाण का एक भाग।

सूच्यंगुल : क्षेत्र प्रमाण का एक भेद है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. अकलंक ग्रन्थत्रयम् : भट्टाकलंकदेव; सम्पादक—पं० महेन्द्र कुमार; प्रकाशक-सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद; प्रथमावृत्ति; वि० सं० १९९६ ।

२. अथर्ववेद : सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य; संस्कृति संस्थान, बरेली; द्वितीय संस्करण; १९६२ ।

३. अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पं० राजमल्ल जी; सम्पादक—पं० दरबारीलाल कोठिया, पं० परमानन्द जैन; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला—सहारनपुर; प्रथमावृत्ति; सन् १९४४ ।

४. अध्यात्म रहस्य (हिन्दी व्याख्या सहित) : पं० आशाधर; सम्पादक—पं० जुगुलकिशोर मुख्तार; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; सन् १९५७ ।

५. अमरकोष : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

६. अमितगति श्रावकाचार (हिन्दी अनुवाद सहित) : सम्पादक—पं० वंशीधर; शोलापुर; प्रथम संस्करण; वि० सं० १९७९ ।

७. अष्टपाहुड़ (हिन्दी वचनिका सहित) : कुन्दकुन्दाचार्य; प्रकाशक-अनन्तकीर्ति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई; प्रथम संस्करण; १९१६ ।

८. अष्टशती (अष्टसहस्री के अन्तर्गत) : भट्टाकलंक देव ।

९. अष्टसहस्री : विद्यानन्द स्वामी; सम्पादक—वंशीधर; प्रकाशक—गांधी नाथारंग जी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई; सन् १९१५ ।

१०. आउट लाइन्स आफ जैनिज्म : जे० एल० जैनी, कैम्ब्रिज; १९१६ ।

११. आचारांगसूत्र : प्रथम श्रुतस्कन्ध; (हिन्दी अनुवाद सहित) : अनुवादक—पं० मुनि श्री सौभाग्यमल जी महाराज; सम्पादक—पं० वसन्ती लाल नलवाया, न्यायतीर्थ; प्रकाशक—जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन; प्रथमावृत्ति; वि० सं० २००७ ।

१२. आगम युग का जैन दर्शन : पं० दलसुख मालवणिया; संपादक—विजयमुनि शास्त्री; प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; प्रथम प्रवेश; जनवरी १९६६ ।

१३. आत्मतत्त्वविचार : श्रीमद्विजयलक्ष्मणसूरीश्वर जी महाराज; सम्पादक—श्री कीर्तिविजय गणिवर; प्रकाशक—बी० बी० मेहता ।

१४. आत्ममीमांसा (हिन्दी विवेचन सहित) : पं० मूलचन्द्र जी शास्त्री; प्रकाशक—श्री शान्तिवीर दि० जैन संस्थान; सन् १९७० ।

१५. आत्म मीमांसा तत्त्वदीपिका : प्रो० उदयचन्द्र जैन; प्रकाशक—श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी; प्रथम संस्करण; वी० नि० सं० २५०१ ।

१६. आत्ममीमांसा : पं० दलसुख मालवाणिया; मुद्रक—रामकृष्ण-दास, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, बनारस; १९५३ ।

१७. आत्मरहस्य : रतनचन्द्र जैन; प्रकाशक—मार्तण्ड उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली; सन् १९४८ ।

१८. आत्मवाद : मुनि फूलचन्द्र श्रमण; सम्पादक—मुनि समदर्शी प्रभाकर; प्रकाशक—आ० श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना ।

१९. आत्मविज्ञान : राजयोगाचार्य स्वामी व्यासदेव जी; प्रकाशक-योग निकेतन ट्रस्ट, गंगोत्तरी, उत्तरकाशी. स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (उत्तराखण्ड); १९६४ ।

२०. आत्मानुशासन (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : गुणभद्राचार्य; प्रकाशक—इन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकार, जयपुर; श्रुत पंचमी, वी० नि० सं० २४८२ ।

२१. आत्मानुशासन : आचार्य गुणभद्र; प्रकाशक-जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर; वि० संवत् २०१८ ।

२२. आप्तपरीक्षा (हिन्दी अनुवाद-प्रस्तावनादि सहित) : विद्यानन्द स्वामी; सम्पादक और अनुवादक-न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर; प्रथमावृत्ति; वीर नि० सं० २४७६ ।

२३. आप्तमीमांसा : समन्तभद्राचार्य; सम्पादक-पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट; सन् १९६७ ।

२४. आयारो : सम्पादक-मुनि श्रीनथमल; प्रकाशक—जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता; सन् १९६७ ।

२५. आराधनासार : देवसेनाचार्य; सम्पादक—टी० रत्नकीर्ति देव; जैन धर्मशाला, प्रयाग; सन् १९६७ ।

२६. आलापद्धति : देवसेन; मा० दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई; १९२० ।
२७. इष्टोपदेश (संस्कृत-हिन्दी टीका सहित—समाधिशतक के पीछे) : पूज्यपादाचार्य; वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; प्रथम संस्करण; वि० सं० २०२१ ।
२८. ईशावास्योपनिषद्: गीता प्रेस, गोरखपुर ।
२९. उत्तरज्झयणाइं : सम्पादक—मुनि नथमल; प्रकाशन—जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता; १९१६ ।
३०. उत्तराध्ययन सूत्र (अनुवाद सहित) : सम्पादक—साध्वी चन्दना; वीरायतन प्रकाशन, जैन भवन, लोहामंडी, आगरा; सन् १९७२ ।
३१. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण : रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे; प्रकाशक—राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर; १९७१ ।
३२. उपनिषद्वाक्य कोश : जी० जैकोबी; प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६३ ।
३३. उपनिषद्स (अंग्रेजी अनुवाद सहित) : संपादक—के० पी० बहादुर; प्रकाशक न्यू लाइट पब्लिशर्स, सालवन स्कूल मार्ग, ओल्ड राजेन्द्रनगर, नई दिल्ली; १९७२ ।
३४. ऋग्वेद : सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य; संस्कृति संस्थान, बरेली; द्वितीय संस्करण; सन् १९६२ ।
३५. एकादशोपनिषद् : सम्पादक—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार; प्रकाशक—विजय कृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, विद्या विहार, ४ बलबीर एवेन्यु, देहरादून ।
३६. एतरेय उपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।
३७. कठोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।
३८. कर्मग्रन्थ : देवेन्द्र सूरि; प्रकाशक—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर; १९३४-४० ।
३९. कर्मवाद और जन्मांतर : हीरेन्द्रनाथ दत्त; हिन्दी अनुवादक—लल्ली प्रसाद पाण्डेय; प्रकाशक—इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; वि० सं० १९८६ ।
४०. कल्याण : पुनर्जन्म विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

४१. कषाय पाहुड़ (सूत्र और चूर्णि सहित) : यतिवृषभ; वीर शासन संघ, कलकत्ता; १९५५ ।
४२. कषाय पाहुड़ (जयधवला टीका सहित) : गुणधर; जैन संघ, मथुरा; १९४४ ।
४३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा (संस्कृत-हिन्दी टीका सहित) : स्वामी कार्तिकेय; सम्पादक–आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये; प्रकाशक–परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, अगास; प्रथमावृत्ति; वी० सं० २४८६ ।
४४. कुन्दकुन्द प्राभृत : सम्पादक–पं० कैलाशचन्द शास्त्री; प्रकाशक-जीवराज जैन ग्रंथमाला; शोलापुर; प्रथम संस्करण; १९६० ।
४५. कुन्दकुन्द भारती : सम्पादक –पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर; प्रकाशक–श्री श्रुत भण्डार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटन; प्रथम आवृत्ति; सन् १९७० ।
४६. केनोपनिषद्: गीता प्रेस, गोरखपुर ।
४७. कौषीतकी उपनिषद्: गीता प्रेस, गोरखपुर ।
४८. गुणस्थान क्रमारोह : रत्नकेसर सूरि; न० भा० घे० भा०, जवेरी बाजार, बम्बई; सन् १९१६ ।
४९. गोम्मटसार कर्मकाण्ड (हिन्दी अनुवाद सहित) : प्रकाशक—शा० रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई; द्वितीयावृत्ति; वीर निर्वाण सं० २४५४ ।
५०. गोम्मटसार जीवकाण्ड (हिन्दी अनुवाद सहित) : नेमिचन्द्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती; द्वितीयावृत्ति; प्रकाशक—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई; वी० नि० सं० २४५३ ।
५१. गोम्मटसार जीवकाण्ड (जीवतत्त्वप्रदीपिका और मन्द प्रबोधिका टीका सहित) : सम्पादक–पं० गजाधरलाल जैन न्यायतीर्थ और श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ; प्रकाशक–गांधी हरी भाई देवकरण जैन ग्रंथमाला, बम्बई-४ ।
५२. चन्द्रप्रभु चरित्र : वीरनन्दि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई-४ ।
५३. चार्वाक दर्शन समीक्षा : डा० सर्वानन्द पाठक; प्रकाशक–

चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी; प्रथम संस्करण; सन् १९६५ ।

५४. जम्बूद्वीप पण्णत्ति (हिन्दी अनुवाद सहित) : पद्मनन्दि; प्रकाशक–जीवराज जैन ग्रंथमाला, शोलापुर; प्रथम संस्करण; सन् १९५८ ।

५५. जसहरचरिउ : अम्बादास चवरे; प्रकाशक–दि० जैन ग्रंथमाला, कारंजा, बरार; १९३१ ।

५६. जीवाजीवाभिगम सूत्र : प्रकाशक-देवचन्द्र लालाभाई जवेरी, सूरत ।

५७. जैन आचार : मोहनलाल मेहता; प्रकाशक–पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी; १९६६ ।

५८. जैन तत्त्व मीमांसा : पं० फूलचन्द्र सिद्धांतशास्त्री; प्रकाशक–अशोक प्रकाशन मंदिर, भदैनी घाट, वाराणसी ।

५९. जैन दर्शन : डा० महेन्द्र कुमार जैन; सम्पादक और नियामक–पं० फूलचन्द्र शास्त्री तथा दरबारीलाल कोठिया; प्रकाशक—मन्त्रि श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला वाराणसी; प्रथम संस्करण; १९६६ ।

६०. जैन दर्शन : डा० मोहनलाल मेहता; प्रकाशक–सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; १९५९ ।

६१. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा : मुनि नथमल; सम्पादक–मुनि दुलहराज; प्रकाशक—कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक, आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान); परिवर्द्धित संस्करण; १९७३ ।

६२. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान : मुनि श्री नगराज जी; सम्पादक-सोहनलाल; प्रकाशक—रामलाल पुरी; संचालक, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६; सन् १९५९ ।

६३. जैन दर्शन सार : पं० चैनसुखदास; अ० क्षे० म०; प्रथम संस्करण ।

६४. जैन दर्शन-स्वरूप और विश्लेषण : देवेन्द्र मुनि शास्त्री; प्रकाशक-श्री तारक गुरु जैन ग्रंथमाला, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान); प्रथम प्रवेश, १९७५ ।

६५. जैन धर्म : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक–

मंत्री, साहित्य विभाग, मा० वि० जैन संघ, मथुरा; चतुर्थ संस्करण; १९६६।

६६. जैन न्याय : कैलाशचंद्र शास्त्री; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली-६; प्रथम संस्करण; १९६६।

६७. जैन फिलासफी आफ नान एब्सूलूटिज्म : एस० मुखर्जी; कलकत्ता; १९४४।

६८. जैन साइकालोजी : मोहनलाल मेहता; प्रकाशक—सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर; सन् १९५३।

६९. जैन साहित्य का इतिहास (पूर्व पीठिका) : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक-श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, भदैनी, वाराणसी; प्रथम संस्करण; वीर नि० सं० २४८९।

७०. जैनिज्म दि ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन : ज्योतिप्रसाद जैन; प्रकाशक-जैन कल्चर रि० सोसायटी, वाराणसी; १९५१।

७१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भाग १ से ४), जिनेन्द्र वर्णी; प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ; प्रथम संस्करण; सन् १९७०-७३।

७२. ज्ञानार्णव (हिन्दी अनुवाद सहित) : शुभचन्द्राचार्य; प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, रायचंद्र जैन शास्त्रमाला, जवेरी बाजार, बम्बई; वी० नि० सं० २४३३।

७३. ठाणं : सम्पादक-मुनि श्री वल्लभविजय; प्रकाशक-माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद; १९३७।

७४. डाक्ट्रिन आफ द जैनिज्म : वाल्थर सं०; प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; सन् १९३२।

७५. तत्त्वसंग्रह : कमलशील; सम्पादक—द्वारिकादास शास्त्री; प्रकाशक—बौद्ध भारती, वाराणसी; प्रथम संस्करण; १९६८।

७६. तत्त्वानुशासन (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : नागसेन सूरि; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; प्रथम संस्करण; १९६३।

७७. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग १, २ (हिन्दी सार सहित) : भट्ट अकलंकदेव; सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमार जैन; प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथमावृत्ति; वी० नि० सं० २४९९।

७८. तत्त्वार्थवृत्ति (हिन्दी सार सहित) : श्रुतसागर; सम्पादक-महेन्द्र कुमार जैन; प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

७९. तत्त्वार्थश्लोकावार्तिकम् : विद्यानन्दि; सम्पादक–पं० मनोहरलाल; प्रकाशक–गांधीनाथारंग-जैन ग्रन्थमाला, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; वी० नि० सं० २४४४।

८०. तत्त्वार्थसार : अमृतचन्द्र सूरि; सम्पादक—बंशीधर शास्त्री; भा० जै० सि० प्र० सं०, कलकत्ता; वीर सं० २४४५।

८१. तत्त्वार्थसूत्र : सम्पादक—पं० फूलचन्द्र जैन; प्रकाशक–श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी; वी० नि० सं० २४७६।

८२. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी भूमिका और व्याख्या सहित) : पं० सुखलाल संघवी, भारत जैन महामण्डल, वर्धा, प्रथम संस्करण; १९५२।

८३. तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वामी; सम्पादक – पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; प्रकाशक–भारतीय दिगम्बर जैन संघ; प्रथम आवृत्ति; वी० नि० सं० २४७७।

८४. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रं सभाष्य (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : प्रकाशक–श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई–२; सन् १९३२।

८५. तिलोयपण्णत्ति (हिन्दी अनुवाद सहित) : यति वृषभ; प्रकाशक—जीवराज जैन ग्रन्थमाला; प्रथम संस्करण; विक्रम सं० १९९९।

८६. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा : डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य; अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्; प्रथम संस्करण; १९७४।

८७. तैत्तिरीय उपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर।

८८. तर्कभाषा : केशव मिश्र; प्रकाशक–सं० सी०, चौक, वाराणसी।

८९. तर्कसंग्रह : अन्नम भट्ट; प्रकाशक—हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी; सप्तम संस्करण; वि० सं० २०२६।

९०. त्रिलोक सार : नेमिचन्द्र; प्रकाशक—जै० सा०, बम्बई; प्रथम संस्करण; १९१८।

९१. दर्शन और चिन्तन : पं० सुखलाल जी; प्रकाशक—पं० सुख-

लाल जी सम्मान समिति, गुजरात विद्या सयाभद्र, अहमदाबाद; वि० सं० २०१३ ।

९२. दर्शनपाहुड़ : कुन्दकुन्दाचार्य; प्रकाशक—माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, वम्बई; प्रथम संस्करण; वि० सं० १९७७ ।

९३. दर्शनसार : देवसेन; सम्पादक—नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक—माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, प्रथम संस्करण ।

९४. दि माइंड एण्ड स्पिरिट आफ इण्डिया : एन० के० देवराज; प्रकाशक—मोतीलाल वनारसीदास चौक, वाराणसी; प्रथम संस्करण; १९६७ ।

९५. दि हार्ट आफ जैनिज्म : एस० एस०; आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस; १९१५ ।

९६. दीघनिकाय (हिन्दी) : अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन; प्रकाशक—महावोधि सभा, सारनाथ; सन् १९३६ ।
(पालि) सम्पादक—भिक्खु जगदीश कश्यप; प्रकाशक—नवनालन्दा महाविहार, सन् १९५८ ।

९७. द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्राचार्य; प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल; वी० नि० सं० २४३३ ।

९८. धम्मपद : अनुवादक—राहुल सांकृत्यायन; प्रकाशक—महावोधि सभा, सारनाथ; १९३३ ।

९९. धर्मशर्माभ्युदय : हरिश्चन्द्र; सम्पादक—पं० पन्नालाल साहित्याचार्य; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; प्रथम संस्करण; सन् १९५४ ।

१००. धवला (हिन्दी अनुवाद सहित) : वीरसेन; प्रथम संस्करण; अमरावती; १९३९-५९ ।

१०१. नंदीसुतं : सम्पादक—मुनिश्री पुण्यविजय आदि; प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय; सन् १९६८ ।

१०२. नयचक्र : माइल्ल धवल; सम्पादक और हिन्दी टीका व्याख्याकार—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथम संस्करण; सन् १९७१ ।

१०३. नायाधम्मकहाओ : सम्पादक—चन्द्र सागर सूरि; प्रकाशक—साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई; सन् १९५१ ।

१०४. नियमसार : कुन्दकुन्दाचार्य; प्रकाशक–जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग बम्बई; १९१६।

१०५. न्यायकुमुदचन्द्र : प्रभाचन्द्राचार्य (भाग १-२); सम्पादक—पं० महेन्द्रकुमार न्यायशास्त्री; प्रकाशक—मंत्री, श्री नाथूराम प्रेमी, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, गिरगांव, बम्बई-४; प्रथमावृत्ति; वी० नि० सं० २४६४।

१०६. न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य सहित) : सम्पादक—श्री नारायण मिश्र, प्रकाशक–चौखम्भा सं० सीरिज वाराणसी; द्वितीय संस्करण; १९७०।

१०७. न्यायदीपिका : अभिनव धर्मभूषण; सम्पादक और अनुवादक-न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर; प्रथमावृत्ति; मई १९४५।

१०८. न्यायविनिश्चय विवरण : भट्टाकलंक देव; सम्पादक—पं० महेन्द्रकुमार जैन; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथम संस्करण; १९५४।

१०९. न्यायसूत्र : गौतम ऋषि; सम्पादक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य; संस्कृति संस्थान, बरेली; प्रथम संस्करण; १९६४।

११०. न्यायावतार वार्तिक वृत्ति : शान्तिसूरि; सम्पादक—पं० दलसुख मालवणिया; प्रकाशक—सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई; प्रथमावृत्ति; सन् १९४९।

१११. पंचदशी (हिन्दी अनुवाद सहित) : विद्यारण्य मुनि; प्रकाशक–रतन एण्ड कं०, बुक सेलर्स, दरीबा कलाँ, दिल्ली।

११२. पंचसंग्रह (संस्कृत टीका, प्राकृत वृत्ति एवं हिन्दी भूमिका सहित) : प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी; प्रथम संस्करण; सन् १९६०।

११३. पंचसंग्रह (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) : चन्द्रर्षि; प्रकाशक–आगमोदय समिति, बम्बई; १९२७।

११४. पंचाध्यायी (पूर्वार्ध-उत्तरार्ध) : पं० राजमल्ल; सम्पादक—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी।

११५. पंचास्तिकाय (तत्त्वदीपिका तात्पर्यवृत्ति-बालावबोध भाषा

सहित) : कुन्दकुन्दाचार्य; प्रकाशक—रावजी भाई छगन भाई देसाई, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्र माला, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, आगास, तृतीयावृत्ति, वि० सं० २०२५।

११६. पतंजलि योगदर्शन भाष्य : महर्षि व्यासदेव; प्रकाशक—श्री लक्ष्मी निवास चंडक, अजमेर; द्वितीय संस्करण; सन् १९६१।

११७. पद्मनन्दि पंचविंशतिका : पद्मनन्दि; प्रकाशक—जीवराज ग्रन्थमाला; प्रथम संस्करण; सन् १९३२।

११८. पद्मपुराण : रविषेण; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथम संस्करण; वि० सं० २०१६।

११९. परमात्मप्रकाश : (संस्कृत वृत्ति एवं हिन्दी भाषा टीका सहित) : योगीन्दु देव; सम्पादक—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये; प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्र माला, जौहरी बाजार, बम्बई-२; द्वितीय संस्करण; वि० सं० २०१७।

१२०. परीक्षामुख : माणिक्यनन्दि; सम्पादक—मोहनलाल शास्त्री, जबलपुर।

१२१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (हिन्दी अनुवाद सहित) : अमृतचन्द्र सूरि; प्रकाशक—भा० जै० सि० प्र० सं०, कलकत्ता; वी० सं० २४५२।

१२२. प्रकरणपंचिका : शालिकनाथ; प्रकाशक—चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

१२३. प्रज्ञापनासूत्र—पण्णवणासुत्तं : सम्पादक—मुनि श्री पुण्यविजय आदि; प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई; सन् १९६९।

१२४. प्रमाण-नय तत्त्वालोक : वादिदेव सूरि; विवेचक और अनुवादक—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल न्यायतीर्थ; प्रकाशक—आत्म जागृति कार्यालय, श्री जैन गुरुकुल शिक्षण संघ, ब्यावर; प्रथमावृत्ति; सन् १९४२।

१२५. प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश : सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक—मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, अस्सी, वाराणसी-५; प्रथम संस्करण; वी० नि० संवत् २४९७।

१२६. प्रमेयकमलमार्तण्ड : प्रभाचन्द्राचार्य; सम्पादक—पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री; प्रकाशक—निर्णय सागर प्रेस; द्वितीय संस्करण; सन् १९४१।

१२७. प्रमेयरत्नमाला (हिंन्दी व्याख्या सहित): लघु अनन्तवीर्य; व्याख्याकार तथा सम्पादक—पं० श्री हीरालाल जी जैन; प्रकाशक—चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी; प्रथम संस्करण; वि० सं० २०२०।

१२८. प्रवचनसार : कुन्दकुन्दाचार्य; सम्पादक—आ० ने० उपाध्ये; प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास; तृतीय आवृत्ति; सन् १९६४।

१२९. प्रशमरतिप्रकरण (हिन्दी टीका सहित) : उमास्वाति; प्रकाशक-रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई; प्रथम संस्करण; सन् १९५०।

१३०. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ : प्रकाशक—प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ समिति, टीकमगढ़; अक्तूबर १९४६।

१३१. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भाग १-२ : भरतसिंह उपाध्याय; प्रकाशक—बंगाल हिन्दी मंडल, रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता; वि० सं० २०११।

१३२. बौद्ध दर्शन में आत्म परीक्षा (शोध प्रबन्ध) डा० महेश तिवारी; बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर (अप्रकाशित)।

१३३. बौद्ध धर्म दर्शन : आचार्य नरेन्द्र देव; प्रकाशक-बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, सम्मेलन भवन, पटना-३; प्रथम संस्करण; वि० सं० २०१३।

१३४. ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ : प्रकाशक—अ० भा० दि० जैन महिला परिषद्, श्री जैन बाला-विश्राम, धर्मकुंज, धनुपुरा, आरा; वी० नि० २४८०।

१३५. ब्रह्मसूत्र श्री शांकर भाष्य : प्रकाशक—चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी; प्रथम संस्करण; सन् १९६४।

१३६. वृहती-भाग १, २ : प्रभाकर मिश्र; प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय; सन् १९३४।

१३७. वृहदारण्यकोपनिषद्; गीताप्रेस, गोरखपुर।

१३८. भगवती आराधना : आचार्य शिवकोटि; सम्पादक–सखाराम दोशी, प्रकाशक—जीवराज जैन ग्रंथमाला, शोलापुर; प्रथम संस्करण; सन् १९३५।

१३९. भारतीय तत्त्व विद्या : पं० सुखलाल जी संघवी, प्रकाशक—रतिलाल दीपचन्द देसाई, मन्त्री ज्ञानोदय ट्रस्ट, अनेकान्त विहार, अहमदावाद; सन् १९६०।

१४०. भारतीय दर्शन : उमेश मिश्र; प्रकाशक—हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ; द्वितीय संस्करण; सन् १९६४।

१४१. भारतीय दर्शन : वाचस्पति गैरोला; प्रकाशक–लोकभारती प्रकाशन; द्वितीय संस्करण; सन् १९६६।

१४२. भारतीय दर्शन : डा० नन्दकिशोर देवराज; प्रकाशक–हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहावाद; सन् १९४१।

१४३. भारतीय दर्शन–भाग १-२ : डा० राधाकृष्णन्; अनुवादक—स्व० नन्दकिशोर गोभिल विद्यालंकार; प्रकाशक–राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; तृतीय संस्करण; सन् १९७३।

१४४. भारतीय दर्शन (ऐतिहासिक और समीक्षात्मक विवेचन) : सम्पादक–डा० नन्दकिशोर देवराज; प्रकाशक–निदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ एकेडमी, लखनऊ; प्रथम संस्करण; सन् १९७५।

१४५. भारतीय दर्शन की रूपरेखा : प्रो० हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा; प्रकाशक–श्री सुन्दरलाल मोतीलाल बनारसीदास, अशोक राजपथ, पटना-४; तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण; सन् १९७४।

१४६. भारतीय दर्शन की रूपरेखा : एम० हिरियन्ना; अनुवादक—डा० गोवर्धन भट्ट, श्रीमती मंजु गुप्त, श्री सुखवीर चौधरी; प्रकाशक–राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, ८ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली; द्वितीयावृत्ति; सन् १९७३।

१४७. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : डा० हीरालाल जैन; प्रकाशक—म० प्र० शासन साहित्य परिषद्, भोपाल; सन् १९६२।

१४८. भावपाहुड़ : कुन्दकुन्दाचार्य; प्रकाशक-माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला, बम्बई; प्रथम संस्करण; वि० सं० १९७०।

१४९. मनुस्मृति : कुल्लूक भट्ट; सम्पादक—गोपाल शास्त्री नेने; प्रकाशक—चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी; द्वितीय संस्करण; सन् १९७०।

१५०. मरुधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमल जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ : म० के० अ० ग्रन्थ समिति, जोधपुर; वी० नि० सं० २४९५।

१५१. मलिन्दपन्हो : मोतीलाल बनारसीदास।

१५२. महापुराण : सम्पादक-पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य; प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथमावृत्ति, सन् १९५१।

१५३. महापुराण (हिन्दी अनुवाद सहित) : जिनसेन; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथम संस्करण; सन् १९५१।

१५४. महाबन्ध (हिन्दी अनुवाद सहित) : प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; सन् १९४७-१९५८।

१५५. महावग्ग : सम्पादक-भिक्खू जगदीश कश्यपो; विहार राजकीयेन पालिपकासन मण्डलेनपकासिता; सन् १९५६।

१५६. माण्डूक्योपनिषद्; गीता प्रेस, गोरखपुर।

१५७. मीमांसा दर्शन : मण्डन मिश्र; प्रकाशक—रमेश बुक डिपो जयपुर; सन् १९५५।

१५८. मीमांसा दर्शन (शावर भाष्य) : शावर स्वामी, ह० कृ० चौक, काशी।

१५९. मुण्डकोपनिषद्; गीता प्रेस, गोरखपुर।

१६०. मूलाचार (हिन्दी अनुवाद सहित) : वट्टकेर; अनुवादक—मनोहरलाल, प्रकाशक—अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई; प्रथम संस्करण; सन् १९१९।

१६१. मोक्षमार्गप्रकाश : पं० टोडरमल; सम्पादक—पं० लालबहादुर शास्त्री; प्रकाशक—मन्त्री साहित्य विभाग, भा० दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा; सन् १९४८।

१६२. याज्ञवल्क्य स्मृति : प्रकाशक-निर्णय सागर प्रेस, वम्बई; सन् १६३६ ।

१६३. युक्त्यनुशासन : स्वामी समन्तभद्र; प्रकाशक—सेवा मन्दिर, सरसावा, प्रथम संस्करण; सन् १६५१ ।

१६४. योग दर्शन : महर्षि पतंजलि; संपादक—श्रीराम शर्मा आचार्य; प्रकाशक—संस्कृत संस्थान, वरेली; तीसरा संस्करण; सन् १६६६ ।

१६५. योगसार (हिन्दी अनुवाद सहित) : अमितगति; प्रकाशक-भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता; प्रथम संस्करण; वी० नि० सं० २४४४ ।

१६६. योगसार (परमात्मप्रकाश के अन्तर्गत संस्कृत छाया और हिन्दी सार) : योगीन्दु देव; प्रकाशक-परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्री राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला; द्वितीय संस्करण; वि० सं० २०१७ ।

१६७. रत्नकरण्ड श्रावकाचार (प्रभाचन्द्राचार्यरचित संस्कृत टीका तथा हिन्दी रूपान्तर सहित) : आचार्य समन्तभद्र; प्रकाशक-वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट; प्रथम संस्करण; सन् १६७२ ।

१६८. रत्नाकरावतारिका : वादिदेव सूरि; प्रकाशक-यशोविजय जैन ग्रंथमाला, वाराणसी; वीर सं० २४३७ ।

१६९. रायपसेणइयं : सम्पादक-पं० वेचरदास जी दोशी; प्रकाशक-गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदावाद; सन् १९३६ ।

१७०. रियलिटी : एस० ए० जैन; प्रकाशक-वीर शासन संघ, कलकत्ता; सन् १९६० ।

१७१. लब्धिसार : कुन्दकुन्दाचार्य; प्रकाशक-जैन सिद्धान्त प्र० सं०, कलकत्ता; प्रथम संस्करण ।

१७२. वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ : प्रकाशक-संयुक्त मन्त्री, श्री वर्णी हीरक जयन्ती म० स०, सागर; वी० नि० २४७६ ।

१७३. वसुनन्दिश्रावकाचार : आचार्य वसुनन्दि; सम्पादक-हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथम संस्करण ।

१७४. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि : आचार्य वसुबन्धु; सम्पादक एवं अनु-

वादक—डा० महेश तिवारी, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी; प्रथम संस्करण; सन् १९६७।

१७५. विशुद्धि मार्ग : धर्मरक्षित; प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी।

१७६. विशेषावश्यक भाष्य : जिनभद्रगणि श्रमण; सम्पादक—राजेन्द्रविजय जी महाराज; प्रकाशक—दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद; सन् १९६२।

१७७. विश्वतत्त्वप्रकाश : सम्पादक—विद्याधर जोहरापुरकर; प्रकाशक—जैन संस्कृत संरक्षक संघ, शोलापुर; प्रथम संस्करण; सन् १९६४।

१७८. विशुद्ध मग्ग : बुद्धघोष; सम्पादक—भदन्त रेवतधर्म; प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, काशी।

१७९. वेदान्तसार : खिलाडी लाल, चतुर्थ संस्करण।

१८०. वैशेषिक दर्शन (प्रशस्तपादभाष्य) : महर्षि प्रशस्तपाद देव; चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी; प्रथम संस्करण; सन् १९६६।

१८१. शास्त्रदीपिका : पार्थसारथि मिश्र; प्रकाशक—निर्णय सागर, बम्बई; प्रथम संस्करण; सन् १९१५।

१८२. शास्त्रवार्ता समुच्चय : हरिभद्र सूरि; प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद; प्रथमावृत्ति, सन् १९६९।

१८३. षट्खण्डागम (धवला टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित) : भूतबलि पुष्पदन्त; प्रकाशक—जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय अमरावती; प्रथम आवृत्ति; सन् १९३९-१९५९।

१८४. षड्दर्शन रहस्य : पंडित रंगनाथ पाठक; प्रकाशक—विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-३; प्रथम आवृत्ति; सन् २०१५।

१८५. षड्दर्शन समुच्चय (गुणरत्नसूरिकृत तर्क रहस्य दीपिका, सोमदेवसूरिकृत लघुवृत्ति तथा अवचूर्णि सहित) : आचार्य हरिभद्र सूरि; सम्पादक और अनुवादक-डा० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य; प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; प्रथम आवृत्ति, सन् १९७०।

१८६. संयुक्त निकाय : प्रकाशक—महाबोधि सभा, सारनाथ; प्रथम आवृत्ति, सन् १९५४।

१८७. सत्यशासन परीक्षा : आचार्य विद्यानन्द; सम्पादक-गोकुलचन्द्र जैन; प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ; प्रथम आवृत्ति; सन् १९६४।

१८८. सन्मति तर्क प्रकरणम् टीका : अभयदेव सूरि; सम्पादक—पं० सुखलाल संघवी एवं पं० वेचरदास दोशी; प्रकाशक—विट्ठलदास मगनलाल कोठारी गुजरात विद्यापीठ कार्यालय, अहमदाबाद; प्रथमावृत्ति; वि० सं० १९८०।

१८९. समयसार (आत्मख्याति-तात्पर्यवृत्ति-आत्मख्यातिभाषावचनिका टीका सहित) : कुन्दकुन्दाचार्य; सम्पादक-पं० पन्नालाल जैन; प्रकाशक—रावजी भाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मंडल (श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला), वोरिया (गुजरात); द्वितीयावृत्ति; सन् १९७४।

१९०. समयसार (अंग्रेजी अनुवाद और प्रस्तावना सहित) : प्रो० ए० चक्रवर्ती; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथम आवृत्ति; सन् १९५०।

१९१. समाधिशतक : पूज्यपादाचार्य; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; प्रथम संस्करण; वि० २०२१।

१९२. सर्वदर्शनसंग्रह (हिन्दी टीका सहित) : माधवाचार्य; प्रकाशक-चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

१९३. सर्वार्थसिद्धि : पूज्य पादाचार्य; संपादक एवं अनुवादक—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथमावृत्ति; सन् १९५५।

१९४. सांख्यकारिका (गौडपाद भाष्य) : ईश्वर कृष्ण; हृ० कृ० चौ० काशी; वि० संवत् १९७९।

१९५. सांख्यतत्त्वकौमुदी : वाचस्पति मिश्र; प्रकाशक—प्रेम प्रकाशन, अहमदाबाद; चतुर्थ संस्करण; सन् १९६९।

१९६. सांख्यसूत्रम् : कपिल मुनि; संपादक—श्रीरामशंकर भट्टाचार्य; प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी; वि० सं० २०२२।

१९७. सिद्धान्त लक्षण तत्त्वालोक : धर्मदत्त (बच्चा) सूरि; प्रकाशक-विश्वविद्यालय प्रकाशन, काशी; सन् १९२५ ।
१९८. सिद्धान्तसार संग्रह : प्रकाशक—जीवराज जैन ग्रन्थमाला; प्रथम संस्करण; सन् १९५७ ।
१९९. सिद्धिविनिश्चय टीका : प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; प्रथम संस्करण; सन् १९५१ ।
२००. सुभाषित रत्नसंदोह : अमितगत्याचार्य; प्रकाशक—भा० जै० सि० प्र० सं०, कलकत्ता; सन् १९१७ ।
२०१. सूत्रकृतांगसूत्र (शीलांककृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित) : प्रकाशक-जवाहिरलाल महाराज, राजकोट; प्रथम संस्करण; वि० सं० १९९३ ।
२०२. सूयगडो : सम्पादक-पी० एल० वैद्य; प्रकाशन-श्रेष्ठी मोतीलाल, मना; १९२८ ।
२०३. स्टडीज इन जैन फिलासफी : एन० टाटिया; प्रकाशक-जैन कलचर रिसर्च सोसाइटी, बनारस; सन् १९५१ ।
२०४. स्थानांग सूत्रम् : प्रकाशक-आगमोदय समिति, सूरत ।
२०५. स्याद्वादमंजरी : मल्लिषेण सूरि; हिन्दी अनुवादक तथा संपादक—डा० जगदीशचन्द्र जैन; प्रकाशक—रावजी भाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला); तृतीय संस्करण; सन् १९७० ।
२०६. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी : एन० दास गुप्ता; प्रकाशक—कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस; १९५५ ।

पत्र-पत्रिकाएँ

अनेकान्त (त्रैमासिक) : प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ ।

आत्मधर्म (मासिक) : प्रकाशक—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ।

जैन विश्व भारती अनुसन्धान पत्रिका, लाडनूं (राजस्थान)

जैन सन्देश : प्रकाशक—भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा ।

जैन सिद्धान्त भास्कर : प्रकाशक—श्रीदेवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, आरा (विहार) ।

तीर्थंकर : प्रकाशक—हीरा भैया प्रकाशन, ६५ पत्रकार कालोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर (म० प्र०) ।

दार्शनिक त्रैमासिक : प्रकाशक—अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जयपुर ।

प्रज्ञा : प्रकाशक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

वैशाली इन्स्टीट्यूट—रिसर्च बुलेटिन नं० २,१९७४ ।

श्रमण (मासिक) : प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५ ।

सन्मति सन्देश (मासिक) : प्रकाशक—५३५, गांधीनगर, दिल्ली ।

शुद्धि-पत्रक

		अशुद्ध	शुद्ध
१	१६	हैं जो,	हैं, जो
४	१६	कामभाजें	कामभाजं
६	२०	मेवेमं	आत्मानमेवेमं
७	२२	brahamans	Brahmans
१०	२४	है।[7]	है।"[7]
१२	८	वेचन	वेधन
१३	११	व्देष	द्वेष
१५	८	होती है अपने	होती है। अपने
१५	२०	परिशेषादात्मकर्यत्वात्	परिशेषादात्मकार्यत्वात्
१६	१५	है।	है—
१७	२६	नात्मास्त्रि	नात्मास्ति
१७	२६	कर्मश्लेभिसंस्कृतम्	क्लेशकर्माभिसंस्कृतम्
२०	२४	मिद्यते	भिद्यते
२०	२६	पाणा पुण	ते पाणा
२४	२१	समस्त	सम्मत
२५	७	ओर	और
२६	८	ने जैन	जैन
२७	२२	बतलाई गयी	बतलाया गया
२८	११	आत्मा	आत्मा को
३१	७	मानने	मानते
३२	४	मोक्ता	भोक्ता
३२	११	वैशेशिक	वैशेषिक
३९	१२	की है।;	की है,
४१	२५	प्रतीतिनस्याद्	प्रतीतिर्नस्याद
४३	२९	इत्यादि	इन्द्रियादि
४३	२९	चलनायोगादहमशयवानहं	चलनायोगादहमशनायावानहं
४४	२२	वाद	बाद
४७	१२	अमान	अनुमान

४७	२३	नूं पलब्भति	नूपलब्भति
४७	२६	सम्प्रति	सम्मुति
५२	२१	पदार्यत्वात्	परार्यत्वात्
५६	२८	पवचयलं	पच्चवखं
५७	२६	पइदो	परदो
५७	२६	परोक्खत्ति	परोक्लेति
६०	२	जिनभद्रगण	जिनभद्रगणि
६०	२४	उदाहाणार्थ	उदाहरणार्थ
६१	५	योग्य	भोग्य
६१	६	योग्य	भोग्य
६१	१६	हैतु	हेतु
६२	२२	चैतन्यवानात्म	चैतन्यवानात्मा
६२	२४	अस्त्मेयेव	अस्त्येव
६२	२४	स्पष्टदहं	स्पष्टमहं
६३	८	है।	है।[2]
६३	१२	जा	जो
६३	१६	ह[1]	है[4]
६३	२९	सिद्धेश्य तत्कर्ता चापि	सिद्धेश्च तत्कर्ताऽऽत्माऽपि
६३	३१	सिद्धेस्स आत्मा परलोकमाक्	सिद्धेयत्सआत्मापरलोकभाक्
६४	९	सरि	सूरि
६७	१०	सिद	सिद्ध
६९	११	वृत्ति	वृत्ति
७०	३०	एका	एकः
७०	३०	विनिर्मिता	विनिर्मलः
७२	२३	नाऽहमप्यस्म्यचेतनम्	नाऽहमप्यस्त्यचेतनं
७२	२५	विदहं	चिदहं
७२	२६	परंगगनवदमूर्त्तः	पृथग्गगनवदमूर्त्तः
७२	२८	परस्माद	स्वपरस्य
७२	३१	णमव्वो	णायव्वो
७३	२४	स	य
७४	२८	स्वभावदूर्ध्वगः	स्वभावादूर्ध्वगः

७५	७	उत्पादव्ययधुव	उत्पादव्ययध्रुव
७५	२५	संचरति	प्राणाधिप: संचरति
७८	२४	ज्ञानस्याप्यात्म-	ज्ञानस्याप्यात्म-
६१	२६	वही	विश्वतत्त्वप्रकाश
६६	२५	तद्व्यवच्छेदार्थ	तद्व्यवच्छेदार्थं
६६	१	ता	तो
१०७	१	का	के
१०८	२३	परिवतन	परिवर्तन
१०६	२२	एव	एवं
११०	१६	है।	है—
११५	६	ससारी	संसारी
११७	१४	कमोदय	कर्मोदय
११८	२२	अतिरिक	अतिरिक्त
१२१	१	दु:खादि कारण	दु:खादि के कारण
१२१	६	भोक्तृ त्व	भोक्तृत्व
१२१	१०	सभो की	सभी को
१२३	१	ने एक	ने
१२४	१६	षट्खडागम	षट्खण्डागम
१२४	३१	षट्षण्डागम	षट्खण्डागम
१२५	७	क्षायिका	क्षायिक
१२६	१३	बध	बन्ध
१२७	७	द्रव्याथिक	द्रव्यार्थिक
१२८	६	मोक्षा	मोक्ष
१३४	१७	संवादो	संवादी
१४१	१६	होते हैं	होते हैं—
१४२	१५	श्वासोछ्वास	श्वासोच्छ्वास
१४५	१२	गार्गणा	मार्गणा
१४८	२८	क्रोधाविख्यात्मन:	क्रोधादिरप्यात्मन:
१५७	३२	सर्वाथसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि
१६८	२७	पचास्तिकाय	पञ्चास्तिकाय
१७५	२२	एकांकी	एकांगी

१७६	२०	दाशनिकों	दार्शनिकों
१८३	१	'अपूर्वं	'अपूर्वं'
१८६	२	ह्मोते	होते
१६२	४	फार्मण	कार्मण शरीर
१६७	१६	औवारिक	औदारिक,
२०५	२७	६!१३	६।१३
२०६	२२	कपोल	कापोत
२०८	६	आंगोपांग	अंगोपांग
२०८	३०	सर्वाथसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि
२१४	१७	पचेन्द्रिय	पंचेन्द्रिय
२२३	१२	पुजर्जन्म-	पुनर्जन्म-
२२७	१२	के	को
२२८	३२	गृहणाति	गृह्णाति
२२६	३१	परम्परं	परं परं
२३१	७	पुनजन्म	पुनर्जन्म
२६३	१७	वारण	धारण
२४२	३१	सर्वाथसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि
२४२	३१	प	पृ
२४५	१८	पट्खंगागम	षट्खण्डागम
२५७	२१	म	में
२५८	२	आर्त्तध्यान	आर्तध्यान
२६४	२	धम	धर्म
२६४	१६	सपूर्ण	सम्पूर्ण
२६४	१८	मे	में
२६४	३२	सर्वाथसिद्धि	सर्वार्थसिद्धि
२७२	१६	ह	
२७३	८	टाकाकारों	टीकाकारों
२७४	१६	प	
२७५	३०	षड्दर्शनसमुच्चय	षड्दर्शनसमुच्चय
२८४	४	दसरों	
२८६	२०	उसके	